काव्य-विमर्श

अथवा

काव्यालोक—प्रथम उद्योत

साहित्य-काव्य

रचयिता

विद्यावाचस्पति पंडित रामदहिन मिश्र

प्रकाशक

ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना-४

काव्य-विमर्श

अथवा

काव्यालोक—प्रथम उद्योत

साहित्य-काव्य

रचयिता

मेघदूत-विमर्श, काव्यालोक, काव्य-दर्पण, का

आदि हिन्दी के शताधिक ग्रन्थों के प्रणेता और सम्पादक

विद्यावाचस्पति पंडित रामदहिन मिश्र

प्रकाशक

ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना

प्रथम संस्करण १९५१

क्षमा-प्रार्थना

मातृ-पितृ-हीन बालक की जो दुर्दशा होती है उसी प्रकार मुझ जैसे नेत्र-विहीन, स्वास्थ्यहीन व्यक्ति की पुस्तक की दुर्दशा हो गयी। जिन व्यक्तियों पर इस पुस्तक के मुद्रण का दायित्व सौंपा गया, उन्होंने अपने दायित्व का निर्वाह नहीं किया। वे अपनी साहित्य-विचार-धाराओं में ही निमग्न रहे और प्रूफ जैसे कठिन और आवश्यक कार्य की ओर ध्यान नहीं दिया। प्रारम्भ में प्रेस में कापी जाने के पहले मैं सुनकर कुछ उचित और आवश्यक निर्देश करने ही लगा था कि डाक्टर ने बोलने, कुछ सुनने, ध्यान देने और हिलने-डुलने की मनाही कर दी और कहा कि ऐसा करने से हृद्गति रुद्ध हो जाने की आशंका है। मेरा आग्रह था कि मेरे जीवन-काल में ही यह पुस्तक छाप दी जाय। इसलिए पुस्तक प्रकाशित करने में शीघ्रता की गयी। मेरी हस्तलिपि पढ़ने की कठिनाई, प्रतिलिपि करनेवालों की भूल, अर्थ ग्रहण का असामंजस्य आदि भूलों के रह जाने के कारण हैं।

जब मैं पुस्तक पढ़वाकर सुनने लायक हुआ, तो मैंने इसका संशोधन करवाया। मैं कह नहीं सकता कि संशोधन-पत्र में कहाँ तक शुद्धि बनानेवाले को सफलता मिली है। सुनने से यह भी मालूम हुआ कि कई उद्धरण और पाद-टिप्पणियाँ भी छूट गयी हैं। जो उद्धरण हैं उनकी पाद-टिप्पणियों में उनका निर्देश नहीं है। पूछने से पता चला कि प्रतिलिपि करनेवाले ने उन्हें छोड़ दिया था और उसकी मूल कापी मिली नहीं जिससे उद्धरण निर्देश किया जा सके। इन सब त्रुटियों के लिए पाठकों से क्षमा-प्रार्थना के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई चारा नहीं है।

—रामदहिन मिश्र

वक्तव्य

दस-बारह वर्ष पहिले अपने पुस्तकीय व्यवसाय से कुछ अवसर मिलने लगा, तब पचास वर्ष पहिले पढ़ने के समय का वह संकल्प पूरा करने का, जिसमें हिन्दी में एक साहित्य-शास्त्र लिखने का विचार था, मन में उठ खड़ा हुआ। पुस्तक का प्रारंभ हुआ और लिखने का काम चलने लगा, यह 'काव्यालोक' का प्रथम भाग था। किन्तु वर्ष बीतते-बीतते बीमारी ने ऐसे घर दबोचा कि सब किसी को मेरे जीवन से निराशा हो गयी। मुझसे पुस्तकें छीन ली गयीं, लिखी कापियाँ बन्द कर दी गयीं और आराम करने को कहा गया। डाक्टरों ने एक्सरे कराया और कह दिया कि दोनों फेफड़े खराब हो गये और यहाँ से किसी स्वस्थकर स्थान पर जाना चाहिए। पर एक प्रसिद्ध डाक्टर ने कहा कि मुझे यक्ष्मा का भय नहीं है; किन्तु यहाँ से हट जाना चाहिए। मैंने राँची में जाकर डेरा डाला। वहाँ भी डाक्टरों की जाँच से सिद्ध हुआ कि अभी यक्ष्मा ने पकड़ा नहीं है। कुछ जी को सन्तोष हुआ।

जो दिन-रात लिखने-पढ़नेवाला था, उसे चुपचाप पड़े रहने से सन्तोष कैसे होता! धीरे-धीरे एक-एक करके इधर-उधर से पुस्तकें इकट्ठी होने लगीं। जो दो सेवक थे, वे डाक्टर के आने के समय पुस्तकें चौकी के नीचे डाल देते, कागज-पत्र बिछौने की तह में रख देते। इस प्रकार छिपे-छिपे पुस्तक-लेखन का काम चलने लगा और मन में यह हुआ कि प्रथम भाग कुछ सरल है और एक प्रकार से वह प्रस्तुत भी हो गया है; तब तक दूसरे भाग का काम चलाया जाय; क्योंकि वह भाग अर्थ विचार का है और कठिन है। अगर दूसरा भाग ही प्रस्तुत हो जाय तो हमारी हिन्दी की बड़ी सेवा होगी, क्योंकि इस विषय पर हिन्दी में एक भी पुस्तक नहीं थी।

मैंने जब देखा कि मेरे स्वास्थ्य में सुधार हो रहा है और मेरे शरीर में कुछ ताकत आ रही है, तो पटने से दो सहायकों को बुलाया। एक ने प्रथम भाग की कापी साफ करनी शुरू की और दूसरे ने दूसरे भाग में मदद शुरू की। प्रथम भाग को एक-दो बार पढ़ना फिर काट-कूटकर उसे साफ करना सहज काम था। इसलिये वे तो ठहर गये और दूसरे का काम कुछ कठिन था, इसलिये वह हट गये। दूसरे भाग का काम मैं अकेले ही करने लगा। प्रथम भाग में काम करनेवाले इसी में जुट गये। प्रथम भाग जहाँ का तहाँ रह गया और दूसरे भाग का ही काम जोर-शोर से होने लगा।

यों लगभग एक वर्ष का समय बीत गया और मैं स्वस्थ हो गया। पटना आया तो कार्यालय के संबंध में मुझसे पूछ-ताछ होने लगी। देखा, इस प्रकार मेरा संकल्प पूरा नहीं होगा; इसलिये सब पुस्तकें लिये-दिये काशी चला गया। केशवजी दूसरे भाग की कापी देखने लगे और मैंने वहीं अपना प्रेस छोड़कर किताब छपवानी शुरू कर दी। दूसरा भाग छप गया। जब मेरा ध्यान प्रथम भाग की ओर गया, तब मैं फिर बीमार पड़ गया। प्रथम भाग का छपना रुक गया और मेरे मन में यह हुआ कि 'काव्यालोक' के पाँचों भागों को तैयार करना और छपवाना मुझसे संभव नहीं। इसलिए पाँचों को संक्षिप्त कर मैंने 'काव्य-दर्पण' प्रस्तुत किया जो संस्कृत में 'साहित्य-दर्पण' और 'काव्य प्रकाश' के अनुरूप हिन्दी में एक 'काव्य शास्त्र' ग्रन्थ प्रस्तुत हुआ।

जब कुछ अवकाश मिला तो प्रथम भाग के दो फार्म छपे; पर दैव-दुर्विपाक फिर बीमार पड़ा और उसका काम ठप्प हो गया। फिर भी उसकी कापी साफ करायी और मरते-जीते प्रकाशित कर देने का संकल्प किया। रोग से शरीर जर्जर हो गया है, आँखें बेकार हो गयी हैं; फिर भी मानसिक संकल्प पूर्ववत् है। कार्यालय के आग्रह से मैंने सुनकर कापी सुधरवाना शुरू किया और वह आगे छपने लगी। मैं स्वयं न कापी पढ़ सकता हूँ और न प्रूफ ही। इसकी शुद्धता के जिम्मेवार कार्यालय के साहित्यिक व्यक्ति पंडित जयनारायण पाण्डेय हैं, जिन पर ही कापी साफ करने और प्रूफ पढ़ने का पूरा भार है। मुझे आशा है, पुस्तक शुद्ध रूप में ही छपेगी।

प्रथम भाग लिखने के समय मन में कई प्रकार के संकल्प-विकल्प होते रहे कि प्राचीन संस्कृत के आकर ग्रन्थों का सहारा लिया जाय कि नहीं; क्योंकि हिन्दी की दुनिया पुरानेपन से नाक-भौं चढ़ाती है। किन्तु किसी भी विद्वान् की पुस्तक ऐसी नहीं देखी गयी, जिस में पुरानेपन से पिण्ड छुड़ाने की चेष्टा की गयी हो। हिन्दी के विद्वान् लेखक उन्हीं ग्रंथों को पढ़-लिखकर इस योग्य हुए कि वे साहित्य-शास्त्र पर लिख सकें। भले ही उनमें पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा का प्रभाव पड़ा हो जिससे वे उसमें कुछ नमक-मिर्च लगावें। फिर भी ऐसे विद्वानों के जो ग्रन्थ देखे गये हैं जिनमें जितनी नयी बातें हैं, उनमें सीखने-सिखाने का कोई तत्त्व नहीं रहता। मैंने पुराने और नये विचारों को समान रूप से प्रश्रय दिया है और उनमें सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने जो कुछ लिखा है, वह समीक्षामूलक ही है। कोई ऐसी बात उसमें नहीं पैदा की गयी है जिसको सीखकर उसका अन्यत्र उपयोग किया जा सके। वे जिस जगह हैं, उसी

जगह पर बँधे हुए हैं। जो नवीन-नवीन की पुकार करते हैं और जिन्होंने पाश्चात्य विद्वानों के विचारों को घोंट-घोंटकर पी डाला है, उनके ग्रन्थों में भी कुछ नवीनता नहीं दिखाई पड़ती।

'काव्यालोक' प्रथम भाग का 'काव्य-विमर्श' नवीन नामकरण किया गया है इस नाम करण का कारण यह है कि पाठक काव्यालोक के पाँच भागों के नाम भूल गये होंगे। अब आगे के भाग भिन्न-भिन्न नाम से ही निकलेंगे। इस पुस्तक में छः खंड हैं। केवल काव्य का ही इसमें विचार है।

प्रथम प्रसार में साहित्य-काव्य के विचार के साथ तत्प्रतिपादित उनके व्यापक विषयों की लेखों में चर्चा की गयी है। इससे अधिक लेखों में और विषयों का प्रतिपादन हो सकता था, पर जितना है वही साहित्यिकों और शिक्षार्थियों के लिए पर्याप्त है।

द्वितीय प्रसार में काव्य के लक्षण, कारण और फल पर विचार किया गया है। इसमें पूर्व और पश्चिम के विचारों को प्रश्रय दिया गया है। जहाँ प्राचीनता है, वहाँ नवीनता भी है। जहाँ इन तीनो लक्षण-कारण-फल विषयो का प्रतिपादन है,वहाँ इनकी अपने दृष्टिकोण से समीक्षा भी की गयी है और काव्य में इनके स्थापन की परम्परागत सफल चेष्टा भी है। इनसे कोई अछूता नहीं रह सकता ; क्योंकि काव्य में इनका विमर्श आवश्यक और उपयोगी समझा गया है।

तीसरे प्रसार में कवि-चर्चा है। कवि के सम्बन्ध मे जितना लिखना चाहिए, उतना तो नही लिखा गया है; क्योंकि साहित्यिकों और कवियों ने कवि की प्रशंसा में अपने ऐसे उद्‌गार प्रकट किये हैं, जो इनमें नहीं है। फिर भी मैंने कवियो के सम्बन्ध मे जानने की वे बातें लिखी हैं जो अन्यत्र नहीं मिलतीं।

चौथे प्रसार में शास्त्रीय वादों का विवेचन है। प्राचीन आचार्यों के भी काव्य के सिद्धान्त के संबंध मे अपने-अपने विचार भिन्न-भिन्न रहे। यह कहा जा सकता है कि उनमे जितने खंडन-मंडन हैं, उसका शतांश भी अभी हिन्दी मे नहीं आया है। उनके सिद्धान्तानुसार प्राचीन शास्त्रीय वादो की इस प्रसार में चर्चा की गयी है। नवीनों ने जितने वादों की सृष्टि की है उनमे न ऐसी गंभीरता है और न स्थिरता। ये वाद हिन्दीवालों के चक्षु-उन्मीलन के लिए पर्याप्त हैं। वाद या सिद्धान्त का स्थापन सहज नहीं है, उसके लिये गंभीर शास्त्रार्थ की आवश्यकता है। इस दृष्टि से नवीन वादों में कुछ ही वाद ठहरेंगे जो अपनी परीक्षा मे खरे उतरें।

पाँचवें प्रसार में नवीन वादों का स्थूल परिचय है विवेचन नाममात्र का। एक-एक वाद के विवेचन में एक-एक पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है, जैसे कि छायावाद-प्रगतिवाद के ऊपर कई पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं; किन्तु मेरा उद्देश्य तो पाठकों से इन वादों का परिचय कराना मात्र है। पाठक इन वादों का गहरा अध्ययन करना चाहें तो इन वादों पर लिखे गये लेखों या प्रकाशित पुस्तकों को पढ़ें। इनमें कुछ वाद नाममात्र के ही हैं; क्योंकि इनका क्षेत्र बहुत ही संकुचित है और प्रयत्न करने पर भी नहीं बढ़ सकते। उन्हें एक गणनामात्र समझना चाहिए। वादों की संख्या अन्यान्य पुस्तकों से इसमें बहुत अधिक हो गयी है। और वाद भी इस पुस्तक में सम्मिलित किये जा सकते थे; किन्तु उन्हें छोड़ दिया गया। ये सभी वाद काव्य संसार के अध्ययन के परिणाम स्वरूप हैं। सम्भव है, काव्य-समुद्र का मंथन करके और भी वादों की सृष्टि हो। इस प्रसार के कुछ लेख इधर-उधर हो गये थे जिनके स्थान पर नये सिरे से लेख लिखकर जोड़ दिये गये हैं। इसलिए भाषा और वर्णन में भिन्नता आ गयी है। प्रगतिवाद पर दो लेख इसलिए हैं कि जब दूसरा प्रस्तुत हुआ तो भूला हुआ पहला लेख भी मिल गया।

छठे प्रसार में काव्यालोचन के सम्बन्ध में कुछ लेख दिये गये हैं, जिनकी ओर समीक्षकों का अधिकतर ध्यान जाता है। इस आलोचना में काव्यालोचन के सम्बन्ध में अन्यान्य भी बहुत-से विषय हैं, जिन पर लेख भी प्रस्तुत हैं; पर पुस्तक का कलेवर बढ़ते देखकर उन्हें छाँट दिया गया है। जैसे काव्य और भाषा, काव्य और कथानक, काव्य-वैचित्र्य और काव्य और छन्द काव्य में कल्पना और अलौकिक आनन्द इत्यादि। इन लेखों में अतिरिक्त अन्यान्य प्रसारों के भी कुछ लेख छाँट दिये गये हैं और इस प्रथम भाग से जो लेख 'काव्य-दर्पण' में लिये गये थे वे भी प्रायः इस पुस्तक में आ गये हैं।

इस प्रकार 'काव्य-विमर्श' केवल काव्य का ही विचार करके समाप्त हो जाता है। अब केवल रस, दृश्य और अलंकार इन तीन विषयों में तीन खण्ड बच जाते हैं। सभी पर कुछ-कुछ नोट, और लेख प्रस्तुत हैं; पर कह नहीं सकता कि मेरे जीवन में ये तीनों खण्ड पूरे हो जायेंगे! मैं इस चेष्टा में हूँ कि अलंकारवाला खण्ड पूरा हो जाय और मैं चाहूँ तो 'काव्य-दर्पण' से अलंकार

रही तो नये अलंकारों पर पुस्तक प्रस्तुत करके ही विश्राम लूँगा और यह काम दम तोड़ते-तोड़ते चलता रहेगा। ईश्वर करे हमारा यह संकल्प पूरा हो। इन दस बारह वर्षों के भीतर बहुत-सी पुस्तकें काव्य विषय पर निकली हैं; पर मैं उनके देखने से लाचार हो गया। यदि मैं देख सकता तो संभव था कि कुछ अपने विचारों में परिवर्त्तन कर पाता। अब मेरी जैसी पुस्तक है, पाठकों के सामने है।

'कविता क्या है' इस विषय पर कविता के उपादानों के सांगोपांग वर्णन-स्वरूप एक लम्बी भूमिका लिखने का विचार था; पर वह अस्वस्थता के कारण मन ही में रह गया।

दस-बारह वर्ष पहिले कौन-कौन पुस्तक मेरे पास थी, किस-किस पुस्तक से मैंने सहायता ली, कुछ भी याद नहीं। यह अवश्य है कि 'काव्य-दर्पण' और 'काव्यालोक' के समय जो पुस्तकें मेरे पास थीं और जिनसे उनमें सहायता ली गयी, वे पुस्तकें तो मेरे पास थीं ही और उनसे तो सहायता ली ही गयी; किन्तु और भी पुस्तकें उस समय थीं जिनका नामोल्लेख अन्यत्र नहीं है। मैं इन सब लेखकों और कवियों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। दूसरी बात यह कि उस समय के हमारे 'किशोर' के सहकारी सम्पादक कोमल भावनाओं के कान्त कवि श्री हंसकुमार तिवारी ने पुस्तक लिखने में मेरी सहायता की थी, उन्हें अनन्य मित्र होने के कारण मैं धन्यवाद भी नहीं दे सकता। मौन भाव से उनका आभार स्वीकार करता हूँ। ग्रन्थमाला कार्यालय के व्यवस्थापक श्री अयोध्या प्रसाद झा और प्रेस के सहायक साहित्यिकों का भी कम आभारी नहीं हूँ, जिन्होंने मुझे उत्साहित कर और सब प्रकार से सहायता देकर पुस्तक को मेरे जीते-जी प्रकाशित करा दिया। इसके लिये ईश्वर को शत शत धन्यवाद है।

—रामदहिन मिश्र

पाँचवें प्रसार में नवीन वादों का स्थूल परिचय है विवेचन नाममात्र का। एक-एक वाद के विवेचन में एक-एक पुस्तक प्रस्तुत हो सकती है, जैसे कि छायावाद-प्रगतिवाद के ऊपर कई पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं; किन्तु मेरा उद्देश्य तो पाठकों से इन वादों का परिचय कराना मात्र है। पाठक इन वादों का गहरा अध्ययन करना चाहें तो इन वादों पर लिखे गये लेखों या प्रकाशित पुस्तकों को पढ़ें। इनमें कुछ वाद नाममात्र के ही हैं; क्योंकि इनका क्षेत्र बहुत ही संकुचित है और प्रयत्न करने पर भी नहीं बढ़ सकते। उन्हें एक गणनामात्र समझना चाहिए। वादों की संख्या अन्यान्य पुस्तकों से इसमें बहुत अधिक हो गयी है। और वाद भी इस पुस्तक में सम्मिलित किये जा सकते थे; किन्तु उन्हें छोड़ दिया गया। ये सभी वाद काव्य संसार के अध्ययन के परिणाम स्वरूप हैं। सम्भव है, काव्य-समुद्र का मंथन करके और भी वादों की सृष्टि हो। इस प्रसार के कुछ लेख इधर-उधर हो गये थे जिनके स्थान पर नये सिरे से लेख लिखकर जोड़ दिये गये हैं। इसलिए भाषा और वर्णन में भिन्नता आ गयी है। प्रगतिवाद पर दो लेख इसलिए हैं कि जब दूसरा प्रस्तुत हुआ तो भूला हुआ पहला लेख भी मिल गया।

छठे प्रसार में काव्यालोचन के सम्बन्ध में कुछ लेख दिये गये हैं, जिनकी ओर समीक्षकों का अधिकतर ध्यान जाता है। इस आलोचना में काव्यालोचन के सम्बन्ध में अन्यान्य भी बहुत-से विषय हैं, जिन पर लेख भी प्रस्तुत है; पर पुस्तक का कलेवर बढ़ते देखकर उन्हें छाँट दिया गया है। जैसे काव्य और भाषा, काव्य और कथानक, काव्य-वैचित्र्य और काव्य और छन्द काव्य में कल्पना और अलौकिक आनन्द इत्यादि। इन लेखों में अतिरिक्त अन्यान्य प्रसारों के भी कुछ लेख छाँट दिये गये हैं और इस प्रथम भाग से जो लेख 'काव्य-दर्पण' में लिये गये थे वे भी प्रायः इस पुस्तक में आ गये हैं।

इस प्रकार 'काव्य-विमर्श' केवल काव्य का ही विचार करके समाप्त हो जाता है। अब केवल रस, दृश्य और अलंकार इन तीन विषयों में तीन खण्ड बच जाते हैं। सभी पर कुछ-कुछ नोट, और लेख प्रस्तुत हैं; पर कह नहीं सकता कि मेरे जीवन में ये तीनों खण्ड पूरे हो जायेंगे! मैं इस चेष्टा में हूँ कि अलंकारवाला खण्ड पूरा हो जाय और मैं चाहूँ तो 'काव्य-दर्पण' से अलंकार खण्ड निकाल कर उसे परिवर्द्धित करके एक नया खण्ड बन सकता है; पर मेरा विचार वैसा नहीं। मेरा विचार तो द्विवेदी के कथनानुसार नये अलंकारों की सृष्टि करना है। उसी कार्य में लगा हुआ था कि आँखों से लाचार हो गया। प्रथम खण्ड के बाद इस जर्जरावस्था में शक्ति और

सूचीपत्र

प्रथम प्रसार

साहित्य

द्वितीय प्रसार

काव्य

श्री:

का व्या लो क

प्रथम उद्योत

साहित्य-काव्य

प्रथम प्रसार

साहित्य

पहली किरण

साहित्य का उपक्रम

शिवा सहित शिव को सदा वंदूँ हो निर्द्वन्द्व ।
पाऊँ सुन्दर-सत्य-शिव-काव्यानन्द अमन्द ॥

वह नहीं ही रमा, क्योंकि अकेला कोई नहीं रमता।[1] उसने दुकेला होना चाहा। एक हूँ, बहुत हो जाऊँ ?[2] इस प्रकार की परमात्मा की इच्छा से सृष्टि का समारम्भ हुआ।

कवि की काया में जो प्रतिभा है, वह ब्रह्म की इस 'एक से अनेक हो जाने' की इच्छा की ही ज्योति है। मूलतः दोनों एकरूप ही हैं। कॉलरिज का भी कुछ ऐसा ही विचार है।[3]

---

१ स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। बृहदा० ११४।३

२ सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। तैत्तिरीय। छठा अनुवाक

3. The primary imagination I hold to be the living power and prime agent of all human perception and as a repetition in the finite mind of the eternal act of creation in the infinite 'I am'.—*Biographia Literaria, Ch. 12th.*

'आदि मानव ने संसार की अपूर्व झाँकी देखी। वह उसपर मुग्ध था। पर मूक था—अवाक् था। उसके लोल लोचन निरीह भाव से वस्तु-जगत् को अकचकाकर देख रहे थे। उसके हृदय में जिज्ञासा थी; किन्तु वाणी नहीं थी।' इस विचार से प्राचीन विद्वान् सहमत नहीं हैं।

व्यवहार-जगत् में आदान-प्रदान के लिये एक को दूसरे की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। परस्पर इंगितों—संकेतों से काम चलने लगा। किन्तु इससे मन के भाव स्पष्ट हो नहीं पाते थे। उनके प्रकाशन में कठिनाई थी। मन में विचार उठ-उठकर विलीन होने लगे। हृदय-मन्थन आरम्भ हुआ। उच्छ्वसित हृदय से उठी हुई अस्पष्ट ध्वनि अचानक कंठों से फूट निकली। क्रमशः उसमें स्पष्टता आयी। अभिप्राय प्रकट करनेवाले शब्दात्मक साधन का नाम हुआ बोली।

वर्द्धनशील विश्व ने इन्द्रियगोचर तथा अतीन्द्रिय प्राकृतिक, लौकिक, आध्यात्मिक वस्तुओं का क्रमशः नामकरण किया। शब्द-भाण्डार की वृद्धि हुई। अनन्तर मनोगत भावों के पूर्ण प्रकाशन के लिये भाषा का स्रोत फूट निकला। व्यापक और परिष्कृत हो जाने से बोली का नाम भाषा हुआ।

मानव-मस्तिष्क ने उन्नतिप्रिय होने के कारण भाषा के स्वरूप को और परिमार्जित किया। उसको सजाने का सिलसिला चला। केवल पदार्थों से—वस्तुओं के अभिधायक शब्दों से—अभीप्सित गूढ़ भावों के प्रकाशन का काम पूरा न हो सका। तब से भाषा—मन के भावों को व्यक्त करने का साधन—सामान्य स्तर से ऊपर उठने लगी और नानाविध सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थों के प्रकाशन में विलक्षण चमत्कार पनपने लगे। अब भाषा ने साहित्य का रूप धारण किया।

अब तक मनुष्य में जो अहंभाव था, अपने को शेष संसार से पृथक् होने के भाव का जो बोध था, उससे वह तिलमिला उठा और अपने को संसार-सागर का एक विन्दु ही समझने लगा। उसने दूसरे में अपने को देखना चाहा। इसी कामना से वह आत्माभिव्यक्ति के लिये लालायित हुआ। यहीं से साहित्य ने संसार को अपनी झाँकी दिखलानी आरम्भ की।

कालक्रम से संचित वाङ्मय के यथासमय दो रूप दिखाई पड़े—

ज्ञानात्मक और भावात्मक। इन्हें क्रमशः शास्त्र और काव्य[1] की संज्ञा दी गयी। अङ्गरेजी के विवेचक विद्वान् इन्हें ज्ञान का साहित्य और भाव का साहित्य[2] कहते हैं। काव्यालोक भाव के साहित्य से सम्बन्ध रखता है; उसके स्वरूप की विवेचना करता है।

दूसरी किरण

साहित्य (व्युत्पत्ति और लक्षण)

धीयते अर्थात् जो धारण किया जाय या अपनाया जाय, वह है 'हित'[3]। हित के साथ जो रहे, वह है सहित और उसका भाव है साहित्य[4]। अथवा सहित अर्थात् संयुक्त वा सहयोग से अन्वित का जो भाव है, वह साहित्य है। सहित का तृप्त[5] भी अर्थ है। इसका भाव भी साहित्य है।

हित के साथ वर्तमान इस अर्थ में सभी प्रकार के ग्रन्थ इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। सहयोगान्वित के अर्थ में शब्द और अर्थ के संबंध आदि का ग्रहण हो जाता है। साहित्य श्रोताओं का तृप्ति-कारक होता है; अतः अन्त की व्युत्पत्ति भी सार्थक है।

एक क्रिया में अन्वित होना या बुद्धिविशेष का विषय होना[6] साहित्य है। यह लक्षण वैयाकरणों का है। भोजराज का कथन है कि शब्द और अर्थ के[7] जो समर्थ बारह धर्म हैं,[8] उन्हें ही साहित्य कहते हैं। वे बारह धर्म हैं—१ अभिधा, २ विवक्षा (शब्दार्थ-प्रकाशन

---

१ शास्त्रं काव्यञ्चेति वाङ्मयं द्विधा। काव्यमीमांसा।

2. Literature of Knowledge and Literature of power.

३ 'धा' का 'हि' हो जाता है। दधातेर्हिः। पाणिनि

४ गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। पाणिनि

५ दिवादिगणीय 'षह्' तृप्तौ धातु से क्त प्रत्यय करने पर।

६ तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं बुद्धिविशेषविषयत्वं वा। शब्दशक्तिप्रकाशिका

७ इस दशा में 'सहितयोर्भावः साहित्यम्' ऐसा विग्रह होगा।

८ तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषहानगुणोपादानालङ्कारयोगरूपाः शब्दार्थयोर्द्वादशधर्माः समर्थाः साहित्यमुच्यते। —शृङ्गार-प्रकाश।

की ज्ञानराशि का नाम साहित्य है और उसमें जो एक ही तत्त्व निहित है वह है मानव-समाज को सब प्रकार से समुन्नत और समृद्ध करने का सत् संकल्प।

एक सहृदय समालोचक का विचार है कि "सम-वासना के योग से ही एक हृदय दूसरे के निकट सहृदय हो जाता है और दो सहृदयों का जो हृदयसंवाद है, वही साहित्य का यथार्थ साहित्य है।"

न्यूमैन साहब का कहना है कि "भाषा को अपने व्यवहार में लाना ही साहित्य है और बहुतों के लिये साहित्य का अर्थ है जीवन के संपूर्ण सत्य को भाषा में व्यक्त करना।"

किन्तु सत्य के संपूर्ण रूप से व्यक्त होने में संदेह है। क्योंकि सत्य की कोई इयत्ता है न इदंता। साहित्य का सत्य लौकिक सत्य से भिन्न है। कोई साहित्यिक इस बात का दावा नहीं कर सकता कि उसने सम्पूर्ण रूप से सत्य को अभिव्यक्त कर दिया है। इसीसे जानकी-वल्लभ शास्त्री का कहना है कि—

"सत्य मौन है, वाणी मुखर। सत्य नित्य निर्मल है, वाणी संस्कार-परिष्कार की अपेक्षा करनेवाली। अधिक से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिये प्रयत्नशील महामनस्वियों की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी का नाम साहित्य है।"

इसपर नन्ददुलारे वाजपेयी कहते हैं कि "साहित्य की इस व्याख्या में हमें वर्तमान युग की आध्यात्मिक चेतना की स्पष्ट झलक मिलती है। यही चेतना रचनात्मक साहित्य में भी व्याप्त हुई और आलोचनात्मक साहित्य में भी। साहित्य की इस आध्यात्मिक व्याख्या में हम नवयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिंब पाते हैं। संक्षेप में यह व्याख्या साधनामय, आदर्शात्मक, सांस्कृतिक और प्रसरणशील साहित्य की माप-रेखा है।[1]" शुक्लजी कहते हैं—

"जगत् ब्रह्म की (या सत्य की) अभिव्यक्ति है और साहित्य जगत के नाना भावों की अभिव्यक्ति"।

साहित्य की स्वरूपाधायक कुछ सूक्तियाँ भी हैं जो उसके स्वरूप पर अपने प्रकाश की किरणें फेकती हैं। वे ये हैं:—

१ मनुष्य जाति की संचित ज्ञानराशि का कोष साहित्य है। आचार्य म० प्र० द्विवेदी

२ समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। आचार्य श्या० सु० दास

---

१ साहित्य [illegible]।

३ स्थान, काल आदि द्वारा व्यवहित हृदय के सहित हृदय का मिलना जिससे घटित होता है वह साहित्य है। **आचार्य क्षि० मो० सेन**

४ साहित्य शब्दों की अँगूठी में विचार का नगीना है। **कार्लाइल**

५ साहित्य भव्य विचारों का लेखा है। **एमर्सन**

६ प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

इस प्रकार साहित्य के स्वरूप-निर्देशक अनेक व्याख्यात्मक, भावात्मक, विचारात्मक लक्षण हैं जिनसे उसकी बाँकी झाँकी मिलती है।

तीसरी किरण

साहित्य का व्यापक अर्थ

संस्कृत में साहित्य शब्द का व्यवहार अपेक्षाकृत आधुनिक है। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। पहले साहित्य शब्द का ऐसा अर्थ भी नहीं था जैसा कि आज समझा जाता है। किन्हीं दो वस्तुओं के एक साथ होने का तात्पर्य इससे ज्ञात होता था। **किसी के साथ संग वा मेल करने को भी साहित्य कहा जाता**

दशा अच्छी रही तब वहाँ साहित्य शब्द से काव्य, इतिहास, भूगोल, गणित, दर्शन आदि नाना विषयों के ग्रन्थों का निर्माण ही समझा जाता है। द्विवेदीजी के शब्दों में "किसी जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके ऊँच-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य में ही मिल सकता है।[१]"

एक का दूसरे के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना और दो तत्वों का साहचर्य पैदा करके ऐक्य स्थापित करना भी साहित्य शब्द का अर्थ है। इसीसे साहित्य हमारा बाह्य जगत के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और हम जगत् में अपने को और जगत् को अपने में पाते हैं। रवीन्द्र के शब्दों में "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं है, किन्तु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का, अत्यन्त अन्तरङ्ग मिलन है जो साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य से संभव नहीं।[२]"

साहित्य शब्द का एक नूतन अर्थ मुझे छात्रावस्था में ज्ञात हुआ था जब कि लकड़ी चीरने में मुझे असमर्थ देखकर गुरुजी ने कहा था कि इसमें तुम्हारा साहित्य नहीं है। अर्थात् किसी विषय या कार्य में प्रवीणता या निपुणता का न होना। आज कवि का प्रयोग भी इस अर्थ में प्राप्त है—

> नयी-नयी नाटक सजाये सूत्रधार करते हैं नित्य।
> और ऐन्द्रजालिक भी अपना भरते हैं अद्भुत साहित्य॥ गुप्तजी

जैनेन्द्रजी ने एक स्थान पर 'साहित्य' शब्द का यों प्रयोग किया है—

प्रत्युत देखा गया है कि ऐसे लोग भी हैं जो आज दुत्कारे जाते हैं पर अपनी अनोखी लगन और अपने निराले विचार-साहित्य के कारण कल वे ही आदर्श मान लिये जाते हैं[३]।

---

१ कवि और काव्य (लेख-संग्रह)

२ बंगला जातीय साहित्य

३ जैनेन्द्र के विचार

यहाँ साहित्य का यदि उपयुक्त ही अर्थ है तो उत्तम। नहीं तो यदि विचारवैभव, विचारगाम्भीर्य, विचारवैचित्र्य वा ऐसा ही कुछ अर्थ लिया गया तो यह साहित्य शब्द के अर्थ का अतीव नूतन अवतार समझा जायगा।

अब तो 'साहित्य' शब्द विज्ञाप्य वस्तु के विज्ञापन की वाङ्मय सामग्री के अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगा है।

चौथी किरण

साहित्य की योग्यता

साहित्य शब्द का अर्थबोधक अंग्रेजी शब्द लिटरेचर (Literature) है। साधारण से साधारण छोटी-बड़ी पुस्तकों को भी लिटरेचर के समान चलती भाषा में साहित्य कहा जाने लगा है। पर साहित्य शब्द के प्रयोग से ही कोई पुस्तक साहित्य कहलाने का अधिकार नहीं पा सकती। जिस पुस्तक में साहित्य की योग्यता हो वही पुस्तक साहित्य की कोटि में आ सकती है।

समाचारपत्र का जीवन एक दिन का वा एक सप्ताह का होता है और मासिक पत्र का एक मास का। इसीसे इन्हें सामयिक साहित्य कहते हैं। ऐसी बहुत-सी पुस्तकें छपती हैं जो समसामयिक होती हैं। उनका अस्तित्व शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। क्योंकि ऐसी पुस्तकों में स्थायित्व का अभाव रहता है। साहित्य (काव्य-साहित्य) कहलाने के लिये रचना में स्थायित्व होना आवश्यक है। यह स्थायित्व रचना में हृदयस्पर्शिता के समावेश से आता है और यह तभी संभव है जब कि उसमें साहित्यिक तत्त्व विद्यमान हों। ये तत्त्व हैं—कल्पनातत्त्व, भावना-तत्त्व और बुद्धितत्त्व। प्रातिभ ज्ञान भी एक विलक्षण तत्त्व है जिसका कल्पना से पृथक् अस्तित्व है।

१ कल्पना एक ऐसी वस्तु है जो अमूर्त को मूर्त, असत् को सत्, अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कर डालने की शक्ति रखती है। जिस कलाकार में कल्पना-शक्ति नहीं, वह अपनी कृति से मनोवेगों को तरंगित नहीं कर सकता। पौराणिक शकुन्तला के इतिवृत्त ने कालिदास के शकुन्तला नाटक में कल्पना के बल साहित्य का वह रूप धारण कर लिया है जो चिरन्तन

है, अजर-अमर है। कालिदास के नाटक में मनोरागों को तरंगित करने की जो शक्ति है वह पौराणिक इतिवृत्त में नहीं।

प्रातिभ ज्ञान सामान्य लौकिक ज्ञान से विलक्षण, प्रतिभा से उपस्थापित, अतएव अतर्कितोपनत भावों का ग्राहक होता है और प्रायः निराधार ही स्फुर्त हो उठता है। साधारण भाषा में इसे ही सूझ कहते हैं। कल्पना से यह भिन्न है। कल्पना प्रसक्त उपादानों को लेकर ही चलती है पर प्रतिभा आकाशकुसुम की भी मनोहर सृष्टि कर सकती है। अंग्रेजी में कल्पना के लिये 'इमेजिनेशन' (Imagination) शब्द आया है। प्रतिभा और कल्पना से हीन कलाकार साहित्य-सृष्टि में सर्वथा असमर्थ है।

२ भावना दूसरा तत्त्व है। यह भावानुभूति है। भाव (Emotion) मनोवेग या मनोराग इसके विषय हैं। भाव विविध हैं। यदि रचना से ये भाव विशद तथा प्राभाविक रूप में हों तो मन पर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। भावों से साहित्य की प्राण-प्रतिष्ठा होती है। संस्कृत साहित्य में भावों की जो व्याख्या की गयी है, वह मनोविज्ञान-सम्मत है।

३ तीसरा है बुद्धितत्त्व। रचना को साहित्यिक बनाने के लिये भाव की प्रधानता होने पर भी बुद्धि-तत्त्व को विदा नहीं दिया जा सकता। लेखक या कवि अपनी रचना में जो कुछ कहता है, उसे बुद्धिसंगत होना ही चाहिये। चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ही क्यों न हो। जिसके पद व्याहत अर्थ में प्रयुक्त हों, ऐसी रचना प्रलाप की कोटि में आती है। साहित्य सत्य से विमुख नहीं रह सकता। ज्ञान-प्रधान रचना में तो इसकी प्रधानता रहती ही है।

साहित्य में कविता की प्रधानता इसलिये है कि यह विशेष कलात्मक होती है। कला प्रिय अभ्यास, सौन्दर्यबोध, मात्राबोध आदि की अपेक्षा रखती है। इसलिये बुद्धितत्त्व इसमें भी सहायक है।

कविता या काव्य पद्यात्मक, गद्यात्मक या उभयात्मक होता है। यद्यपि काव्य या कविता में व्युत्पत्तिगत या रूढ़िगत भेद नहीं है तथापि साधारणतः पद्य (Poetry) के लिये अब कविता शब्द का प्रयोग होने लगा है। यहाँ अधिकतर कविता लिखी जाने का कारण यह है कि प्रतिभाशाली कवि उसमें अपनी कवित्व-शक्ति की यथेष्ट अभिव्यक्ति कर सकते थे। उनकी प्रसन्न-मधुर शैली से पाठक और श्रोता को आनन्द प्राप्त होता था और अब भी होता है। छन्दोबद्ध होने से उसमें माधुर्य और संगीत

का समावेश रहता था। जब-जब हम उसे पढ़ते हैं तब-तब ऐसा ज्ञात होता है जैसे अमृतकुण्ड में गोते लगा रहे हैं और सुनते हैं तो मालूम होता है जैसे कानों में मधुधारा ढल रही है। सुन-सुनकर श्रोताओं के शरीर पुलकित और मन मुदित हो उठते हैं। उस समय कल्पना, विचार, भावना आदि में अन्तर्वृत्तियाँ एकबारगी रम जाती हैं। किन्तु आजकल की अधिकांश कविताएँ कवि कहलाने की लालसा से लिखी जाती हैं। इनमें कवि के गुण वर्तमान नहीं रहते।

जिस साहित्य में मानव-मस्तिष्क को समृद्ध करने की शक्ति नहीं या जिस साहित्य में वह अचूक मन्त्र नहीं, जो फूँक मारते ही पस्त पड़ी हुई जाति को ठोकर खाये हुए सर्प के समान क्षुब्ध कर देता है या जिस साहित्य में उदात्त, विशद तथा भव्य भावों का अभाव हो या जिस साहित्य में चारित्रिक सत्य का अन्वेषण-विश्लेषण नहीं या जिस साहित्य में ऐसे भाव नहीं, जिनसे वह एक देश, एक जाति और एक

 का होने पर भी सार्वदेशिक, सार्वजातिक और सार्वकालिक हो

कभी-कभी रसादि समस्त परिकर्म का अलंकरण-क्रियाकारी होने से इसे अलंकारशास्त्र[1] भी कहते हैं। भामह ने अपने काव्य-विवेचन-विषयक ग्रन्थ को 'काव्यालङ्कार' नाम[2] रक्खा और उद्भट, वामन तथा रुद्रट ने भी उसी नाम का अनुकरण कर डाला।[3] ऐसे ग्रन्थों में काव्य के सौन्दर्य-साधक साधनों, विधायक विधानों और उपकारक उपकरणों का ही वर्णन पाया जाता है। संभव है, उस समय ऐसे नाम रखने का कारण अलंकार की ही प्रधानता हो।

यद्यपि पूर्वाचार्यों के लक्षणों में अलंकार का उल्लेख पाया जाता है तथापि **वामन** ने ही शब्दार्थों का अलङ्कारयुक्त होना आवश्यक बताया। उनका कहना है कि सौन्दर्य ही अलङ्कार है और अलङ्कार होने के कारण ही काव्य का काव्यत्व है। वह सौन्दर्य-रूप अलङ्कार दोष के त्याग और गुणालंकार के योग से ही उपलब्ध होता है।[4] इस सौन्दर्य का विवेचन भी साहित्यशास्त्र का एक विषय है।

मुकुल भट्ट ने लिखा है कि व्याकरण, मीमांसा, तर्क और साहित्य में इस प्रतिबिम्बित अभिधावृत्ति का जो प्रयोग करता है उसकी वाणी प्रसन्न होती है—वह वागीश्वर होता है। उसकी टीका में **शास्त्र** शब्द का स्पष्ट उल्लेख[5] है। **क्षेमेन्द्र** ने भी लिखा है कि आचार्यप्रवर **अभिनव गुप्त** से साहित्य का अध्ययन किया[6] है। यहाँ साहित्य शब्द से साहित्य

---

१ यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि च्छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्र-मुच्यते। **प्रतापरुद्रयशोभूषणटीका पृ० ३**

२ काव्यालङ्कार इत्येष यथाबुद्धि विधीयते। **काव्यालंकार**

३ **उद्भट**—काव्यालङ्कारसारसंग्रह। **वामन**—काव्यालङ्कारसूत्र। **रुद्रट**—काव्यालङ्कार।

४ काव्यमलङ्कारात्। सौन्दर्यमलङ्कारः। स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्।
काव्यालङ्कारसूत्र

५ पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिबिम्बितम्।
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति॥
व्याकरण मीमांसातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात्।
अभिधावृत्तिमातृका

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृतिकारिणः। **बाल-कथा-मंजरी**

ग्रन्थों में यह संभव नहीं। भाव-साहित्य तो हृदय-वृत्ति का रमणीय विकास ही है। अतः साहित्य कहलाने का वही यथार्थ अधिकारी है।

ज्ञानप्रधान ग्रन्थ-विशेष समय पाकर पुराना पड़ जा सकता है और अनुसन्धान-पूर्ण अन्य उत्तम पुस्तक के प्रकाशन से उसका महत्त्व भी नष्ट हो जा सकता है पर भाव-प्रधान साहित्य न तो पुराना पड़ सकता है और न तो अच्छे से अच्छे भावप्रधान साहित्य के निर्माण से उसका महत्त्व ही नष्ट हो सकता है। बुद्धिवृत्ति को विकसित करने-वाली तत्वज्ञान की बातें बार-बार सुनने से कोई भी उद्वेजित हो सकता है और मनोरागों को उद्बुद्ध करनेवाले साहित्य को—काव्य को बार-बार सुनने की उत्कंठा होती है। उसकी सरसता से सहृदयों को तृप्ति जैसे होती ही नहीं। एक रूखा-सूखा कटुकर्कश मालूम होता है और दूसरा हृदय को आनन्द में निमज्जित कर देता है। ज्ञान-प्रधान साहित्य की ज्ञान-वृद्धि के साथ अधिकाधिक उन्नति हो सकती है जैसा कि विद्युच्छास्त्र का विकास दिनोंदिन देख पड़ता है। पर भाव-प्रधान साहित्य की उन्नति नहीं की जा सकती। वह चिरकालिक होता है। प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी आदि की क्या उन्नति की जा सकती है? वह जो लिख गया सो लिख गया।

तत्त्वनिरूपण या सत्यान्वेषण को लेकर भाव-साहित्य का सर्जन नहीं हो सकता। क्या तुलसीदास की अलौकिक प्रतिभा 'वैराग्यसन्दीपनी' को उतनी सरस बना सकी है जितनी कि 'बरवै रामायण' आदि छोटे-छोटे ग्रन्थों को सरस कर सकी है। 'जायसी' की 'अखरावट' की भी यही दशा है। कबीर-वचनावली की तो कुछ कहिये ही नहीं। संस्कृत में भी 'लोलिंबराज' ने 'वैद्यजीवन' को सरस बनाने की चेष्टा की है, पर उसे वे भावप्रधान साहित्य नहीं बना सके हैं।

फिर भी मूल का आनंद नहीं मिलता। क्योंकि मूल में कवि के अपने शब्द और अर्थ रहते हैं जो अनुवादक के वैसे हो नहीं सकते। भावप्रधान साहित्य का सिद्धान्त या सत्य तो कभी भ्रान्त हो ही नहीं सकता। क्योंकि उसमें न तो विश्लेषण की आवश्यकता होती है और न कोई प्रमाण पेश करने की।

प्राय: ज्ञानप्रधान साहित्य एक युग में उत्पन्न होकर उसी युग का रह जाता है और भावप्रधान साहित्य युग-युगान्तर का होता है। युग का बन्धन उसे बन्धन में नहीं डाल सकता। अभिप्राय यह कि पहला एककालिक और दूसरा चिरकालिक होता है।

सातवीं किरण

साहित्य—प्रधान और अप्रधान

साहित्य-संसार पर दृष्टि डालने से दो प्रकार का साहित्य सामने आता है। एक को प्रधान और दूसरे को अप्रधान की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रधान साहित्य वह है जिसका उद्देश्य केवल आनन्ददान वा आप्यायन है। अभिप्राय यह कि जिसके पढ़ने वा सुनने से असमान्य आनन्द प्राप्त हो, रस मिले, वह प्रधान साहित्य है। इसका कोई दूसरा अवान्तर उद्देश्य नहीं होता। जो लोग 'कविता के लिये कविता' या 'कला के लिये कला' इस मत के पक्षपाती हैं, वे केवल इसी उद्देश्य के समर्थक हैं। वे आनन्ददान के अतिरिक्त साहित्य का अन्य प्रयोजन सिद्ध करना नहीं चाहते, मानने को प्रस्तुत नहीं होते।

प्रधान साहित्य की आनन्ददायकता को छोड़कर उससे अन्य उद्देश्य सिद्ध करना चाहें तो आपको ऐसा करने से कोई मना नहीं करता। पर उसका यह उद्देश्य नहीं। उसका अभीष्ट यही है कि आप पढ़ें तो आपके चित्त का विकास हो, आपकी भावनाएँ उदार तथा उदात्त हों तथा आपकी कल्पना के पंख फैल जायँ। ऐसा साहित्य, लोककल्याणकारी नहीं कहा जा सकता।

मेघदूत, ग्रन्थि तथा प्रसाद, पन्त, महादेवी आदि के कुछ कविता-संग्रह, रायकृष्णदास, दिनेशनन्दिनी चोरड़या आदि के गद्यकाव्य प्रधान साहित्य के उदाहरण हैं।

अप्रधान साहित्य वह है, जिससे किसी उद्देश्य की सिद्धि आवश्यक होती है। ऐसे सदुद्देश्य-साधक साहित्य को अप्रधान साहित्य कहने का कारण यह है कि उसमें सदुद्देश्य के साथ सरसता का समावेश भी किया जाता है। ज्ञानगर्भित वा नीतिधर्म-परायण वा सदाचार विषयक वा शिक्षासम्पन्न सरस रचना ही अप्रधान साहित्य होती है। धर्म-नीति-शिक्षा-विषयक साहित्य को सरस बनाने का कारण यह है कि जन-समाज सूखा-सूखा उपदेश सुनना नहीं चाहता। सरस शिक्षा सभी के हृदयों में घर कर लेती है। कथावाचक की सरस कथा और व्याख्याता का सरस व्याख्यान जैसे श्रोताओं के हृदयों को आकर्षित कर लेते हैं, वैसे ही उपदेश-गर्भित साहित्य सरस होने से श्रोता और पाठक को वशीभूत कर लेता है। लोक-शिक्षा वा ज्ञान-प्रसार के लिए ऐसे रुचिकर साहित्य की सदा आवश्यकता है। आनन्द - दान की मुख्यता न रहने के कारण इसे अप्रधान साहित्य कहते हैं। पर यह न भूल जाना चाहिए कि अप्रधान साहित्य ही यथार्थतः शिक्षा का साधन है—आदर्श का उपस्थापक है और जातीय जीवन का वस्तुतः जीवन-दाता है। हिन्दी में ऐसे साहित्य का बहुल प्रचार है।

प्रधान साहित्य में भी कलाकार नीति, शिक्षा आदि को उपादान रूप में ग्रहण करता है। पर वह उन्हें अपने मन लायक बना लेता है। वह अपनी कल्पना से उन्हें साज-सँवारकर ऐसा मोहक रूप दे देता है कि उसका कलेवर ही बदल जाता है। सरसता का संचार करना मुख्य ध्येय होने के कारण साहित्य - सृष्टि के अनुरूप ही उसका रूप हो जाता है।

प्रधान साहित्य का अध्ययन आनन्दलाभ के लिए ही करना चाहिए, अपने मतलब की बात निकालने के लिए नहीं। यदि पाठक या श्रोता का यह उद्देश्य हो, तो वे इस प्रयत्न में असफल ही होंगे।

वर्तमान काल में प्रधान साहित्य की ही प्रधानता है। आज जिस साहित्य की सृष्टि हो रही है, वह किसी उद्देश्य को लेकर नहीं। पर कोई न कोई तत्त्वदर्श झाँकी दिखला देता है और उससे अच्छा उपदेश मिल जाता है। एक उदाहरण लें—

दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन।
दुख के तम को खा-खाकर भरती प्रकाश से वह मन

अस्थिर जग का सुख-दुख जीवन ही नित्य चिरंतन।
सुख - दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलंबन।—पंत

यह यथार्थतः प्रधान साहित्य है; क्योंकि इसका शिक्षा देना उद्देश्य नहीं। पर सुख-दुख के संबंध में एक यह शिक्षा मिलती है कि "सबै दिन नाहिं बराबर जात।"

आजकल अप्रधान साहित्य का निर्माण न होता हो, सो बात नहीं; पर उसे कलात्मक रूप प्राप्त हो रहा है। आज रहीम-वृन्द के से दोहे और गिरिधर की-सी कुंडलिया नहीं बनतीं, पर 'वीरसतसई' जैसी रचनायें इनके उद्देश्य की पूर्ति कर रही हैं।

अप्रधान साहित्य को प्रधान साहित्य का सोपान समझना चाहिए। अप्रधान साहित्य का रसिक ही प्रधान साहित्य का रसास्वाद ले सकता है। इससे पहला दूसरे का अंग है। एक के बिना दूसरे की पूर्ति संभव नहीं। जातीय जीवन के कल्याण-साधन के लिए अप्रधान साहित्य के निर्माण की अत्यन्त आवश्यकता है। अशिक्षित जनता इस योग्य नहीं कि प्रधान साहित्य के स्वारस्य पर लट्टू हो जाय। वह अप्रधान साहित्य के द्वारा प्रधान साहित्य को पहुँच सकती है। नवीन कलाकारों के लिए अप्रधान साहित्य की रचना उपेक्षणीय नहीं; क्योंकि प्रधान साहित्य जन-समाज में शिक्षा और ज्ञान का प्रचार - प्रसार नहीं कर सकता। अप्रधान साहित्य को पढ़-पढ़कर ही नवीन कलाकार इस योग्य हुए हैं कि प्रधान साहित्य का सृजन कर रहे हैं और उसके अन्तरंग में पैठकर अमन्द आनन्द लूट रहे हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि साधारण जनता अप्रधान साहित्य को ही प्रधान साहित्य समझ न बैठे।

आठवीं किरण

साहित्य का आदर्श

साहित्य का कोई आदर्श है या नहीं, इस बात को लेकर आधुनिक साहित्यिकों में बड़ा विवाद है। कोई साहित्य को आदर्श-शून्य कहता है और कोई उसका आदर्श स्वीकार करता है तोभी उसकी कैसी रूपरेखा का निर्देश नहीं करता। कोई कहता है कि साहित्य

का आदर्श है, पर स्थायी नहीं; वह समय-समय पर बदला करता है। इसी प्रकार नाना मुनियों के नाना मत हैं।

किन्तु साहित्य का एक निश्चित आदर्श है और उसके प्राण हैं—धर्मनीति। हमारा आर्य-साहित्य ऐसे ही आदर्शों से परिपूर्ण है। वह आदर्श जाति का गौरव है। उस आदर्श ने ही आर्य-साहित्य को संसार के साहित्य का शिरोभूषण बनाकर सौन्दर्यमण्डित किया है। अब वह आदर्श, वह धर्म-नैतिक आदर्श दुर्लभ है। अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से अब आधुनिक साहित्य में अधिकतर मानव-प्रकृति के पाशव भावों और ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों की प्रबलता ही दीख पड़ती है।

जो लोग 'खाओ पीओ, मौज करो' की नीति को अपनाये हुए हैं, उनके लिए साहित्य में क्या, कहीं भी कुछ आदर्श नहीं है। उनका संसार शारीरिक सुख-भोग में ही समाप्त है। वे भोगदृष्टि से ही सब कुछ देखते हैं। उन्हें उचित-अनुचित का विचार नहीं रहता। इससे उनके सामने आदर्श की कोई रूपरेखा ही नहीं खिंचती। उनको जो साहित्य सुखप्रद होता है, वह यथार्थतः साहित्य कहा ही नहीं जा सकता।

प्रायः नवीन कलाकार साहित्य में सुनीति वा सदाचार वा तन्मूलक आदर्श को ऐसा तिरस्कृत कर रहे हैं जैसे कोई पदार्थ हो। जो आदर्श मानवात्मा को उन्नत, उदार तथा प्रशस्त करनेवाला और आहार, निद्रा, भय आदि में समान वृत्तिवाले पशु को मानव बनानेवाला है, उसका त्याग मनुष्यत्व का त्याग है। वे यथार्थ (Reality) के नाम पर साहित्य में अनाचार का ऐसा प्रचार कर रहे हैं, जिससे मनुष्यत्व को पाशविक प्रवृत्ति की प्रेरणा मिलती है। यह मनुष्यत्व के विरुद्ध पशुत्व की घोषणा है।

इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की नग्न वास्तविकता, आर्थिक कठिनाई, औद्योगिक जागरण, सामाजिक उथल पुथल के कारण समाज के नवनिर्माण की जो समस्यायें उठ खड़ी हुई हैं, वे उपेक्षणीय नहीं। यह भी सत्य है कि सभ्यता की वृद्धि से आदर्श का परिवर्तन भी अनिवार्य-सा हो जाता है। किन्तु, यह सब होने पर भी सहसा नैतिक और चारित्रिक परिवर्तन संभव नहीं। यह तभी संभव है, जब कि पूर्व संस्कृति का एकदम लोप हो जाय और नयी संस्कृति अपना पैर अच्छी तरह जमा ले।

बंगभाषा के सुप्रसिद्ध समालोचक श्री मोहितलाल लिखते हैं कि आजकल साहित्य में जो काम की समस्या उठ खड़ी हुई है, वह मनुष्य के प्राण की समस्या नहीं है। वह केवल विज्ञान-कल्पित मांस-मज्जा गठित देह यन्त्र की समस्या है। इससे वह सत्य नहीं है और सुन्दर भी इसलिए नहीं है कि यह वह काम नहीं है, जो आत्मा के संस्पर्श में आकर संसार में वर्ण-सुषमा का आविष्कार करता है, जो वाग्देवी को छन्द और संगीत में मूर्ति प्रदान करता है और जड़ को चिन्मय बना देता है।

प्रोफेसर मेक्डुगल का कहना है कि फ्रायड-सिद्धान्तों के प्रचार से पाश्चात्य सभ्यता पर घातक परिणाम हुआ है। उसने कई व्यक्तियों के सुखों पर कुठाराघात किया है और समाज के नीति-आचार को भी नष्ट कर दिया है।

प्रेमचन्दजी का कहना है कि बेशक चुटकियाँ—यहाँ तक कि नश्तर लगाना भी कभी-कभी आवश्यक होता है; लेकिन दैहिक व्यथा चाहे नश्तर से दूर हो जाय, मानसिक व्यथा सहानुभूति और उदारता से ही शान्त हो सकती है।

आजकल कलुषित वास्तव और विभीषिकामय वीभत्सता को जो कला का रूप देकर मोहक बनाया जा रहा है और जो हमारे सामने अपना झलमल सौन्दर्य झलकाकर हममें मोहिनी मंत्र फूँक रहा है, उसका कारण यही है कि हम अपने को निरन्तर आचार-भ्रष्ट बना रहे हैं और वर्तमान रीति-नीति तथा आचार-व्यवहार के आकर्षण में फँस रहे हैं। इस सामाजिक युग-धर्म को भुलाया नहीं जा सकता ; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि ऐसे भ्रष्ट साहित्य के पीछे अपनी मनुष्यता को भी तिलांजलि दे दें। ऐसा साहित्य मनुष्य को दुराचार के गहन गर्त में गिराता है। जो यथार्थ है, उसको नग्न रूप में प्रकट करना साहित्य का काम नहीं है।

की बात मैं नहीं जानता। पर इस लोक के मनुष्य की जीवन-यात्रा के मार्ग पर जहाँ तक दृष्टि जाती है, यही दीख पड़ता है कि मनुष्य जिन तीन वस्तुओं को लक्ष्य कर चलता है उसके तीन अंश है— कला (Art) नैतिकता (Morality) और धर्म (Religion)।

इसी से जो कुछ असुन्दर और अकल्याण है, वह किसी प्रकार आर्ट (art) नहीं हो सकता, धर्म नहीं हो सकता। Art for arts'ake यदि सत्य है तो वह किसी प्रकार immoral नहीं हो सकता और अकल्याण और immoral होने से Art for arts'ake की बात किसी प्रकार सत्य नहीं हो सकती, सैकड़ों-हजारों मनुष्यों के एक साथ चिल्लाकर कहने पर भी वह सत्य नहीं हो सकता।[१]

पतिता और चरित्रहीन स्त्री-पुरुषों के चरित्र की सृष्टि हो सकती है और हुई है; पर साहित्यिकों ने साहित्यिक मर्यादा को कहीं कलुषित नहीं किया है। आदर्श के लिए शरच्चन्द्र का ही साहित्य प्रस्तुत है। बँगला साहित्य के प्रगतिशील प्रधान लेखकों के अन्यतम श्री ताराशंकर बन्द्योपाध्याय का यथार्थवादी आधुनिकतम उपन्यास 'मन्वन्तर' भी एक आदर्श उपन्यास है। इसमें मानव-जीवन के जीते-जागते चित्र हैं, पर कहीं अश्लीलता का नाम नहीं। इसमें साहित्यिक मर्यादा के विपरीत कुछ भी नहीं है।

साहित्य को केवल कला के लिए कला कहना उसका महत्ता नष्ट करना है—उसके व्यापक स्वरूप को संकुचित करना है। साहित्य का आदर्श भी है और वह है मनुष्य का मनुष्यत्व से विच्युत न होना। मनुष्य का चरित्र ही बलवान है। मनुष्य परिस्थितिवश पशु हो सकता है और देवता भी। साहित्य ही उनका आदर्श रूप में चित्रण करके हमें प्रभावित करता है।

पाप-प्रवृत्ति का प्रदर्शन वहीं तक श्रेयस्कर है, जहाँ तक मनुष्य के चरित्र को उज्ज्वल और प्रशस्त बनाने में समर्थ हो। पाप-पंक में उसका फँसना पंकज होकर निकल आने के लिए ही आवश्यक है, न कि उसमें उसको निमग्न करने के लिए।

आधुनिक मनस्तत्त्व के आलोक में सौन्दर्य-बोध के साथ-साथ

---

१ स्वदेश और साहित्य।

धर्मनीति के बोध का भी सामंजस्य होना चाहिए; क्योंकि सौन्दर्यानुभूति के भीतर मंगल-बोध भी सूक्ष्मतः सम्मिलित है। सारांश यह कि मनुष्य के मनुष्यत्व का जिस सत्य से संयम हो वही साहित्य का आदर्श है। यह आदर्श सार्वजनीन सार्वकालिक है।

मैथ्यू अर्नोल्ड के ये वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—कभी-कभी हमें ऐसी कविता सुहाने लगती है जो आचार की उपेक्षा करती है। ऐसी कविता जिसमें सार हो या न हो, परन्तु जिसकी भाषा सुन्दर हो और अलंकार खरे हों, दोनों दशाओं में हम अपने को भ्रान्ति में डालते हैं। भ्रमोच्छेद का सबसे श्रेष्ठ उपाय यह है कि हम जीवन के विशाल तथा अविनाशी शब्द पर अपने मन को एकाग्र करें। वह कविता जो आचार का विरोध करती है, एक प्रकार से जीवन का प्रत्याख्यान करती है और वह कविता जो आचार की उपेक्षा करती है, स्वयं जीवन की उपेक्षा करती है।[1]

आदर्श ही सौन्दर्य का आधार है। यही आदर्श सहृदयों और कलाकारों को विवेकशील बनाता है। केवल श्लील या अश्लील, सुनीति या दुर्नीति की बातों को लेकर ही आदर्श का विचार नहीं किया जा सकता। ये तो गौण बातें हैं। जो साहित्य की मर्यादा जानते हैं, वे साहित्य के मिथ्याचार को अनायास समझ लेते हैं; क्योंकि उनका हृदय साहित्यिक सत्य के अपलाप को सह्य नहीं कर सकता। साहित्यिक अशिष्टता उनसे छिप नहीं सकती।

साहित्य कभी भी आदर्श शून्य नहीं हो सकता। अति आधुनिक कवि ऑडेन (Auden) काव्य का कर्त्तव्य उपदेश देना नहीं मानता। फिर भी अच्छे-बुरे से हमें सचेत कर देना साहित्य का कर्त्तव्य या उद्देश्य या आदर्श मानता है।[2]

इससे हम कविता को कभी भी निरादर्श नहीं कह सकते।

---

१ हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास।

2 *Poetry is not concerned to tell people what is to do but with extending our knowledge of good and evil.*

नवीं किरण

साहित्य—सत्य, शिव, सुन्दर

साहित्य और कला के क्षेत्र में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का सर्वत्र व्यवहार हो रहा है और यह आदर्श वाक्य बन गया है।

अनुसंधान से विदित होता है कि सबसे पहिले श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पूज्य पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने संयुक्त रूप में इसका व्यवहार किया था और बंगला से हिन्दी में इसका प्रचलन हुआ। यह एक प्रकार से परिभाषा-रूप में साहित्य के उद्देश्य और आदर्श को सूचित करने लगा है।

कहते हैं कि यूनानी दार्शनिक अफलातून के The True, the Good, the Beautiful[1] का यह अनुवाद है। कोई कहता है कि विक्टर कजन नामक विद्वान् की एक पुस्तक है The Truth, the Good and the Beautiful[2] उसी पर से यह वाक्य बना है। तीनों का एक साथ रहना ही इस कल्पना का आधार है। किन्तु यह विषय विवादास्पद है।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर ब्राह्म-समाज के एक स्तम्भ थे। ब्राह्ममंत्र वेदोपनिषदों पर निर्भर करता है। अध्यात्म उसका ध्येय है। इस दशा में यह संभव नहीं कि वे अपने मत के मूलाधार आर्ष ग्रन्थों को छोड़कर आदर्श वाक्य का अन्यत्र अन्वेषण करें। वेदोपनिषदों में ये शब्द सर्वत्र उपलब्ध है।

ऋग्वेद का एकमंत्र नित्य की सन्ध्योपासना में आता है, जिसमें 'सत्यं' शब्द है।[3] ऐसे ही कई मंत्रों में 'सत्यम्' के प्रयोग हैं, जिनके अर्थ होते हैं—यथार्थ, यथार्थ भाषण, अविनश्वर, अव्यर्थ, शिष्टवचन

---

१ प्रबन्ध प्रभाकर

२ साहित्य सन्देश—जून १९४२।

३ ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः। ऋग्० १०।१९०।१

आदि। उपनिषदों में इसके बहुल प्रयोग हैं। एक मंत्र का अर्थ है—सत्य विजयी होता है, असत्य नहीं। एक मंत्र कहता है कि यह आत्मा सत्य और तपस्या से ही उपलब्ध होता है।[१]

ऐसे ही 'शिवम्' का प्रयोग भी वेदोपनिषदों में भरा पड़ा है। रुद्राष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय में छः मंत्र हैं। उनका अन्तिम अंश 'तन्मे मनः शिवः संकल्पमस्तु' में 'शिव' शब्द आया है। ऋग्वेद में 'शिव' शब्द आया है, जिसका शोभन अर्थ किया गया है। महानारायणोपनिषद् में 'शयेन शान्ताः शिवमाचरन्तिः' है।[२]

वेदोपनिषदों से चारु, रुचिर आदि शब्द आये हैं, जो सुन्दर-वाचक हैं।[३]

इन शब्दों को देखकर यही अनुमान किया जा सकता है कि महर्षि ने अनुप्रास के लोभ से हो या सुन्दर शब्द के मोह से हो, इन तीनों को इकट्ठा करके भारतीय संस्कृति के निदर्शन इसे स्वरूप-आदर्श वाक्य के रूप में परिणत कर दिया है।[४]

सच्चिदानन्द शब्द भी सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् का मूलाधार माना जा सकता है। सत् सत्य है, चित् चेतन-रूप शिव है और आनन्द सुन्दर है। सौन्दर्य का आनन्दायक होना सुप्रसिद्ध है।

सत्य में धर्म की, सदाचार में शिव की और सुन्दर में कला की प्रतिष्ठा है। इससे शरच्चन्द्र के विश्वमानव के लक्ष्य रिलिजन (Religion), मोरालिटी (Moralities) और आर्ट (Art) के भी प्रतीक माने जा सकते हैं। इनका विज्ञान, धर्म और साहित्य का प्रतीक होना भी मान्य है।

पहले-पहल इसके प्रयोग में दार्शनिक दृष्टिकोण था; किन्तु अब शुद्ध साहित्यिक हो गया है। नवीन साहित्यिकों ने भी इसे अपनाकर

---

१ सत्यमेव जयते नानृतम्। मुण्डक ६

२ सत्येनलाभः तपसा ह्येष आत्मा। मुण्डक ३।१।५

३ अदेवद्देवः प्रचता गुहा यत्प्रपश्यमानो अमृतत्वमेति। शिवंयत्सं-तमशिवो जहामि स्वात्सख्यादरणींनाभिमेमि। ऋग्-१०।१२४।२

४ अभीमृतस्य विष्टपं दुहतेपृश्निमातरः चारुप्रियतमं हविः ऋग्-९।३४।५

मंत्र-रूप में कहिये चाहे प्रवाद-रूप में कहिये, इसे बहुत व्यापक बना दिया है। सचमुच सत्यं, शिवं, सुन्दरं साहित्य के प्राण हैं।

साहित्य का सत्य विज्ञान का सत्य नहीं है। विज्ञान नग्न साहित्य को प्रश्रय देता है, पर साहित्य भाव की सत्यता को प्रधानता देता है। यह सत्य स्वतः प्रमाणित होता है। भाव की चारुता, प्रौढ़ता और अपूर्णता इस सत्य की सत्यता की कसौटी है।

सत्यानुसंधान कविता का एक प्रयोजन है। यह सत्य सांसारिक सत्य से भिन्न है। यह सत्य कवियों का सत्य है, जिसमें वस्तु-जगत् और कल्पना-जगत् की वस्तुओं को आकार प्रदान किया जाता है, जो लौकिक दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होती; किन्तु वे अपने स्थान पर सत्य हैं; क्योंकि वे हमारे ऊपर अपना प्रभाव डालती हैं।

साहित्य ही प्रिय असत्य को सत्य बना देता है; क्योंकि उसका ध्येय सुन्दरता का साधन है।

मनुष्य आदिकाल से ही सौन्दर्योपासक है। वह सभ्यता की ओर जैसे-जैसे अग्रसर होता गया है, उसकी रुचि परिमार्जित होती गयी है और उसके सौन्दर्य का मापदण्ड बढ़ता गया है। उसकी सौन्दर्य-पिपासा मिटती नहीं। वह वस्तु सामान्य में भी सौन्दर्य का अनुसंधान करता रहता है। उसकी सौन्दर्य-साधना ही साहित्य सृष्टि का मूल है।

सौन्दर्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं हो सकती। केवल यही कहा जा सकता है कि वह एक आकर्षण पैदा करता है। इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष तभी परिपूर्णता को प्राप्त करता है, जब उसका मन के साथ योग होता है। मन की दृष्टि शिक्षा से खुलती और सहृदयता से बढ़ती है।

मृतं यद्विभाति' अर्थात् जो कुछ प्रकाश पा रहा है, वह उसीका आनन्दरूप, उसीका अमृत रूप है। हमारे चरणों की धूल से लेकर आकाश के नक्षत्र पर्यन्त सभी 'ट्रुथ' और 'ब्यूटी' है। सभी आनन्दरूपममृतम्' है। विदेशी विद्वान् बेली साहब की भी ऐसी ही एक उक्ति है, जिसका यह आशय है कि जो परम सत्य को प्यार करते हैं और उसके प्रकाश की सामर्थ्य रखते हैं, वे सभी कवि हैं।[२]

फूल सुन्दर होता है, गन्धमधुर होती है। उसकी सहज प्रवृत्ति प्रकृति के प्रांगण में विकसित होकर पृथ्वी की गोद में झर पड़ना नहीं है। वह उस कलाकार की कला का निदर्शन भी करता है, जिसने उसकी सृष्टि की है। वह मधुकर को मधुसंचय का जैसा सुअवसर देता है, वैसे ही आस-पास के वायुमण्डल को अपना सुगन्ध-भंडार भी लुटा देता है। इसी प्रकार किसी साहित्यिक कलाकार की कृति का कृतित्व केवल सौन्दर्योपभोग में ही समाप्त नहीं मान लेना चाहिए। वह सौन्दर्यमंडित होकर आनन्ददान के रूप में हमारा मंगल-साधन भी करता है। इसीसे हमारे आचार्यों ने 'शिवेतरक्षतये' का भी निर्देश किया है। जन-समाज सुन्दर को सत्य शिव के साथ समन्वित ही देखना चाहता है। कवीन्द्र के शब्दों में मंगल मात्र का समस्त जगत् के साथ एक गंभीर सामंजस्य है और मानव-मन के साथ भी निगूढ़ संबंध है...हमारे पुराण की लक्ष्मी केवल सौन्दर्य और ऐश्वर्य की देवी नहीं है, वे मंगल की भी देवी है। सौन्दर्य की मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप।[3]

सुन्दर साहित्य का मूल ध्येय है। सौन्दर्य-बोध को साहित्यिक इसलिए कलात्मक रूप देता है कि वह आस्वाद-योग्य हो। वह आप उसका आनन्द ले और दूसरे भी उसका आनन्द लें और दूसरे भी उसका मजा लूटें। उस साहित्यिक सौन्दर्य से अलौकिक आनन्द उपलब्ध होता है, जिसका संबंध भाव से अर्थात् मानव-मन के प्रेम,

---

१ साहित्य

2 Poets are all who love and feel great truths and till them.

३ साहित्य

करुणा, लोभ, मोह आदि से होता है। ऐसा ही सौन्दर्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है।

काव्य में सत्य को सभी स्वीकार करते हैं और सौन्दर्य को भी। यद्यपि सत्य, शिव, और सुन्दर अंगांगी भाव से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, तथापि कुछ पाश्चात्य विवेचक 'शिव' को या 'लोकहित' को काव्योद्देश्य नहीं मानते और इसका काव्य-साहित्य से बहिष्कार कर रहे हैं। ये कलावादी हैं; किन्तु उपयोगितावादी साहित्य में सद्वृत्तियों के समावेश के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि जब साहित्य सच्चे हृदय के उद्गार हैं, तो उसमें सत्य और सुन्दर के साथ शिव का सम्मिश्रण होगा ही। एक दूसरे से पृथक् हो ही नहीं सकता। कवीन्द्र के शब्दों में 'सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है, वहाँ अपनी प्रगल्भता को छोड़ देता है। वहीं पर फूल अपनी वर्णगंध की अधिकता को फल की गूढ़ गंभीर मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में ही, उसी चरम विकास में ही सौन्दर्य और मंगल का मिलाप हो जाता है।'[1]

जैनेन्द्र भी कहते हैं[2] 'जीवन में सौन्दर्योन्मुख भावनाओं को नैतिक (शिवमय) वृत्तियों के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को खिझाती हुई, कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा में लटकना चाहती हैं, वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुन्दर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं, वह सुन्दर नहीं है, केवल छद्माभास है—सुन्दर की मृगतृष्णिका है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने[3] जीवन में नैतिक विचारों के उपयोग को ही काव्य कहा है और वैसे ही वर्ड्सवर्थ ने भी कहा है कि[4] 'भगवान की कामनाएँ सारी घटनाओं को कल्याणकारी बना रही हैं।'

---

१ साहित्य

२ जैनेन्द्र के विचार

3 Application of moral ideas of life.

4 His ever lasting purposes embrace accidents convert-

सम्पूर्णानन्द के शब्दों में 'रचना में सत्य तो है ही, साथ ही शिव का होना भी आवश्यक है। शिव से समाज का कल्याण होता है। अतः सत्यं शिवं से पूर्ण रचना ही सार्थक रचना है। यही राष्ट्रीय साहित्य है।'

सत्यान्वेषण, सौन्दर्योपासना और कल्याण-साधना अन्तःकरण की कोमल वृत्तियाँ हैं। ये परस्पर सम्बद्ध हैं। इनका संबध विच्छिन्न नहीं हो सकता। साहित्य में सौन्दर्य का विशेष महत्त्व है, साहित्यिक, विशेषतः कवि सौन्दर्य का उपासक होता है। साहित्य में सौन्दर्य सत्य और शिव को समेट लेता है; अतः साहित्य-शिव-सुन्दर-स्वरूप है। जैनेन्द्र के शब्दों में 'सुन्दर को फिर शिवता का ध्यान रखना होगा और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है तो वह सुन्दर तो है ही।'

दसवीं किरण

साहित्य का सत्य

जो कुछ नित्य तथा शाश्वत अर्थात् चिरंतन है, वही सत्य है। इस सत्य को साहित्य में वास्तव सत्य के रूप में नहीं पाते ; भाव के रूप में पाते हैं। साहित्यिक का साधना-लब्ध यह सत्य, वास्तव सत्य से अपूर्व और सुन्दर होता है।

साहित्य में वास्तव का अर्थ सत्य (Truth) का प्रकाश है, तथ्य वा घटना (Fact) का नहीं। दूसरे शब्दों में वस्तुगत अनुभूतियों का प्रकाशन साहित्यिक सत्य है, घटना का यथायथ वर्णन नहीं। वस्तु और उसकी अनुभूति दोनों एक नहीं। वस्तु वस्तु-जगत् में वस्तु ही रह जाती है, पर वही भाव-जगत् में दूसरी हो जाती है।

रवीन्द्र का कहना है कि जो घटनायें घटती हैं,वे सब सत्य नहीं। हे कवि, तुम्हारी मनोभूमि ही अयोध्या की अपेक्षा राम का जन्म-स्थान सत्य है[1] इसे समझो।

---

१ घटे या, ता सब सत्य नहे। कवि तव मनोभूमि
रामेर जन्मस्थान, अयोध्यार चेये सत्य जेनो।

करुणा, लोभ, मोह आदि से होता है। ऐसा ही सौन्दर्य सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है।

काव्य में सत्य को सभी स्वीकार करते हैं और सौन्दर्य को भी। यद्यपि सत्य, शिव, और सुन्दर अंगांगी भाव से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, तथापि कुछ पाश्चात्य विवेचक 'शिव' को या 'लोकहित' को काव्योद्देश्य नहीं मानते और इसका काव्य-साहित्य से बहिष्कार कर रहे हैं। ये कलावादी हैं; किन्तु उपयोगितावादी साहित्य में सद्वृत्तियों के समावेश के पक्षपाती हैं। उनका कहना है कि जब साहित्य सच्चे हृदय के उद्गार हैं, तो उसमें सत्य और सुन्दर के साथ शिव का सम्मिश्रण होगा ही। एक दूसरे से पृथक् हो ही नहीं सकता। कवीन्द्र के शब्दों में 'सौन्दर्य जिस स्थान पर पूर्ण विकसित होता है, वहाँ अपनी प्रगल्भता को छोड़ देता है। वहीं पर फूल अपनी वर्णगंध की अधिकता को फल की गूढ़ गंभीर मधुरता में परिणत कर देता है और उसी परिणति में ही, उसी चरम विकास में ही सौन्दर्य और मंगल का मिलाप हो जाता है।'[1]

जैनेन्द्र भी कहते हैं[2] 'जीवन में सौन्दर्योन्मुख भावनाओं को नैतिक (शिवमय) वृत्तियों के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को खिझाती हुई, कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा में लटकना चाहती हैं, वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुन्दर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं, वह सुन्दर नहीं है, केवल छद्माभास है—सुन्दर की मृगतृष्णिका है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने[3] जीवन में नैतिक विचारों के उपयोग को ही काव्य कहा है और वैसे ही वर्ड्सवर्थ ने भी कहा है कि[4] 'भगवान की कामनाएँ सारी घटनाओं को कल्याणकारी बना रही हैं।'

---

१ साहित्य

२ जैनेन्द्र के विचार

3 Application of moral ideas of life.

4 His ever lasting purposes embrace accidents converting them to good.

सम्पूर्णानन्द के शब्दों में 'रचना में सत्य तो है ही, साथ ही शिव का होना भी आवश्यक है। शिव से समाज का कल्याण होता है। अतः सत्यं शिवं से पूर्ण रचना ही सार्थक रचना है। यही राष्ट्रीय साहित्य है।'

सत्यान्वेषण, सौन्दर्योपासना और कल्याण-साधना अन्तःकरण की कोमल वृत्तियाँ हैं। ये परस्पर सम्बद्ध हैं। इनका संबंध विच्छिन्न नहीं हो सकता। साहित्य में सौन्दर्य का विशेष महत्त्व है, साहित्यिक, विशेषतः कवि सौन्दर्य का उपासक होता है। साहित्य में सौन्दर्य सत्य और शिव को समेट लेता है; अतः साहित्य-शिव-सुन्दर-स्वरूप है। जैनेन्द्र के शब्दों में 'सुन्दर को फिर शिवता का ध्यान रखना होगा और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है तो वह सुन्दर तो है ही।'

दसवीं किरण

साहित्य का सत्य

जो कुछ नित्य तथा शाश्वत अर्थात् चिरंतन है, वही सत्य है। इस सत्य को साहित्य में वास्तव सत्य के रूप में नहीं पाते; भाव के रूप में पाते हैं। साहित्यिक का साधना-लब्ध यह सत्य, वास्तव सत्य से अपूर्व और सुन्दर होता है।

साहित्य में वास्तव का अर्थ सत्य (Truth) का प्रकाश है, तथ्य या घटना (Fact) का नहीं। दूसरे शब्दों में वस्तुगत अनुभूतियों का प्रकाशन साहित्यिक सत्य है, घटना का यथायथ वर्णन नहीं। वस्तु और उसकी अनुभूति दोनों एक नहीं। वस्तु वस्तु-जगत् में वस्तु ही रह जाती है, पर वही भाव-जगत् में दूसरी हो जाती है।

रवीन्द्र का कहना है कि जो घटनायें घटती हैं,वे सब सत्य नहीं। हे कवि, तुम्हारी मनोभूमि ही अयोध्या की अपेक्षा राम का जन्म-स्थान सत्य है'[1] इसे समझो।

---

[1] घटे या, ता सब सत्य नहे। कवि तव मनोभूमि
रामेर जन्मस्थान, अयोध्यार चेये सत्य जेनो।

कारण यह है कि साहित्यिक स्रष्टा है, अनुकरणकर्ता नहीं। वह वास्तव सत्य को अपने भावानुकूल बना लेता है। अतः प्राकृत सत्य शुष्क तथा नीरस होता है और साहित्यिक सत्य सरस तथा मनोरंजक होता है। वास्तव सत्य साहित्यिक स्रष्टा की सृष्टि में अनुपम रूप धारण कर लेता है। तथ्य साहित्यिक सत्य का उपादान हो सकता है, उपजीव्य नहीं। साहित्यिक सत्य भावादर्श के अनुकूल ही होता है।

साहित्यिक सत्य के रूप की परवाह नहीं करता, वह उसके आत्मा की रक्षा करता है। वह वास्तव सत्य को परिवर्तित, परिवर्द्धित, विशिष्ट और सुन्दर बना देता है। इस दशा में सत्य की वह अवहेलना नहीं करता। वह अपने साहित्यिक आदर्श की रक्षा के लिए स्वतंत्र है; किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह वास्तव सत्य से डिग जाता है। वह यथार्थ को साहित्यिक सत्य बनाने के लिए ही ऐसा करता है, क्योंकि जब वास्तव सत्य साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य से मंडित होता है, तभी वह साहित्यिक सत्य होता है।

हमारे भाव वास्तव के आधार पर ही टिक सकते हैं। अतः भावों के लिए जीवन की वास्तविकता और सत्यता की उपेक्षा नहीं की जा सकती। साहित्य जीवन और काल के सत्य की अप्रतिष्ठा नहीं कर सकता। साहित्य जीवन-संबंधी सर्वानुभूत सत्य को ही प्रदर्शित करता है। साहित्यिक कल्पना के साहाय्य से व्यावहारिक जीवन के सत्य को साहित्यिक सत्य में परिणत करता है। प्रेमचन्द का 'नमक का दारोगा' सभी दारोगा नहीं हो सकते, पर ऐसे दारोगा का होना असंभव भी नहीं है। यह कहानी साहित्यिक सत्य का अच्छा निदर्शन है।

वास्तव सत्य का स्वरूप स्वरूपमात्र रहता है—निष्प्राण, रक्त-मांस-मज्जाहीन कङ्काल मात्र। साहित्यिक उसे सुन्दर, सजीव स्वरूप देता है। कल्पना उसकी सहायक होती है; किन्तु वास्तविक सत्यता के सहारे उसमें प्रस्फुटित होता है सर्वानुभूत सत्य ही। वह है मनुष्य का हर्ष-विषाद, प्रेम-घृणा, ईर्षा-द्वेष, राग-विराग रूपी मनुष्य का आन्तरिक भाव। जैसे

"हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन!
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!

संग सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन !"—पंत

इस कविता में साहित्यिक सत्य की जो सौन्दर्य-सृष्टि है, वह वास्तव ताजमहल की वास्तविकता पर आँच आने नहीं देती।

शुजा हार गया था, यह ऐतिहासिक तथ्य है। इतना ही कहने से उसके प्रति हमारी करुणा का उद्रेक नहीं होता ; किन्तु कवि जब कहता है—

"क्या हार ? आह वह शुजा वीर ! संग्राम-भूमि में गया हार !
यह वही शुजा है, जो सदैव—वैभव का था जीवित विहार।
यह वही शुजा है एक बार—जिससे सज्जित थे राजद्वार।
अब हार—(विजय की पतित राशि) लज्जित करता है बार-बार !"

—रामकुमार वर्मा

तब संगी-सहायक-हीन अराकानकाननचारी शुजा से सहज ही समानुभूति हो जाती है। यह तथ्य की अपेक्षा कहीं सत्य है।

साहित्यिक जिस साहित्य-सत्य की सृष्टि करता है, वह सम्भाव्य सत्य होता है। वह हृदय से अनुभव करता है कि ऐसा संभव हो सकता है। संगति-समन्वय का विचार करते हुए साहित्यिक जिस संभाव्य साहित्यिक सत्य का सर्जन करता है उसीकी ओर श्रोता और पाठक का ध्यान रहता है, उसकी यथार्थता का अनुसंधान नहीं करता। 'गोदान' पढ़ने के समय हम तो उसके साहित्यिक सत्य में ऐसे निमग्न हो जाते हैं, हमारी सुधबुध ऐसी खो जाती है कि उसके पात्रों की यथार्थता का ध्यान ही नहीं रहता। कोई सहृदय ऐसी रचना को असत्य कहने का साहस नहीं कर सकता।

अरस्तू ने इसी बात को यों कहा है कि कवि का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह घटित घटना का वर्णन करे, बल्कि यह कि क्या घटित हो सकता है। संभावना और आवश्यकता के नियमानुसार क्या संभव है। साहित्य वा काव्य सत्य की प्रतिकृति नहीं, वह उच्चतम सत्य है, क्या हो सकता है, क्या है, यह नहीं। संभव असंभावनाओं का असंभव से संभव बनाना है।[1]

---

1. It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen—what is possible according

वास्तव संसार में जो असत्य है, वह साहित्य-संसार में सत्य है। जब तुलसीदास कहते हैं—

"कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।"

तब इसको हम असत्य होते हुए भी सत्य ही मान लेते हैं; क्योंकि जिस प्रसंग पर उनकी यह उक्ति है, वहाँ इसी सत्य की संगति है। इस उक्ति से उनका चरित्र ही विकसित होता है, हमारे सामने एक उच्च आदर्श उपस्थित होता है।

ऐसे ही वास्तव जगत् का सत्य साहित्य-जगत् में असत्य हो सकता है। दुष्यन्त का शकुंतला-परिणय सत्य होते हुए भी नाटक में, कारण चाहे जो कुछ हो, दुष्यन्त के द्वारा ही असत्य उद्घोषित किया गया है। इस दृष्टि से यह असत्य होते हुए भी सत्य है। साहित्यिक सत्य विचार का यही आदर्श है।

यथार्थ होने की दृष्टि से यौन-जीवन का नग्न चित्रण साहित्यिक सत्य नहीं हो सकता; क्योंकि उससे जो आनन्द प्राप्त होता है स्नायविक है, रसोद्भूत नहीं। आजकल के यथार्थ चित्रण में साहित्य को सुन्दर सत्य बनाना नहीं, बल्कि कुत्सित सत्य को सरस बनाकर साहित्य को पंकिल बनाना है। गनीमत है कि एक नये समालोचक कहते हैं "समाज तथा जीवन का यथार्थ न कभी रहा है और न कभी हो सकता है। यथार्थ का कलात्मक चित्रण जीवन की वस्तुस्थिति को स्पष्टता देता है और उसका नग्न चित्रण वासना को प्रश्रय। जीवन की यथातथ्य वस्तुस्थिति की हम उपेक्षा न करें, किन्तु सुरुचि का सम्मान तो साहित्य में सदैव रहना चाहिए।"

अन्त में कहना यह है कि कल्पना के मन्दिर में सत्य की प्रतिष्ठा होती है, जिसे हम साहित्य कहते हैं। कल्पनाएँ नित्य नयी घटनाओं का निर्माण करती हैं; पर सत्य नया नहीं होता।

---

to the law of probability or necessity........The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality : what to be, not what is........Probable impossibilities are to be preferred to improbable possibilities. Aristoble : Poetics

ग्यारहवीं किरण

साहित्य और समाज

संस्कृत - साहित्य में साहित्य और समाज के संबंध का विचार नहीं है; किन्तु इसका यत्र-तत्र कुछ आभास पाया जाता है। आचार्य मम्मट का कहना है कि काव्य का एक प्रयोजन उपदेश-दान भी है। यह उपदेश कान्तासम्मित अर्थात् माधुर्य-सौन्दर्यमंडित होना चाहिए। इससे साहित्य की सार्थकता समाजहित में भी है। जिस साहित्य का उद्देश्य समाजहित नहीं, उसकी सार्थकता संशयास्पद और श्रेष्ठता सर्वजनानुमोदित नहीं हो सकती।

आदि कवि वाल्मीकि ने अपने अंतर में कल्पित आदर्श को राम के चरित्र में रूप दिया। लोक में रामायण के अलौकिक आनन्दामृत की धारा प्रवाहित की। कहीं उन्हें परवश होना नहीं पड़ा; किन्तु अंत में वे भी समाज का लोहा मानने को विवश हो गये। समाज के एक नगण्य, सत्ताहीन क्षुद्र रजक की सामान्य उक्ति पर सीता-निर्वासन की करुणा को भी करुण बनानेवाली कथा की सृष्टि की। उत्तर-कांड के अंग रूप में एक नये लव-कुश-काण्ड का ही निर्माण करना पड़ा; पर वे समाज की उपेक्षा का सहसा साहस न कर सके।

कवीन्द्र रवीन्द्र एक स्थान पर लिखते हैं कि "स्कूल से आते ही अपने घर के ऊपर घने और नीले मेघों को उमड़ते-घुमड़ते देखा। वह देखना कैसा आश्चर्यजनक था। उस दिन की बात आज भी मुझे याद है; किन्तु उस दिन के इतिहास में मुझे छोड़कर और किसी दूसरे ने उस मेघ को उस दृष्टि से नहीं देखा और न वह वैसा पुलकित ही हुआ। वहाँ एक रवीन्द्रनाथ ही थे, बस केवल रवीन्द्रनाथ।" यह उक्ति साहित्य-सृष्टि के लिये प्रकृतिपुंज को प्रधानता देती है। दूसरी बात यह साहित्य-सृष्टि वा काव्य-रचना के लिए स्रष्टा को ऐसी ही अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता है।

किन्तु कवीन्द्र जब यह कहते हैं—

> अन्तर हते आहरि वचन आनन्द लोक करि विरचन,
> गीत - रस - धारा करि सिंचन संसार धूलि जाले।

× × ×

संसार माँझे दु एकटि सुर रेखे दिये जावकरि मधुर
दु एक टि काँटा करि दिब दूर तार परे छूटि निब।

तब यह कहना अत्यन्त संगत प्रतीत होता है कि संसार और समाज के मंगल में ही कवि-सृष्टि की सार्थकता है। साहित्यिक की सामाजिकता जब प्रबल हो उठती है, तब उसका साहित्य समाज के सुख-दुख, हानि-लाभ, आशा-निराशा, उत्थान-पतन आदि से निरपेक्ष नहीं हो सकता।

शरच्चन्द्र का तो कहना है कि 'समाज के संग घुल-मिलकर उसके अन्तर की कामना और वासना का आभास देना ही साहित्य है।' इससे स्पष्ट है कि साहित्य के उपादान का क्षेत्र समाज है।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य के क्षेत्र दोनों हैं—प्रकृति और समाज। प्रकृत्ति - संबंधी कविताओं का भी समाज से सम्पर्क देखा जाता है। वसंत शीर्षक कविता का एक पद्य देखें—

सौरभ की शीतल ज्वाला से फैला उर-उर में मधुर दाह।
आया वसंत भर पृथ्वी पर स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह!—पंत

इसमें प्रकृति मनुष्य - जीवन से पृथक् नहीं कही जा सकती; किन्तु ऐसी कविता का यह उद्देश्य नहीं होता कि वह समाज को कुछ दे। वह सामाजिक हिताहित से निरपेक्ष रहती है। उसका काम केवल आनन्द देना है। पर समाज को लक्ष्य करके लिखा गया साहित्य उसके हिताहित से संबंध रखता है।

जब भाषा और भाव का संबंध है, तो एक की भाषा को दूसरा समझे-बूझेगा ही। चाहे उसका प्रभाव उस पर बुरा पड़े या भला। व्यक्ति से समाज का संबंध जोड़ना ही तो भाषा का मुख्य उद्देश्य है। लौकिक साहित्य समाज से कभी वंचित नहीं रह सकता। समाज की वासना भाषा द्वारा व्यक्त होने के कारण प्रेमचन्द की रचना को विशेष महत्त्व प्राप्त है; क्योंकि इसका समाज से विशेष संबंध है। मनुष्य का विचार भाषा में मूर्तिमान होकर समाज में आता है और उसे गति देता है।

साहित्य में मुख्यतः दो तत्त्वों की झलक पायी जाती है। एक तो साहित्यिक के व्यक्तित्व की और दूसरी सामाजिक वातावरण की। साहित्यकार जैसे परिवर्त्तनशील सामाजिक प्रवृत्ति और अभिरुचि

की ओर ध्यान देता है, वैसे अपने व्यक्तित्व की ओर भी लक्ष्य रखता है। यदि वह एकान्ततः समाज की ओर ही आकर्षित होता है, तो उसका व्यक्तित्व रहने नहीं पाता। साहित्य को समाज का दर्पण बनाना उसे अभीष्ट है, तो उसे उसपर अपने व्यक्तित्व की छाप डालना भी अभिप्रेत है। साहित्यिक समाज की वस्तु को ज्यों-की-त्यों नहीं लौटा देता; बल्कि उसको अपना रंग-रूप दे देता है और उसमें अपने अन्तर का रस उँडेल देता है, जिससे वह आस्वाद योग्य बन जाती है।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उक्त सामाजिक वातावरण की सीमा नितान्त संकुचित है; क्योंकि इसमें समाज का वह बड़ा भाग नहीं आता जो अशिक्षित और स्वभावतः अभावग्रस्त है। रहस्यवादी कविता को पढ़नेवाली शिक्षित जनता रामायण पढ़नेवाली अशिक्षित जनता की अपेक्षा बहुत सीमित है। अभावग्रस्त जनता को तो कोई भी साहित्य फूटी आँखों भी नहीं सुहाता।

आजकल का साहित्य विशेषतः काव्य भावप्रधान न होकर वस्तुप्रधान जो होता है, उसके कारण वही समाज की परिवर्तनशील परिस्थिति और समष्टि-जीवन के साथ व्यष्टि-जीवन का संघर्ष ही हैं।

साहित्यिक भी सामाजिक जीव हैं। समाज के सुख-दुख, राग-विराग, भाव-अभाव आदि उसके मन को उद्बुद्ध करते हैं, जिससे साहित्य पर उसकी छाया पड़ती है। यथार्थतः लौकिक और सामाजिक जीवन ही साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उपादान है। मनुष्य के लौकिक जीवन को लेकर ही साहित्य की ऐसी सृष्टि की गयी है जिसमें जीवन की विविध दशाओं का दिग्दर्शन होता है।

समाज नयी व्यवस्था के लिए जो आन्दोलन खड़ा करता है, वह साहित्यिकों के चित्त को भी चंचल कर देता है। इसी समय साहित्य और समाज के संबंध का प्रत्यक्ष निदर्शन होता है। इस दशा में साहित्य की जो सृष्टि होती है, वह समाज में समादर का भाजन बनती है। समाज के प्रभाव का ही यह फल है कि छायावादी कवि पंत प्रगतिवादी या समाजवादी कवि बन गये। यद्यपि उनकी छायावाद की कविता में परिपक्व प्रतिभा की झलक प्रगतिवादी कवितावली नहीं पायी जाती। तथापि समाज ने उन्हें ऐसी कविता करने के

लिए अपने प्रभाव से विवश कर दिया। जब हम देखते हैं कि गुप्तजी अपने प्रबन्ध-काव्य 'साकेत' में गीति कविता लिखने का मोह छोड़ न सके, तो बरबस कहना पड़ता है कि उनपर गीति कविता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। यह इस बात का प्रमाण है कि सामाजिक परिवर्तन की विशेष-विशेष अवस्थाओं में साहित्यिकों की मानसिक दशा की भी विशेष भावभंगी देखी जाती है।

जिन साहित्यिकों का चित्त सामाजिक चंचलता से चंचल नहीं होता, उनकी भी कल्पना सामाजिक स्थिति से अछूती नहीं रह पाती। महादेवी की कविता प्रायः व्यक्तिवैशिष्ट्यमूलक होती है। उनकी दिशा सदा एक-सी रही। उनकी काव्यधारा एक ओर को ही बहती रही है; पर वे भी समाज को नहीं छोड़ सकीं। ऐसी कविता व्यष्टिगत होकर भी समष्टिगत हो जाती है। जब वे कहती हैं—

> देकर सौरभदान पवन से कहते जब मुरझाये फूल,
> 'जिसके पथ में बिछे वही क्यों भरता इन आँखों में धूल'!
> 'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुंजार,
> मर्मर का रोदन कहता है, 'कितना निष्ठुर है संसार।'

इसमें स्वार्थी समाज का कैसा सच्चा चित्र है। साहित्य और समाज के निकट सम्पर्क में कोई सन्देह नहीं।

मैथ्यू आर्नल्ड ने साहित्य वा काव्य को जो जीवन की व्याख्या कहा है, उसका मूल सामाजिक जीवन ही है। यद्यपि यह उक्ति तर्क-वितर्क-शून्य नहीं कही जा सकती, तथापि यह भी कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि वही साहित्य उत्कृष्ट साहित्य कहलाने का अधिकारी है, जिससे मानव-जीवन के संबंध में गंभीर सत्य का परिचय मिलता हो, इस सत्य की प्राप्ति ही जीवन की यथार्थ व्याख्या है। मानव-चरित्र वा मानव-जीवन से सम्पर्क रखनेवाला साहित्य ही यथार्थ साहित्य है। जनता की जीवनधारा के साथ जिस साहित्य का घना संबंध रहेगा, वही साहित्य मूल्यवान, महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ समझा जायगा।

जिस साहित्य में सख्य, साम्य और स्वाधीनता की वाणी रहती है, उसका लक्ष्य तो विशेषतः समाज ही होता है। समाज में कौन

किसी से हीन होकर रहना चाहता है ? कौन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श देखना नहीं चाहता ? बन्धन-मुक्त होने की कामना किसको नहीं होती ? यही कारण है कि 'भारत भारती' भारत की भारती हुई। 'युगवाणी' भी युग की वाणी है ; किन्तु सामयिक उथल-पुथल के साहित्य में सामान्यतः यह देखा जाता है कि सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होने से उसका वह महत्त्व नहीं रह जाता ; किन्तु जो साहित्य यथार्थतः साहित्य है, उसका रंग सदा चोखा रहता है। भारतीय स्वतंत्रतान्दोलन के प्रारम्भ में सैकड़ों गीतों की प्रान्तीय भाषाओं में रचना हुई थी, पर आन्दोलन का उफान कम होते ही वे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रोपोगैंडा मात्र होकर लुप्त हो गयी ; क्योंकि वह यथार्थ साहित्य नहीं था। पर जिस गीत की गति और लय पर उनकी रचना हुई थी वह गीत—

> "सुन्दर सुभूमि भइया भारत के देशवा से
> मोर प्राण बसे हिमखोह रे बटोहिया।"

यथार्थ साहित्य होने के कारण अब भी वही महत्त्व रखता है।

देखा जाता है कि साहित्य यदि सामाजिक रीति-नीति के विरुद्ध जाता है, तो मनुष्य का सामाजिक मन विचलित हो उठता है और समाज के अनुकूल चलने में साहित्यकार के व्यक्तित्व पर धक्का लगता है, उसकी स्वतंत्रता का अपहरण होता है; किन्तु मूल में दोनों का विरोध नहीं। दोनों के पृथक् धर्म है। समाजतत्त्व का विचार सामाजिक दृष्टि से और साहित्य का विचार साहित्यिक दृष्टि से होना चाहिए।

जो साहित्यिक कला की दुहाई देकर यथार्थता (Realty) के नाम पर सामाजिक नग्न साहित्य को व्यक्त करना चाहते हैं, वह उचित नहीं। कारण यह कि मनुष्य जीवन की मूल भित्ति नीति ज्ञान है। साहित्य में उसके विपरीत होने से साहित्य जीवन की व्याख्या नहीं हो सकता। नीति-विहीन मनुष्य का मनुष्यत्व रह ही नहीं जाता। अतः कला के नाम पर दुर्नीति और अश्लीलता का प्रश्रय देना साहित्य की शक्ति और उसकी महत्ता को लुप्त करना है।

रोजर फ्रर्ट का कहना है कला के इतिहास में महान् आर्ट सामाजिक होता है।[1] सारांश यह कि साहित्य और समाज का संबंध अविच्छेद्य है।

समाजवादी और प्रगतिशील सम्पूर्णानन्द का कहना है कि 'आज के साहित्यिकों का कर्त्तव्य है कि वे समझें कि जिनके सम्मुख उनकी रचना जाती है यदि वे उनकी स्थिति का अध्ययन कर अपनी रचना में प्रकाश डालेंगे, तो उनकी रचना एक अमर रचना होगी, साथ ही प्रभावकारी होगी।'

बारहवीं किरण

साहित्य की सार्वभौमिकता

साहित्य में मनुष्य अपने आनन्द को किस प्रकार प्रकाशित करता है और उस प्रकाशन की विचित्र मूर्ति में मनुष्य की आत्मा अपने किस रूप को दिखाना चाहती है, वही विश्व-साहित्य में देखने की यथार्थ वस्तु है।

साहित्य की सार्वभौमिकता का प्रमाण उसकी सार्वजनीनता और सार्वकालिकता है। यही साहित्य की सर्वश्रेष्ठता का भी निदर्शन है। ऐसा साहित्य तभी प्रस्तुत होगा,जब कि उसका उपादान सर्वहृदयसंवादी हो।

साहित्यिक की साहित्यिक कुशलता इसी में है कि जब हम उसकी कलाकृति की वर्णन-निपुणता को छोड़ भाव में पैठें, सामग्री को छोड़ अन्तरात्मा में पैठें, तब एक ऐसी अपूर्व और उदार वस्तु को प्राप्त करें जो अपनी ही ज्ञात हो। हम काव्य-साहित्य से जिस अभिव्यंजना का उपभोग करना चाहते हैं, वह उसमें प्राप्त हो जहाँ प्राण खुलकर समग्र विश्व मानव को आलिंगन करना चाहते हों। उसके भीतर एक बृहत् का ऐसा भाव हो जो अमित, असीम और विपुल—विशाल हो।

---

1. What the history of art definitly eluc,dates is that the greatest art has always been communal. tbe expression in highly individal ways, no doubt—of common aspirations and ideals—Roger Fry.

जहाँ तक मनोवेगों को तरंगित करने, सत्य के तत्त्व को चित्रित करने और मनुष्य मात्रोपयोगी उदात्त विचार व्यक्त करने का संबंध है, वहाँ तक संसार का साहित्य सबके लिए समान है। ऐसा साहित्य एक युग का होने पर भी युग-युगान्तर का होता है और सारे संसार का वांछनीय पदार्थ।

आस्वादनीय रस और मननीय सत्य साहित्य के ऐसे साधारण धर्म हैं, जिनकी उपलब्धि सभी देशों के वाङ्मय में होती है। इसमें जो शाश्वत सौन्दर्य और अनिर्वचनीय आनन्द होता है, वह देश-विशेष का, काल-विशेष का, जाति-विशेष का या समाज-विशेष का नहीं होता। कारण यह कि परीक्षित होने पर अपने रूप में प्रकाशित ये दोनों वैज्ञानिक सत्य के समान वैशिष्ट्यशून्य एकरस और एकरूप होते हैं।

मानव-चरित्र भी बड़ा विचित्र है। साहित्य मानव-चरित्र के चित्रण की भी चेष्टा करता है। वस्तुतः साहित्य के दो ही तो विषय हैं—एक मानव-हृदय और दूसरा मानव - चरित्र। मानव - चरित्र के यथार्थ चित्रण का चित्र भी युग-युग का होता है। विश्वविख्यात शकुंतला नाटक में ऐसे ही चरित्र-चित्र हैं, जिनपर सारा संसार मुग्ध है। उसकी चरित्र सृष्टि साहित्य की अमर विभूति है।

जीवन की गंभीर अभिव्यक्तिमूलक साहित्य में भी कुछ ऐसा तत्त्व विद्यमान रहता है कि एक देश और एक काल में उत्पन्न होकर भी वह युग-जाति से निरपेक्ष,सार्वदेशिक और सार्वकालिक होता है। वह तत्त्व रहस्यमय होता है। अभिप्राय यह कि सामयिकता की सीमा में प्रस्तुत होने पर भी कलाकार की कृति में कलम की कुछ ऐसी करामात रहती है कि वह चिरन्तन हो जाती है।

कालचक्र में पड़कर जो साहित्य प्रस्तुत होता है, उसका महत्त्व कालान्तर में रुचि-परिवर्तन के कारण नष्ट हो जाता है। उस काल में साहित्य के लिए नये-नये उपकरणों का आयोजन करना पड़ता है। उसमें सार्वकालिकता वा सार्वजनीनता नहीं रहने पाती। एक बात और। जिस साहित्य का कला-कौशल, पदलालित्य, अर्थगौरव आदि में से एक दो विषय ही प्राणाधार हैं, उसका जीवन मरणशील मनुष्य का-सा ही है। पर साहित्य की जो प्राण-वस्तु है, उसका अवसान नहीं होता। वह चिरनूतन और रहस्यमय है। इसी चिरन्तन

वस्तु को जिस साहित्य में रूप और वाणी दी गयी है और जिसका योगक्षेम मानव हृदय के साथ किया गया है, वही साहित्य विश्व-साहित्य कहलाने की योग्यता रखता है।

जिस साहित्य में मानवों की मुक्ति की वाणी हो, बन्धन छिन्न करने का आह्वान हो, जिसकी प्रेरणा मानवमन को जागृत करती हो और जिसमें विश्व-प्रेम की पुकार हो, वही विश्वजनीन साहित्य है। विश्व-कल्याण की कामना से जिस साहित्य का उत्थान है और जो साहित्य विश्व-मानव का आदर्श उपस्थित करता है, वही साहित्य देश-काल के बन्धन में बद्ध नहीं रह सकता और न उसका द्वार ही कभी अवरुद्ध रह सकता है, उसका आलोक विश्व को प्रकाशित करता है।

सार्वभौमिक साहित्य आनन्द-दान के साथ-साथ जीवन-यात्रा को प्रशस्त करता है, विभिन्न संस्कृति तथा सभ्यता के मानवों को अकुंठित भाव से अपनी ओर आकर्षित करता है और अपनी उदारता की विशाल बाहुओं को देश-काल-पात्र-निरवच्छिन्न व्यक्ति सामान्य को अपने आलिंगन में आबद्ध करने के लिए निरन्तर फैलाये रहता है।

मानव-जीवन एक प्रकार का कुशल कलाकार है, चतुर चितेरा है। वह देश-देश में, युग-युग में अपने में नित नूतन रंग भरता रहता है, नये-नये साँचों में ढाला करता है और रहस्यमय विचित्र चित्र आँका करता है। जीवन का यह सृष्टि-कार्य जिस साहित्य में कौशल के साथ व्यक्त होता है, वह सार्वजनीन साहित्य अक्षय और अमर है। रबिन्सन क्रुसो, गाँधीजी की आत्म-कथा वा 'सत्य के प्रयोग' हितोपदेश आदि ऐसे ही अपूर्व साहित्य हैं।

जो साहित्यिक अपनी अन्तरात्मा को जानता-पहचानता है और जो अनुभूति की विभूति से विभूतिमान है, वह ऐसी सार्वजनीन साहित्य की सृष्टि कर सकता है, जो विश्व-साहित्य को आत्म-दर्शन कराकर लुब्ध—मुग्ध कर देती है; एक के एकान्त हृदय की वाणी को विश्व की वाणी बना देती है। उस समय निम्नलिखित पंक्तियों में चित्रित सौन्दर्य-चित्र व्यक्ति विशेष का न होकर व्यक्ति विशेष का हो जाता है। जब कालिदास कहते हैं—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः"

अर्थात् क्षण-क्षण में जो नया ही नया प्रतीत हो, वही सौन्दर्य है। विद्यापति भी यही कहते हैं—

"जनम अवधि हम रूप निहारिनु नयन न तिरपित भेल
लाख-लाख युग हिये हिय राखल तइयो हिय जुड़न न गेल।"

मतिराम की मति भी यही है—

"ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निखरै सी निकाई।"

भावापहरण की शंका व्यर्थ है। यह सौन्दर्य-दृष्टि बाहर की नहीं भीतर की है। यह चर्मचक्षुओं से उतना नहीं देखा जाता, जितना अन्तर की अनुभूति की दृष्टि से। इसको हम आङ्गिक सौन्दर्य न कहकर आत्मिक सौन्दर्य कह सकते हैं। इसमें वासना का लवलेश नहीं है प्राणों का अमृतोपम-प्रेम। यह एक हृदय की सरस अनुभूत वाणी है, पर इसमें सभी के लिये रस का उत्स प्रवाहित है।

सौन्दर्य के संबंध में नवीन कलाकारों की भी कैसी हृदय की गहराई से निकली अनुभूत अपूर्व वाणी है—

'हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो मौन बने रहते हो क्यों।'—प्रसाद

इसमें अरूप सौन्दर्य को सुकुमार रूप देकर उसको प्रत्यक्ष कराने का आग्रह है। इसका भाव जितना ही गूढ़ और सूक्ष्म है, उतना ही नीचे की पंक्ति का भाव स्पष्ट है, पर है अपूर्व और थोड़े में बहुत कुछ कह डाला गया है—

'अकेली सुन्दरता कल्याणि सकल ऐश्वर्यों का आधान।'—पंत

इन दोनों पंक्तियों की तुलना वर्णनवैशिष्ट्य को भी—बाह्य और अन्तरवर्णन की विशेषता को भी स्पष्ट कर देती है।

सच्चे साहित्यिकों के ये सच्चे उद्‌गार हैं। उपर्युक्त सभी पंक्तियाँ उस साहित्यिक सत्य को प्रकट करती हैं, जो सार्वजनीन और सार्वकालिक है। इसमें देश, काल, पात्र आदि का कोई व्यवधान नहीं है।

जो साहित्यिक मनुष्य की सार्वकालिक और सार्वदेशिक चिरन्तन मनोवृत्ति के साथ सामंजस्य स्थापित करके साहित्य-सृष्टि करता है; जो देश कालातीत भावलोक में रमता हुआ साहित्य-रचना करता है; जो साहित्यिक साहित्य-सृष्टि के समय तन्मय होकर

अपने को भूल जाता है, उसी के हृदय से जो वाणी निकलती है, वह विश्ववरेण्य हो जाती है।

अन्त में कवीन्द्र के शब्दों में यही कहना है कि "हमारी, तुम्हारी संकीर्णता से अपने को मुक्त करके विश्व-साहित्य में विश्व-मानवों को देखने का लक्ष्य स्थिर करना होगा। प्रत्येक लेखक की रचना में एक समग्रता का ग्रहण करना होगा और उस समग्रता में समस्त मनुष्य की प्रकाश चेष्टा का संबंध देखना होगा। इसका समय आ गया है।"

तेरहवीं किरण

साहित्य और सामयिकता

साहित्यिक के सामने यह एक विवाद का विषय बन गया है कि वह मनुष्य की उन भावनाओं और मनोवृत्तियों का अवलम्बन करके अपनी रचना को अग्रसर करता रहे अथवा देश-काल को, युगधर्म को, समय की आवश्यकता को प्रधानता देकर अपनी शक्ति को संचालित करे। एक कहता है कि साहित्य किसी युग से प्रभावित नहीं होता और दूसरा कहता है कि साहित्य अपने युग का प्रतिबिम्ब होता है।

देखा जाता है कि साहित्यिक का विशेषत: कवि का चिरन्तन चिन्ताशाली चित्त राजनैतिक आन्दोलन से, सामाजिक उथल-पुथल से, प्रकृति के प्रकोप से, दुखदायी दुर्घटनाओं से या ऐसी ही किसी अन्य असाधारण बातों से चंचल नहीं होता, उसका व्यक्तित्व विचलित नहीं होता, उसकी असाधारणता में बाधा नहीं पहुँचती। न तो वह ऐसी बातों से सहसा विक्षुब्ध ही होता और न विचलित। वह अपने आन्तरिक भाव-लहरियों में ही लहरता रहता है।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि सामयिक घटनाओं का प्रभाव साहित्यिकों के मन पर कितना पड़ता है। महाभारत का मूल महायुद्ध ही है, पर उसमें भी मानव-मन की आशा-आकांक्षाओं का आलोक ही अधिकतर फैला है। कालिदास के काव्य-नाटकों में भी

मानव-चरित्रों की उत्कृष्टता का ही निदर्शन है, राजनीति का महत्त्व नहीं। शेक्सपियर के नाटकों पर तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल का कुछ प्रभाव नहीं देख पड़ता। सिपाही-विद्रोह के समय कितने साहित्यिकों ने साहित्य-सृष्टि के लिये कलम उठायी? न उठाने का राजनीतिक कारण हो सकता है, पर यह कारण साहित्यिकों की कलम को रोक नहीं सकता था। मानसिक स्वाधीनता की रक्षा करते हुए स्वाधीनता-संग्राम में भाग लेना साहित्यिकों का सच्चा कर्त्तव्य है। पर किसी ने इस कर्त्तव्य की ओर ध्यान न दिया। कारण यही कि साहित्यिकों की भाव-प्रवणता ऐसी-ऐसी घटनाओं से उद्‌बुद्ध नहीं होती; उनका चित्त चिरन्तन की उपासना में ही निमग्न रहता है। हाल की हालत क्या है, यह भी देख लें।

ज़ार के अत्याचार से रूस जर्जर हो रहा था; पर टालसटाय—जैसे स्वतंत्र साहित्यिक भी उससे प्रभावित नहीं हो सके। अत्याचार की कोई घटना उनके हृदय को न हिला सकी, कोई घटना उनके साहित्य का विषय न बन सकी। वे 'अन्ना' की प्रेम-कहानी लिखते ही रहे। पंजाब-हत्याकाण्ड—जैसी दुर्घटना हो गयी, पर साहित्यिकों की तड़ित-सी तड़पनेवाली कलम अकर्मण्यता के अंधकार में न कौंध सकी। 'उग्र' की दो-तीन कहानियाँ गुदड़ी के लाल जैसी जहाँ की तहाँ रह गयीं। महादेवी वर्मा का आग्रह और उद्योग न होता तो बंगाल के दिल दहलानेवाले जल-प्लावन और दुर्भिक्ष का कुछ दुखड़ा भी रोया नहीं जा सकता।

समसामयिक घटनाओं पर भी साहित्य सृष्टि के लिए कुछ-कुछ प्रयत्न किया गया है। प्रारम्भ में मिल्टन ने कुछ राजनीतिक रचनाएँ की थीं। पर जब उन्होंने स्वयं अनुभव किया कि हम ईश्वरप्रदत्त कवित्व शक्ति की अवहेलना कर रहे हैं, तो उन्होंने वैसी रचना करना छोड़ दिया। रविन्द्र बाबू भी राजनीतिक क्षेत्र में आये। 'वन्देमातरम्' जैसे 'अयि भुवन मनमोहिनी' गीत लिखे, निबंध लिखे, आलोचनायें कीं। पर उनका मन इनमें नहीं रमा। वे राजनीति से पृथक् हो गये। वे अपना वही चिरन्तन राग छेड़ने लगे। उनके समय में अनेक उत्तेजक आन्दोलन उठ खड़े हुये, अनेकों दुर्घटनायें घटीं; पर उनके संबंध में कोई उल्लेख

अधिष्ठात्री एक ही देवी है और वह है मानसिक स्वाधीनता। कोई भी वाद उसका गण भले ही बन जाय, उसका सिंहासन हर्गिज़ नहीं ले सकता।" (विशाल भारत, जनवरी १९३७)

इसका यह अभिप्राय नहीं कि युग-धर्म के अनुसार वा भले-बुरे समय में कवि का कुछ कर्त्तव्य ही नहीं। है, और वह है जनता को विशेषत: युवकों को जाग्रत करना, सत्यानुसंधान के लिए सतत सचेष्ट करना, अपने आदर्श की रक्षा के लिये सर्वस्व समर्पण करने, अपने को निछावर कर डालने को लालायित कर देना आदि। साहित्यिकों को यह बात अविदित नहीं कि यूरोप के युद्ध में अनेकों कवियों ने अपने जीवन का होम दे दिया है।

द्वितीय महायुद्ध-काल में परतंत्र फ्रांस का कवि कहता है कि "हमारा समग्र शरीर और मन उस स्वाधीनता के लिए बड़े व्याकुल हैं, जिस स्वाधीनता को कुचल कर मिट्टी में मिला दिया गया है।"[१]

एक कविता की कुछ पंक्तियों का यह भाव है "यदि पवित्र मुख के आविर्भाव के पूर्व ही मेरी मृत्यु हो जाय, तो इससे क्या आता जाता है। एक न एक दिन उसका आविर्भाव अवश्य होगा ही। भाइयो, नाचो और नाचो। इस समय भूख, दुर्गति और प्रेम का प्रतिरूप ही तो हमारा देश है।"[२]

अन्यान्य भाषाओं में सामयिक साहित्य की सृष्टि हो रही है, जिनमें सामयिकता के साथ स्थायित्व भी है और जिनकी ऐतिहासिकता से अधिक साहित्यिकता है। 'मन्वन्तर' एक ऐसा ही उपन्यास है, जो बँगला से हिन्दी में आया है। ऐसा साहित्य प्रस्तुत करने का सौभाग्य शीघ्र ही हिन्दी को भी प्राप्त हो।

---

1 And my entire being yearns passionately for liberty,
For liberty, dragged to earth and murdered. (Loys asson)

2 It does not matter if die before
The emergence of the sacred face
Which will certainly again appear one day,
Let us dance, O! my friend let us dance
the capucine
My father land is hunger, misery and love! (Aragon)

चौदहवीं किरण

साहित्य और वास्तव

साहित्य ही हमारे आनन्द-दान का एक यथार्थ साधन है। साहित्य ही सान्त्वना देता है, आशान्वित करता है, जीवित और जाग्रत बनाता है। यह शाश्वत साहित्य से ही संभव है; किन्तु आधुनिक कलाकार साहित्य में चाहते हैं—वास्तविकता, यथार्थता, रियलिज्म (Realism)।

रियलिज्म से रिहाई पाने के लिए ही तो सहृदय काव्य के शरणापन्न होते हैं। जो लोग रियलिज्म-रियलिज्म के घनघोर रव से संसार को मुखरित करते हैं, क्या वे साहित्य में यथार्थ को, रियल को रियल के रूप में पाते हैं कि रियलिज्म का नारा बुलन्द करते हैं? रियल तो रिपोर्टों और अखबारों में ही मिलेगा। क्या साहित्यिक भी रिपोर्टर का ही काम करेंगे? इनकी आवश्यकता ही क्या? जो घटना घटित होती है, जो स्थूल है, वास्तव है, उसके लिए साहित्य की शुश्रूषा करने से लाभ?

किन्तु साहित्यिक का यह शुष्क नीरस कार्य नहीं। जो वास्तव है, उसपर साहित्यिक अपना रंग चढ़ाता है, उसको सुन्दर रूप देता है, स्थूल को सूक्ष्म बनाता है, लौकिक सत्य को साहित्यिक सत्य में परिणत करता है, मनोहर और रुचिकर बनाता है। इस दृष्टि से देखने पर कोई भी साहित्य रियलिस्टिक नहीं हो सकता। ओस की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये—

इनमें रियल तो इतना ही है न कि ओस घास-पात पर पड़ी चमकती है और प्रातःकाल होते ही सूख जाती है। क्या यह रियलिटी चित्त को कभी चमत्कृत, आकर्षित और आनन्दित कर सकती है? कवि ने जब इस वास्तव को अपने कलम से छू दिया है तभी सहृदयों के हृदयाकर्षण में यह रियलिटी समर्थ हो सकती है।

एक रियलिस्टिक कविता का कुछ अंश पढ़िये—

× × ×

याद रख यह विश्व उसका है
कि जिसकी मेहनतों पर पल रहा है
और जब संसार के
मजदूर और किसान पीड़ित
आज बदले का भयानक खून
आँखों में लिये अब बढ़ रहे हैं
देख लेगा तू कि वह जापान
जिसकी वासना का ताप
झुलसा-सा रहा है हिन्द
घोंट कर तेरा गला
फिर से बनाकर दास,
बाँधेगा विभीषण पाश!
बुद्ध प्रतीमा रंग गयी है
चीन शिशुओं के रुधिर से
घिर गया है मनुज अपने
अन्ध कलुषों के तिमिर से
और पशु-सा कर रहा है वार।
पूँजीवाद का दुर्दम भयानक
वह कठोर पिशाच!
कट गयी थीं अँगुलियाँ
तब भी उठा तलवार—श्री रांगेय राघव

यह कविता वास्तव है पर यथार्थतः कविता है कि नहीं, यह विचारणीय है; क्योंकि इसमें रागात्मकता का अभाव है; केवल

एक साधारण-सा विचार है। इसका हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वास्तव के विषय में रवीन्द्रनाथ का यह विचार है—

"स्मरण आता है कि 'ट्रुथ इज ब्यूटी' अर्थात् सत्य ही सौन्दर्य है; किन्तु सत्य में तभी सौन्दर्य का रस मिलता है, जब कि अन्तर में उसकी निविड़ अनुभूति को पाते हैं—ज्ञान में नहीं, स्वीकृति में। उसीको वास्तव कहते हैं।" विषय की वास्तविकता को छोड़कर काव्य की एक और दिशा है, जिसे शिल्पकला कहते हैं। जो युक्ति-गम्य है, उसको प्रमाणित करना पड़ता है और जो आनन्दमय है, उसको प्रकाश करना चाहिए। प्रमाण-योग्य को प्रमाण करना सहज है, पर आनन्दमय को प्रकाश करना सहज नहीं है। मैं प्रसन्न हूँ, इसको समझाने के लिए चाहिए सुर और भाव भंगी।" मेरा कहना यही है कि लेखनी के जादू से कल्पना के पारसमणि के स्पर्श से मदिरा का अड्डा भी वस्तुतः सुधापान-सभा हो सकती है; किन्तु वह होना चाहिए।···रियलिज्म के नाम पर सस्ती कविताओं की बड़ी भरमार है। पर आर्ट इतना सस्ता नहीं है। धोबी-घर के मैले कपड़ों की लिस्ट लेकर भी कविता की जा सकती है।···किन्तु विषय-निर्वाचन से रियलिज्म नहीं होता। रियलिज्म का प्रकाश लेखनी के जादू से ही होगा। विषय-निर्वाचन की बात लेकर झगड़ना नहीं चाहता, सम्पादकों से मेरा अनुरोध है कि वे प्रमाणित करें कि रियलिस्टिक कविता कविता हो सकती है, किन्तु रियलिस्टिक होने से नहीं, कविता होने से।"

एक रियलिस्टक कविता की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये—

सूखी रोटी खायगा जब कृषक खेत में धरकर हल
तब दूँगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गंगाजल
उसका तन का नित्य स्वेदकण बनकर गिरती जाऊँगी
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊँगी
शस्य श्यामला निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा
तब मैं उसके हृदय-स्रोत में उमड़ूँगी बनकर आशा
अर्द्धनग्न दम्पति के घर में मैं झोंका बन आऊँगी
लज्जित हो न अतिथि सम्मुख वे दीपक तुरत बुझाऊँगी।

—दिनकर

इनमें रियल तो इतना ही है न कि ओस घास-पात पर पड़ी चमकती है और प्रातःकाल होते ही सूख जाती है। क्या यह रियलिटी चित्त को कभी चमत्कृत, आकर्षित और आनन्दित कर सकती है? कवि ने जब इस वास्तव को अपने कलम से छू दिया है तभी सहृदयों के हृदयाकर्षण में यह रियलिटी समर्थ हो सकती है।

एक रियलिस्टिक कविता का कुछ अंश पढ़िये—

× × ×

याद रख यह विश्व उसका है
कि जिसकी मेहनतों पर पल रहा है
और जब संसार के
मजदूर और किसान पीड़ित
आज बदले का भयानक खून
आँखों में लिये अब बढ़ रहे हैं
देख लेगा तू कि वह जापान
जिसकी वासना का ताप
झुलसा-सा रहा है हिन्द
घोंट कर तेरा गला
फिर से बनाकर दास,
बाँधेगा विभीषण पाश !
बुद्ध प्रतीमा रंग गयी है
चीन शिशुओं के रुधिर से
घिर गया है मनुज अपने
अन्ध कलुषों के तिमिर से
और पशु-सा कर रहा है वार।
पूँजीवाद का दुर्दम भयानक
वह कठोर पिशाच !
कट गयी थी अँगुलियाँ
तब भी उठा तलवार—श्री रांगेय राघव

यह कविता वास्तव है पर यथार्थतः कविता है कि नहीं, यह विचारणीय है; क्योंकि इसमें रागात्मकता का अभाव है; केवल

देहाती कहानियों जैसी कहानियाँ, लोकोक्तियों जैसी लोकोक्तियाँ और लटके-लतीफे जैसे लटके-लतीफे। साहित्य का यही सोपान था।

फिर एक युग आया। अब मनुष्य को अपनी रचना भद्दी मालूम होने लगी और उससे जो उसे आनन्द प्राप्त होता था, वह भी शिथिल पड़ गया। अब वह जैसे-तैसे जो कुछ कहने को लालायित नहीं रहा। उसकी रुचि विषय-निर्वाचन की ओर हुई। वह जो कुछ कहना चाहता, साज-सँवारकर, प्यार-दुलार भरकर। इतने पर भी यह लोक-परम्परा से ऊपर उठ न सका। उसकी रचना से ग्रामीणता का आभास दूर नहीं हुआ। उसकी स्थूल दृष्टि कुछ सूक्ष्म हुई, उसका बाहरी क्षेत्र भी विस्तृत हुआ, उसका संसार से परिचय भी बढ़ा, कभी-कभी उसकी वाणी मनुष्य मात्र की वाणी भी हुई, पर उसकी संकीर्णता नहीं मिटी। क्योंकि उसमें उदार अनुभूति नहीं थी और न थी अभिव्यक्ति की कुशलता।

ऐसी रचना प्राकृत जीवन की सी विशृंखल, शिथिल और अपर्याप्त थी। इसमें अपने भाव को सहज-सरल रीति से व्यक्त करने की चेष्टा थी, पर अपनी सीमा से बाहर नहीं हो सकी। इसकी दृष्टि सीमित और संकुचित थी। वह रचना लौकिक परम्परा से ऊपर नहीं उठ पायी।

साहित्य का यह दूसरा सोपान है। इसमें सन्देह नहीं कि यहीं प्रकृत साहित्य का शिलान्यास हुआ।

आधुनिक काल में भी उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं का अभाव नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं कि एक काल में जो रचना हो गयी, वह दूसरे काल में न होगी। इस निरवधि काल और विपुला पृथ्वी में मनुष्य कभी एक ही स्वभाव का न हुआ और न होगा। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः'। मेरे दो काल और दो श्रेणियाँ कायम करने का कारण यही है कि प्रारम्भ में सब प्रकार की विच्छृंखलता थी, शिक्षा-सुरुचि और सभ्यता का अभाव था और बाद में इनका कुछ सुधार हुआ, तो रचना में भी कुछ विशेषता आयी।

साहित्य के तृतीय सोपान का श्रीगणेश तब हुआ, जब साहित्य में नया सुर फूँका गया, नयी संजीवनी शक्ति का संचार किया गया। उसमें साहित्य की सारी सम्पत्ति उपलब्ध है और आध्यात्मिक सत्ता का भी अभाव नहीं है।

"रियलिस्टिक कविता कविता हो सकती है; किन्तु रियलिस्टिक होने से नहीं, कविता होने से।" इस उक्ति का यह यथार्थ उदाहरण है। हम दुखी हैं, हम भूखों मर रहे हैं, हमपर विपत्तियों का घन घहरा रहा है आदि वास्तव भावनाओं को ऐसा व्यक्त करना चाहिए कि वह सजीव हो उठे। तभी रियलिस्टिक कविता हो सकती है।

पन्द्रहवीं किरण

साहित्य के सोपान

मनुष्य ने जब अपना होश सँभाला, पशु से अपने में भेद देखा, अपने को समझा-बूझा, जाना-पहचाना और घर के काम-काज से कुछ अवकाश पाया, तब उसे मनोविनोद वा मन-बहलाव की बात सूझी। वह कुटिया में रहता, घर-गृहस्ती सँभालता, खेतों में काम करता और घूम-फिरकर लौट आता। यही उसका संसार था। इस संकुचित क्षेत्र में जो कुछ स्थूल दृष्टि से वह देखता, उसी के बारे में सोचता, ऐसे ही आस-पास के वातावरण में बँधा-बँधा जो कुछ अनुभव करता, बात बना-बनाकर कहता और उसका आनन्द लेता-देता।

इस समय की जो रचना थी या बात की बनावट थी, उसका विषय था प्रतिदिन की आँखों के सामने घटनेवाली घटनायें, गृहस्थी के सुख-दुख, स्वाभाविक हाव-भाव और ऐसी ही अन्यान्य बातें। कल्पना नाम मात्र की थी, संकुचित, आबद्ध, भाषा भाव-प्रकाश में असमर्थ, असंबद्ध और अद्ध स्फुट; किन्तु सरल तरल। अर्थ भी अटपटा, किन्तु सहज सुबोध। रूपरंग भी रूखा-सूखा, पर भाव सुलभ-सुगम।

इस समय का साहित्य तुकबन्दियों और कहानियों के रूप में ही हुआ। इसमें गँवारूपन था, गँवईपन था। अतः इसे प्राकृत साहित्य, ग्राम-साहित्य वा लोक-साहित्य कह सकते हैं। क्योंकि यह सर्व-साधारण के साधारण जीवन का ही प्रतिविम्ब था। आजकल की

देहाती कहानियों जैसी कहानियाँ, लोकोक्तियों जैसी लोकोक्तियाँ और लटके-लतीफे जैसे लटके-लतीफे। साहित्य का यही सोपान था।

फिर एक युग आया। अब मनुष्य को अपनी रचना भद्दी मालूम होने लगी और उससे जो उसे आनन्द प्राप्त होता था, वह भी शिथिल पड़ गया। अब वह जैसे-तैसे जो कुछ कहने को लालायित नहीं रहा। उसकी रुचि विषय-निर्वाचन की ओर हुई। वह जो कुछ कहना चाहता, साज-सँवारकर, प्यार-दुलार भरकर। इतने पर भी यह लोक-परम्परा से ऊपर उठ न सका। उसकी रचना से ग्रामीणता का आभास दूर नहीं हुआ। उसकी स्थूल दृष्टि कुछ सूक्ष्म हुई, उसका बाहरी क्षेत्र भी विस्तृत हुआ, उसका संसार से परिचय भी बढ़ा, कभी-कभी उसकी वाणी मनुष्य मात्र की वाणी भी हुई, पर उसकी संकीर्णता नहीं मिटी। क्योंकि उसमें उदार अनुभूति नहीं थी और न थी अभिव्यक्ति की कुशलता।

ऐसी रचना प्राकृत जीवन की सी विशृंखल, शिथिल और अपर्याप्त थी। इसमें अपने भाव को सहज-सरल रीति से व्यक्त करने की चेष्टा थी, पर अपनी सीमा से बाहर नहीं हो सकी। इसकी दृष्टि सीमित और संकुचित थी। वह रचना लौकिक परम्परा से ऊपर नहीं उठ पायी।

साहित्य का यह दूसरा सोपान है। इसमें सन्देह नहीं कि यहीं प्रकृत साहित्य का शिलान्यास हुआ।

आधुनिक काल में भी उक्त दोनों प्रकार की रचनाओं का अभाव नहीं है। यह कोई आवश्यक नहीं कि एक काल में जो रचना हो गयी, वह दूसरे काल में न होगी। इस निरवधि काल और विपुला पृथ्वी में मनुष्य कभी एक ही स्वभाव का न हुआ और न होगा। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः'। मेरे दो काल और दो श्रेणियाँ कायम करने का कारण यही है कि प्रारम्भ में सब प्रकार की विच्छृंखलता थी, शिक्षा-सुरुचि और सभ्यता का अभाव था और बाद में इनका कुछ सुधार हुआ, तो रचना में भी कुछ विशेषता आयी।

साहित्य के तृतीय सोपान का श्रीगणेश तब हुआ, जब साहित्य में नया सु' फूँका गया, नयी संजीवनी शक्ति का संचार किया गया। उसमें साहित्य की सारी सम्पत्ति उपलब्ध है और आध्यात्मिक सत्ता का भी अभाव नहीं है।

चौथे सोपान का आरंभ तब हुआ जब यथार्थतः विश्व-साहित्य निर्माण होने लगा और उसमें विश्व-मानव की झलक दीख पड़ने लगी। अभिप्राय यह कि वह भाव देश-काल के बंधन को पार कर गया। कारण, उसके पहले का वह भाव देश-काल की सीमा में आबद्ध होकर अपनी वृत्तियों को लिये खण्ड-खण्ड में बँटा हुआ था, सो अब नहीं रहा। उसने सभी देशों और सभी जातियों से अपना संबन्ध दृढ़ कर लिया है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इसी कारण इस समय साहित्य में कुछ-कुछ विश्व-भाव दीख पड़ता है। यह सब न रहने पर भी वैदिक ऋषि, बालमीकि, कालिदास आदि जो विश्व-साहित्य की रचना कर गये हैं, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विश्व-साहित्य की रचना के लिए वाह्य जीवन की जागतिक संबन्ध, देश-देश और युग-युग की अनुभूति, आनन्द उतना आवश्यक नहीं, भले ही संकीर्णता दूर करने, सीमोल्लंघन करने में सहायक हों, जितना कि आवश्यक है, अपने अन्तरंग में विश्वसत्ता को देखना, अपने अन्तर से ही उसको जानना-पहचानना। ऐसे विश्व-भाव की सृष्टि करनेवाले केवल रवीन्द्रनाथ को ही विश्व-साहित्य के निर्माता की उपाधि दी गयी है।

विश्व-साहित्य के निर्माणेच्छुक साहित्यिकों के लिए तीन बन्धन हैं, जिन्हें छिन्न-भिन्न करना आवश्यक है। देह का बन्धन, प्राण का बन्धन और मन का बन्धन। पहला देह का बन्धन है, अर्थात स्थूल दृष्टि से ही केवल इन्द्रियानुभूति, जो आँखों देखा जाय, जिसका अनुभव इन्द्रियों द्वारा ही हो। जो वाह्यविषय हो, उसी को सत्य समझकर रचना करना। अभिप्राय यह कि जो जैसा चर्म चक्षु से दृष्ट हो, उसको वैसा ही चित्रित करना,—एक प्रकार की फोटोग्राफी। इसका ही नाम वस्तु-तान्त्रिकता है—रियलिज्म (Realism)। विश्व-साहित्य वस्तुगत नहीं, वह बाहर का नहीं, देह का विषय नहीं। यह हृदय को छू नहीं सकता।

यही कारण है कि भावतान्त्रिक इसका विरोध करते हैं। उनका कहना है कि बाहर में, देह में समग्र विश्व की उपलब्धि असंभव है। जब तक हम देह में आबद्ध हैं, तब तक उस दुर्लभ वस्तु का पाना संभव नहीं। इससे वस्तुतान्त्रिक कवि प्रकृत साहित्य के—विश्व-साहित्य के सर्जक नहीं हो सकते।

किन्तु जिस भावात्मकता के प्राण वा मन के आवेग के ऊपर निर्भर करके रचना की जाती है, उसमें भी विश्वात्मक साहित्य का अभाव ही रहता है। इसमें सन्देह नहीं कि देह की अपेक्षा प्राण की प्रतिष्ठा विशेष है, तथापि भावोद्वेगमूलक कविता में विश्वात्मा को ढूँढ़-कर भी नहीं पा सकते; क्योंकि उसमें औद्धत्य और व्यक्तित्व की ही विशेषता रहती है। जिस रचना में अहंभाव की मात्रा हो, जो देश काल के भीतर घिरकर ही अपने अनुभव को कल्पना का रूप देता हो, वह कैसे अपने विश्व के उदार भाव को दे सकता है? इसीसे मनुष्य का दूसरा बन्धन प्राण है।

इससे बुद्धिवादी कहते हैं मन-बुद्धि पर निर्भर करके सोच-विचार करके जो कविता की जाती है, उसमें ये दोष नहीं दीख पड़ते। जिसमें चिन्ता की चाशनी रहती है उसमें न तो उच्छृंखलता या औद्धत्य, न तो व्यक्तित्व की प्रधानता और न तो संकीर्णता रहती। पर बात ऐसी नहीं। मान लिया कि उसमें सब गुण विद्यमान हैं, पर विश्व-साहित्य के लिए जो आवश्यक है, वह उसमें नहीं है। केवल चिन्ता, विचार और तर्क की सहायता से जो साहित्य प्रस्तुत होगा, वह भले ही क्लासिकल हो, आदर्श साहित्य हो, पर विश्व-साहित्य नहीं हो सकता, विश्व-सौंदर्य को नहीं झलका सकता। वह विश्व-साहित्य का ढाँचा भले ही तैयार कर दे, पर उसमें प्राण नहीं फूँक सकता। यह रचना पीछे के दोनों स्तरों पर ही निर्भर करती है। इससे उनके दोष-गुण इसमें मिश्रित रहते हैं। बुद्धि का काम ही है विश्लेषण करना खण्ड खण्ड करके देखना। इस देखने में अखण्डता आयेगी ही कैसे? विशाल विश्व की एकात्मकता का बोध होगा ही कैसे? इससे मन भी मनुष्य का तीसरा बन्धन है।

देह, प्राण, मन बाहर की वस्तु हैं। एकान्त देह, मन और प्राण का क्षेत्र ससीम और भेद-विशिष्ट है। आत्मा ही एकमात्र अन्तर की वस्तु है और उसी का केन्द्र विश्व है। आत्मा के पकड़ने से विश्व भी पकड़ा जा सकता है। भावार्थ यह कि विश्व-साहित्य के लिए स्थूल इन्द्रियों की अनुभूति, भाववेग और विचार-कौशल की आवश्यकता नहीं, उसके लिए चाहिये दिव्य दृष्टि। विश्व साहित्य न तो यथार्थ होता है और न आदर्शात्मक विश्वसाहित्य का द्वार सदा मुक्त रहता है। साहित्यिक अपनी दिव्य दृष्टि से जब विशेष

वस्तु को देखता है, तब उसकी विशिष्टता नष्ट हो जाती है। वह सम्पूर्ण हो जाता है। उस समय देश, काल, पात्र असीम के अंग हो जाते हैं।

स्थूलेन्द्रियों तथा प्राणों के अनुभव में और बुद्धि विचार में भी जो विश्वभाव की झलक पाते हैं वहाँ-वहाँ वह देह, प्राण, बुद्धि का धर्म नहीं, आत्मा के आविर्भाव होने, उसकी छाया पड़ने का ही परिणाम है। विश्व-साहित्य के लिये देश-काल को, देह-प्राण-मन को तृतीय स्तर ऊपर देखना होगा। प्रकृत साहित्य के लिये कोई वस्तु क्यों न हो उसे अनन्त का भाव देना होगा। विश्व-साहित्य का यही मूल है।

सोलहवीं किरण

शब्दार्थ—सम्मेलन ही साहित्य वा काव्य है

शब्द और अर्थ का सम्मेलन ही साहित्य है। प्राचीन काल से ही पंडितों ने शब्द और अर्थ के इस गहन सम्बन्ध की ओर ध्यान दिया था। कालिदास ने इसी विचार से वचन और अर्थ का तात्पर्य समझने के लिए वाक् और अर्थ के समान मिले हुए हर-पार्वती को वन्दना की थी।[1] अर्द्धनारीश्वर हर-गौरी का सम्बन्ध जैसा नित्य है वैसा ही शब्दार्थ का सम्बन्ध भी नित्य है।

शब्द अभिव्यक्ति के साधन हैं और अर्थ अनुभूत का रूप ही है। अतः शब्द और अर्थ की अभिव्यक्ति और अनुभूति भी लाक्षणिक अर्थ कर सकती हैं। इस दशा में शब्दार्थ-सम्मेलन रूप जो काव्य लक्षण है, वह अखण्डनीय हो जाता है।

वक्रोक्तिकार कुन्तक साहित्य के इस सम्मिलित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—शब्द और अर्थ का जो शोभाशाली सम्मेलन होता है, वही साहित्य है। शब्द और अर्थ का यह सम्मेलन वा विचित्र विन्यास तभी संभव हो सकता है जब

---

१ वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रति पत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।—'रघुवंश'

कि कवि अपनी प्रतीभा से जहाँ जो शब्द उपयुक्त हो—न अधिक और न कम—वही रखकर अपनी रचना को रुचिकर बनाता है।[१]

यहाँ साहित्य से अभिप्राय यह है कि यथायुक्त अपनी जाति की अपेक्षा शब्द और अर्थ एक दूसरे से स्पर्श करते हैं—एक शब्द दूसरे शब्द से और एक वाच्यार्थ दूसरे वाच्यार्थ से। ऐसा ही शब्दार्थ संयोग होना चाहिए।[२]

जहाँ शब्द और अर्थ सब गुणों में समान हों, मित्रों के समान मिले हुए हों, दोनों ही दोनों के परस्पर शोभाधायक हो,[३] वहाँ ही यथार्थ सम्मेलन है, साहित्य है। इसी शब्दार्थ के सहयोग से सहृदयों को रसास्वाद होता है। ये ही शब्द और अर्थ वाच्यवाचक के नाम से व्यक्त और अव्यक्त संसार के कारण माने गये हैं।[४]

जो शब्दार्थ के साहित्य की—सम्मेलन की—आंतरिकता में बिना पैठे ही यह कह उठते हैं कि[५] "काव्य वह है, जिसमें शब्द और अर्थ साथ-साथ रहते हैं...ऐसा लक्षण काव्य का स्थूल लक्षण है।" वे शब्दार्थ साहित्य की उपयुक्त व्याख्या की विशिष्टता के मर्मज्ञ नहीं कहे जा सकते।

ऐसा ही विचार पाश्चात्यों का भी है। रीड साहब के कथन का

---

१ साहित्यमनयोः शोभाशालिता प्रति-काप्यसौ। अन्यूनानतिरिक्तत्वंमनोहारिण्यवस्थितिः।—वक्रोक्तिजीवित

२ सहिताविरयत्रापि यथायुक्ति स्वजातीयापेक्षया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाचस्य वाच्यान्तरेण च साहित्यम्। परस्परस्य किंत्वमेव लक्षणमेव विवक्षितम्।—वक्रोक्तिजीवित

३ समौ सर्व गुणौ सन्तौ सुहृदाविव संगतौ। परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा।- रुद्रट

४ निदानं जगता वन्दे वस्तुनी वाच्य वाचके। ययोः साहित्य वैचित्र्यारसता रसविभूतयः।—काव्यमीमांसा

५ 'वाङ्मय—विमर्श' पृ० ४

भाव यही है कि काव्य में शब्द और अर्थ का सुन्दर साहित्य अर्थात् सौन्दर्याधायक सम्पर्क होना चाहिए।[1]

जो यह कहते हैं कि[2] "काव्य और उसका विवेचन अर्थात् शास्त्र इन्हीं दोनों का योग साहित्य कहलाता है" यह ठीक नहीं। क्योंकि साहित्य की ऐसी कोई शास्त्रीय व्याख्या नहीं है। दूसरी बात यह कि जिसे हम काव्य कहते हैं, वह शास्त्रीय योग्यता तो रखती ही है। न रखने पर भी कवि-कृति काव्य हो सकता है। क्या शास्त्रीय योग न होने से वह साहित्य नहीं कहा जा सकता ?

रचना परिपाटी से जिस सौन्दर्य की सृष्टि होती है, वही सौन्दर्य सहृदयों के हृदयों में एक चमत्कार पैदा करके उन्हें आनन्द मग्न कर देती है। यह आनन्द अनिर्वचनीय और विशिष्ट प्रकार का होता है। इस चमत्कार में एक ओर अर्थ की रमणीयता रहती है, तो दूसरी ओर शब्द की हृदयग्राहिता। दोनों ही सम्मिलित रूप से अपना प्रभाव विस्तार करते हैं।

शब्दार्थ के यथायोग्य सहभाववाली कविता की ये कुछ पंक्तियाँ हैं—

१ जेंवत श्याम नन्द की कनियाँ
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि देखत नन्दरनियाँ।-सूर

२ खंजन मंजु तिरीछे नैननि; निजपति कहेउ तिनहि सिय सैननि ;-तुलसी

३ लिपटे सोते थे मन में सुख-दुख दोनों ही ऐसे।
चन्द्रिका अंधेरी मिलती मालती कुञ्ज में जैसे।—प्रसाद

---

1 Poetry is expressed in words and words suggest images and ideas, and in poetry we may be explicitey conscious of both the words and the ideas or images with which they are associated. The two must be aesthetically relenant. They must form parts of a single harmonious system. As A. C. Bradley has it, 'the meaning and the souvds are one ; there is, if I may put it so, a resonant meaning are a meaning resonance.

'वाङ्मय विमर्श' पृष्ठ २

४ रुदन का हँसना ही तो गान।
गा गाकर रोती है मेरी हृत्तन्त्री की तान।—गुप्तजी

५ सिखा दो ना हे मधुपकुमारी मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से करा दो ना कुछ कुछ मधुपान।—पंत

अभिप्राय यह कि जो संयुक्त, संहित, मिलित, परस्परापेक्षित, सहभावापन्न शब्द और अर्थ का भाव है, वही साहित्य वा काव्य है।

काव्य के गुणगान में नीलकंठ दीक्षित शब्दार्थ की महत्ता का कैसा बखान करते हैं—

"शंकर के शरीर का बायाँ भाग शब्दमय है और दाहिना भाग अर्थमय। ऐसे जगन्मङ्गलकारी काव्य के ईश्वरीय अँग को भला अल्प पुण्यवाले कैसे प्राप्त कर सकते हैं।"[2]

सत्रहवीं किरण

साहित्य का अर्थ—काव्य

प्राचीन काल में साहित्य शब्द के लिए काव्य शब्द ही प्रयुक्त होता था। साहित्य मध्यकालीन प्रयोग है। आधुनिक काल में लिटरेचर के स्थान पर इसका प्रयोग होने लगा है और विशेषत: काव्य - साहित्य के अर्थ में। बँगला से हिन्दी में इसका नया प्रयोग हुआ है ; क्योंकि बँगला में विशेषत: काव्य के अर्थ में ही साहित्य शब्द प्रयुक्त होता है।

राजशेखर ने पहले-पहल नवीं शताब्दी में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में किया है, जब वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ के यथावत सहयोगवाली विद्या साहित्य-विद्या वा काव्य-विद्या है।[1]

---

२ सव्यंवपुः शब्दमयं पुरारेः अर्थात्मिकं दक्षिणमामनन्ति।
अंगं जगन्मङ्गलमैश्वरं तद् अर्हन्ति काव्यं कथमल्पपुण्याः।
—शिवलीलार्णव

१ न च काव्ये शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः साहित्यं तुल्य कक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।—व्यक्तिविवेक व्यापक टीका

शब्द और अर्थ का सुन्दर सहयोग ही साहित्य है। यह काव्य ही में देखा जाता है। अन्यान्य विषयों में शब्द केवल विचार प्रकट करने की दृष्टि से ही प्रयुक्त होते हैं। उनके सौष्ठव पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। उनका सुन्दर सहयोग उपेक्षित रहता है। पर साहित्य में इनकी समकक्षता अपेक्षित है। अन्यान्य शास्त्रों में शब्दों का कोई विशेष मूल्य नहीं, पर साहित्य में दोनों बहुमूल्य हैं। अतः साहित्य से काव्य ही का बोध होता है।[1] इसीसे माघ कवि ने कहा है कि सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों अपेक्षा रखते हैं।[2]

भर्तृहरि ने काव्य के ही अर्थ में इसका प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि जो मनुष्य साहित्य, संगीत और कला से विहीन है, वह साक्षात् पशु है।[3] एक कोषकार का कहना यह है कि मनुष्य कृत श्लोकमय ग्रन्थ विशेष ही साहित्य है।[4] यद्यपि साहित्य का यह लक्षण व्याप्त्यातिव्याप्ति दोष से दूषित है, तथापि साहित्य शब्द काव्य को ही लक्षित करता है। एक सुभाषित का अर्थ है कि सरस्वती के दो स्तन हैं—एक साहित्य और दूसरा संगीत। यहाँ भी साहित्य शब्द काव्य का ही बोधक है।

संस्कृत में साहित्य शब्द अलंकार आदि के निर्णायक ग्रन्थों के लिए एक प्रकार से रूढ़ हो गया है। इसीसे विद्वद्वर्ग काव्य प्रकाश, काव्य निर्णय, साहित्य दर्पण साहित्य सिद्धान्त, रसगंगाधर, रसकुसुमाकर आदि को साहित्य-ग्रन्थ ही कहता है। यद्यपि वह देखता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है, तथापि उनके नाम काव्य, साहित्य और रस के साथ रक्खे गये हैं। वह रघुवंश, रामायण, प्रियप्रवास, रामचरित-चिन्तामणि आदि को साहित्य की नहीं, काव्य की पुस्तक कहेगा। सारांश यह कि काव्य प्रकाश, काव्य निर्णय, आदि अनुशासक हैं और रामायण, प्रियप्रवास आदि अनुशिष्ट। रूढ़ि होने के कारण पहले प्रकार के ग्रन्थ 'साहित्य' शब्द से

---

१ शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। काव्य मीमांसा

२ शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। शिशुपाल वध

३ संगीतसाहित्यकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाणहीनः। भर्तृहरि

४ मनुष्य कृत श्लोकमय ग्रन्थ विशेषः साहित्यम्। शब्दकल्पद्रुम

५ संगीतमपि साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्। सु० र० भाण्डागार

और दूसरे प्रकार के ग्रन्थ 'काव्य' शब्द से व्यवहृत होते हैं। पर यह प्राचीन रूढ़ि मिटती जा रही है और साहित्य शब्द काव्य का ही वाचक होता जा रहा है।

पहले साहित्य का अर्थ काव्यात्मक साहित्य ही समझा जाता था; किन्तु क्रमशः अर्थ-विस्तार होने से सब प्रकार के ग्रन्थों को साहित्य कहने लगे हैं। जब इसमें विशेष्य-विशेषण का संयोग करते हैं, जैसे कि संस्कृत साहित्य, भाषा साहित्य, ऐतिहासिक साहित्य, लौकिक साहित्य आदि तभी भिन्न-भिन्न साहित्य का बोध होता है। नहीं तो बिना विशेष्य-विशेषण के केवल साहित्य शब्द से काव्यात्मक साहित्य ही समझा जाता है।

साहित्य शब्द, काव्यार्थ का ही बोधक है, जैसा कि निम्नलिखित विद्वानों के उद्धरणों से विदित होता है।

"साहित्य शब्द ऐसा वाक्य समूह, ऐसा ग्रन्थ जिसको मनुष्य दूसरों के सहित गोष्ठी में या अकेला ही सुने, पढ़े तो उसको रस आवे, स्वाद मिले, तृप्ति तथा आप्यायन हो।"[1] —डा० भगवानदास

"साहित्य की कसौटी वह संस्कारशीलता है, जो हृदय से हृदय का मेल चाहती और एकता में निष्ठा रखती है। सहृदय का चित्त मुदित करता है, वह साहित्य खरा। संकुचित करता है वह खोटा।[2]" —जैनेन्द्र कुमार

एक अंग्रेज विद्वान् का कहना है कि "साहित्य उन ग्रन्थों को ही कहा जा सकता है, जिनमें मानव हितकारी विषयों का इस ढंग से वर्णन किया गया हो, जो जन-समाज को सौन्दर्यात्मक आनन्द प्रदान करे।[3]" इसमें हडसन के लक्षण का ही भाव है।

उपर्युक्त उद्धरणों में साहित्य शब्द की वही व्याख्या है, जो

---

१ द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ।

२ जैनेन्द्र के विचार।

3 Literature is the name given collectively to all those books in which subjects of general human interest are dealt with a mannar so as to give aesthetic pleasure to the vast

काव्य की है। क्योंकि सभी में आनन्ददान की बात है। यह काव्य के अतिरिक्त किसी शास्त्र से संभव नहीं है।

"जगत के दृश्य और अदृश्य उपकरण अपनी छाया साहित्य में डालते रहते हैं। यहाँ दृश्य-अदृश्य से हमारा तात्पर्य क्रमशः वस्तु और भाव से है। 'फूल' वस्तु है। वायु के गंधस्पर्श से फूल कितना हर्षोत्फुल्ल हो उठता है।' यह भाव है। वस्तु हृदय में उतरकर उसे छू लेती है। उसका यह छूना भाव की सृष्टि करता है, जो वाणी बन कर साहित्य कहलाने लगता है।[1]" —विनयमोहन शर्मा

हृदय छूने की बात भी ऐसी है जो रागात्मक तत्त्व की ओर इंगित करती है। हृदय को रमाना कविता का ही धर्म है। यहाँ साहित्य से यहि अवगत होता है।

अन्य शास्त्र ज्ञानमय होता है और साहित्य रसमय। आनन्द-दायक होने से काव्य साहित्य है।

अब यह निर्विवाद है कि साहित्य शब्द काव्य का बोधक है।

---

१ साहित्यकला।

द्वितीय प्रभार

काव्य

पहली किरण

काव्य का उपक्रम

'साहित्य' शब्द आधुनिक कहा जा सकता है, पर 'काव्य' शब्द बहुत प्राचीन है। पहले साहित्य शब्द के लिये काव्य शब्द का ही प्रयोग होता था। वैदिक काल से लेकर निरन्तर इसका व्यवहार हो रहा है।[1] वेद में 'काव्यम्' और 'काव्या' दोनों प्रयोग मिलते हैं, पर दोनों का अर्थ एक ही प्रकार का है। वह अर्थ है—कविकर्म, कवित्व, स्तोत्र, स्तुत्यात्मक वाक्य। काव्य शब्द[2] का साधन भी यही अर्थ सिद्ध करता है।

लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण रचयिता मुनि वाल्मीकि आदि कवि हुए। उन्होंने रामायण के प्रत्येक सर्ग में 'इत्यार्षे आदि काव्ये' स्वयं लिखा है। व्यास ने महाभारत को स्वयं काव्य[3] कहा है।

काव्य शब्द साधारणतः ग्रन्थ वाचक भी है।[4] राजनीति-निर्माता शुक्राचार्य 'कवि' और 'काव्य' दोनों कहलाये।[5] किन्तु अब कोई 'काव्य' कहने से सामान्य ग्रन्थ को नहीं समझता। जब से सहृदय-

---

१ आत्मा यक्ष्मस्य रंह्या सुप्राणः पवते सुतः। प्रत्नं नि पाति काव्यम्। ऋग्वेद ९।७।८. परि यत्काव्या कविर्नृम्णा वसानो अर्षति। स्वर्वाजी सिषासति। ऋग्वेद ९।९।१

२ कवेरिदं कर्म भावो वा ष्यञ्। कवे वर्णने स्तुतौ च कर्मणि ण्यत्। कवयतीति कविः तस्य कर्म काव्यम्।

३ कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।—महाभारत

४ काव्य ग्रन्थे पुमान् शुक्रे। रामाश्रयी अमरटीका

५ शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः। अमर

हृदयाह्लादकारिणी रचना को काव्य और उसके रचयिता को कवि कहा जाने लगा तब से इन्हीं दोनों 'रचना' और 'रचयिता' के लिए ये दोनों[1] 'काव्य' और 'कवि' शब्द रूढ़ हो गये। अतः शुक्राचार्य कोष ही में कवि और काव्य रह गये और उनके ऐसे अन्यान्य आचार्यों के रचित छन्दोवद्ध ग्रन्थ न तो काव्य और न वे व्यास, वाल्मीकि के समान कवि ही कहलाये।

काव्योत्पत्ति के विषय में कविवर राजशेखर ने अपनी[2] 'काव्य-मीमांसा' में एक विचित्र कल्पना की है। वह यह कि सरस्वती ने पुत्र-प्राप्ति की कामना से कठिन तपस्या की, ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर वरदान दिया। फलस्वरूप एक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम पड़ा काव्यपुरुष। उसने श्लोक में कहा कि 'मा, यह जो सामने दृश्यमान जगत् है, वह पहले वाङ्मय—शब्दात्मक था। पश्चात् अर्थरूप में परिवर्तित हो गया। वही शब्दार्थात्मक वाङ्मय से अभिन्न मैं काव्यपुरुष तेरे चरणों की वन्दना करता हूँ। अर्थात् यह वाङ्मय स्वरूप विश्व तेरा कर्त्तारूप और उसका कार्य अर्थरूप है। वही विलक्षण कार्य रूप मैं काव्यपुरुष हूँ।[3]

साहित्य शास्त्र के कलात्मक और वैज्ञानिक व्याख्यात्मक जो ग्रन्थ लिखे गये, वे काव्य शब्द से ही अभिहित किये गये।

---

१ प्रज्ञा नवनवो वेप शालिनी प्रतिभामता।
तदनुप्राणनाज्जीवेद्वर्णनानिपुण कविः।
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।

२ काव्य मीमांसा, तीसरा अध्याय

३ यदेतद्वाङ्मयविश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ। काव्यमीमांसा

दूसरी किरण

काव्य के फल (प्राचीन दृष्टिकोण)

(क) सामान्य

मानव-समाज के हित के लिए वेदादि शास्त्र मान्य हैं। ज्ञाना-लोक तथा लोक-व्यवहार की शृङ्खला के दृष्टिकोण से इनका महत्त्व भी विशेष है; किन्तु काव्य की कमनीयता और सरसता उसे और शास्त्रों की अपेक्षा एक उत्तम और सुन्दर स्थान देती है। कहना चाहिये कि सत्यं शिवं सुन्दरम् का सर्वांशतः समुचित समन्वय यहीं होता है।

वेदादि शास्त्रों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होती है; किन्तु सबके लिये ये सुलभ नहीं हैं। एक तो इनका पढ़ना और समझना कठिन, दूसरे इनका मनन करना और भी दुरूह। जो विशिष्ट विद्वान् और प्रतिभाशील हैं, वे ही बड़ी कठिनता से इन्हें पढ़कर लाभ उठा सकते हैं। परन्तु 'साधारण बुद्धिवाले भी सुख से चतुर्वर्ग की प्राप्ति काव्य ही से कर सकते हैं। उनके लिये इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय ही नहीं है; क्योंकि मनुष्य अपने स्वभाव के कारण सुख से ही अल्प समय, अल्प श्रम और अल्प व्यय में ही अपना लक्ष्य सिद्ध करना चाहता है। शेष शास्त्रों के लिये इनकी अधिक आवश्यकता है। काव्य का क्षेत्र ही इन सब बातों से पृथक् है। इसके लिये केवल सरस हृदय चाहिये। यह सब काम बना बनाया हुआ है। सत्काव्य का सेवन—अध्ययन-अध्यापन, श्रवण-मनन—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और कलाओं में विशिष्ट ज्ञान पैदा करता है और कीर्ति तथा प्रीति को भी देता है।[2]

मिश्री की डली के से मीठे व्यंग्य के साथ कटु कर्तव्य रूप तिक्त औषध को प्राप्त कराना काव्य की एक विशिष्ट चातुर्य कला है। कहा है कि सुस्वादु काव्यरस में मिश्रित शास्त्रीय शिक्षा को ही

---

१ चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि। काव्यादेव—साहित्यदर्पण

२ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।—भामह

सुख साध्य है जैसे मधुरास्वादलोभी बालक तिलौषधि को भी पी लेता है।[1] सुकुमार भावनावालों के लिये वो यही एक मात्र मधुर केन्द्र है। जहाँ उनका सहज आकर्षण संभव है।

जो लोग यह कहते हैं कि काव्य मनोरंजन मात्र भरके लिए है और उसका दूसरा प्रयोजन नहीं, यह उनकी धारणा सर्वथैव मिथ्या है। भरत मुनि ने कहा है कि काव्य कायरों—डरपोकों को ढिठाई, साहस, वीरों को उत्साह, मूर्खों को ज्ञान, पंडितों को पांडित्य, दुःखार्तों, शोकग्रस्तों, पीड़ितों, तपस्वियों को विश्रान्ति—सान्त्वना देनेवाला यह नाट्य—दृश्य काव्य होगा।[2]

व्यवहारतः काव्य से चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—की प्राप्ति भी संभव है। यदि कवि अपनी रचना की भित्ति पर देवी-देवताओं की स्तुति रूपी चित्र अंकित करता है और उससे ऐहलौकिक सुख की कामना नहीं करता है तो उस शब्दात्मक अर्चना का पुण्य उसके लिए संचित रहेगा और उसका फल उसे अवश्य प्राप्त होगा। आप इसे प्राचीनों का दृष्टिकोण कहें तो जाने दीजिये। नवीन दृष्टिकोण से भी देखिये तो उपेक्षित-दलित वर्ग के दुःख-दुर्दशापूर्ण जीवन तथा उनके अकलुषित चरित्र का चित्रण करना क्या धर्म नहीं है? नहीं तो उसे अवश्य धर्म मानना चाहिये; क्योंकि कवि की मर्मस्पर्शिनी वाणी में दलित वर्ग की वह मर्मन्तुद पीड़ा और समवेदना फूट निकलती है जिससे तटस्थ समाज हठात् उस ओर आकृष्ट हो जाता है, हाहाकार-सा मच जाता है और अधपतित समाज के सुधार का प्रयत्न उठ खड़ा होता है। साहित्य में समयोचित क्रान्ति का बीज वपन करके युगधर्मी कवि वस्तुतः धर्म करते हैं। अर्थ-प्राप्ति प्रत्यक्ष सिद्ध है। काव्य अर्थ पर ही निर्भर है। किन्तु एक बात है सभी प्राणी संभोगशील हैं; पर समान

---

१ स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते
प्रथमा लीढ़ मधवः पिबन्ति कटु भेषजम्।—काव्यालंकार

२ क्लीवानांधाष्टर्यजननमुत्साहः शूरमादिनाम्।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननकाले नाट्यमेतद्भन निष्यति। नाट्यशास्त्र

अनुभूतिशील नहीं। कवि और भावुक संवेदनशील होने के कारण हृदयहीन जन-समाज से सर्वथा भिन्न हैं। सुख और दुख उनके अन्तस्थल के अणुपरमाणु में पहुँचकर औरों से भिन्न रूप में अनुभूत होते हैं, जिनका प्रभाव उनके काव्य पर पड़ता है। इससे काम के संबंध में सब साधारण को विशेष लाभ पहुँचता है। मुक्ति मार्ग में भी काव्य की उपादेयता बड़ी प्रबल है। कारण काव्य द्वारा व्युत्पत्ति हो जाने से ज्ञान-ग्रन्थों में पहुँच हो जाती है और 'ज्ञानान्मोक्षः' यह सिद्धान्त अचल है।

तीसरी किरण

काव्य के फल

(ख) विशेष

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में[1] अनेक काव्य फल निर्देश किये हैं जो इस प्रकार है—

(१) काव्य यश-प्राप्ति के लिए है

काव्य के रचयिता और उसके भावुक—उसके अंतरंग में पैठनेवाले साहित्यिक दोनों ही जन-समाज में स्पृहणीय प्रसिद्धि और अपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। कालिदास, तुलसीदास, सेख सादी, शेक्स-पियर आदि का सुयश काव्यकृति के कारण आज भी विश्व-व्यापी बन रहा है। कहना चाहिए कि वह अजर-अमर हैं। हम कालिदास के जन्म-स्थान और समयादि का कुछ भी निर्णय नहीं कर पाते हैं, तथापि उनके एक मात्र काव्य—नाटक ही कल्पान्त स्थायी प्रसिद्धि के कारण बन रहे हैं। ठीक ही कहा है।

ते सुकृति रस सिद्ध कवि, जययुत हो जग माँहि।
जिनके सुयश शरीर मह जरा मरण भय नाँहि।[2]

---

१ काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्ता संमिततयोपदेशयुजे।—का० प्र०

२ जयन्तितेसुकृतिनोरससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।—भर्तृहरि

दान-पुण्य से वापी, तड़ाग, कूप, भवन आदि के निर्माण तथा आत्म-बलिदान के अनेकों कार्य द्वारा समुपार्जित सुयश न तो वैसा विश्वव्यापी ही होता है और न चिरस्थायी ही। बिल्हण ने लिखा है कि जिस राजा के पास कवीश्वर नहीं है, उनका सुयश कहाँ? न जाने पृथ्वी पर कितने राजे - महाराजे हो गये; किन्तु उनका नाम तक भी कोई नहीं जानता।[1] यही नहीं कवियों की कृतियों को भी जिन आलोचकों ने जितनी सहृदयता के साथ जाना-पहचाना, समझा-बूझा और आनन्द उठाया, साहित्य - संसार में वे भी उतने ही मान्य हुए हैं। निष्कर्ष यह कि यश की प्राप्ति सुनिश्चित है और वह सूर्य-चन्द्र के समान प्रकाशमान है।

जो साधु-सन्त हैं, निःस्पृह वा विरागी हैं, वे कीर्ति की कामना नहीं करते, वह भले ही उन्हें प्राप्त क्यों न हो जाय। वे तो अपनी कृति से परमात्मा की तृप्ति और आत्म-तुष्टि को ही यथेष्ट समझते हैं। अनेकों कृतिकारों ने अपनी कृतियों को कृष्णार्पण कर दिया है। गुप्त जी एक समर्पण में लिखते हैं—

> "रामकृष्णजी का सदा चाहिये प्रताप ही
> मेरे पत्र पुष्प हुए कृष्णार्पण आप ही।"

कालिदास ने प्रकारान्तर से अपनी मनस्तुष्टि को शकुन्तला में सूत्रधार के मुख से या व्यक्त किया है।[2] जब तक पण्डितों को अभिनय-विशेषज्ञों को पुष्टि नहीं हो जाती तब तक मैं अभिनय चातुरी को चमत्कारक नहीं मान सकता। तुलसीदास ने अपने अन्तःकरण की पुष्टि के लिए ही रामचरित्रमानस का निर्माण किया।[3]

आत्मपरितोष के अन्यान्य रूप भी देखे जाते हैं जिसकी प्रथा संस्कृत में बहुत है जैसे—'प्रीत्यै भूयाद्भगवतोः भवानी विश्वनाथयोः।' (यह कृति भगवान् विश्वनाथ और भवानी की

---

१ महीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वराः तस्य कुतो यशांसि।
भूपा कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां नामापि जानाति न कोऽपि तेषाम्।
—वि० दे० चरित्र

२ आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोग विज्ञानम्।—शकुन्तला

३ स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति।

प्रीतिकारक हो।) उसी की पद्धति पर हिन्दी-साहित्य-दर्पण में श्री शालिग्राम शास्त्री ने भी एक श्लोक लिखा है—

संस्कृतं मार्गमुत्सृज्य विद्वांसः, केऽपि कम्पिता।
यत्कृते सा ममेदानीं हिन्दी भाषा प्रसीदतु।

(जिस हिन्दी भाषा के कारण संस्कृत का मार्ग छोड़कर कई विद्वानों के कोप का कारण बना वह अब मुझपर प्रसन्न हो।) कितने कवियों ने रसिकों को रिझाना नहीं तो राधाकृष्ण का गुणगान ही से संतोष कर लिया है।

"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
न तु राधिका कन्हाई सुमिरण को बहानो है।" दास
रसिक रीझि है जानि, तौ ह्वै है कवितौ सुफल।
नतरु सदा सुखदानि श्री राधा हरि को सुयश॥ द्विजदेव

देव जी की उक्ति है—

रहत न घर वर धाम धन तरुवर सरवर कूप।
जस सरीर जग में अमर भव्य काव्य रस रूप॥

केशवदास जी कहते हैं—

ताते रुचि, सुचि, सोचि, पचि कीजै सरस कवित्त।
केशव स्याम सुजान को सुनत होइ वश चित्त।

गुप्तजी के दो प्रकार के उदाहरण देखिये—

प्रस्तुत नूतन पद्य पात्र यह
उसी सुरस हित किया गया।
अहो भाग्य है यदि इसमें वह
एक बूँद भी लिया गया।
न तन सेवा न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है, इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा।

सारांश यह कि यश और तोष ये ही दो काव्य के प्रधान फल हैं, धन-लाभ आदि गौण हैं।

२ द्रव्य-प्राप्ति के लिए है

द्रव्योपार्जन का एक मुख्य साधन काव्य भी है। वह एक स्वर्ण-युग था जब कि 'प्रत्यक्षर लक्षं ददौ' कि उक्ति आश्चर्यजनक नहीं थी। राजाभोज इतिहास के सर्वोत्कृष्ट कवि-पोषक माने गये हैं।

राजतरंगिणी में लिखा है कि उद्भट आदि कवियों का एक लाख स्वर्णमुद्रा एक - एक दिन का वेतन था। कवियों की उस समय राजसभा में बड़ी प्रतिष्ठा थी। कविताओं पर उन्हें पर्याप्त पुरस्कार प्राप्त होता था। शिवाजी द्वारा भूषण कवि का सम्मान, सवाई जयसिंह द्वारा बिहारी का सम्मान, राजस्थानी राजाओं द्वारा चारण कवियों का प्रचुर पुरस्कार-प्रदान तथा केशव, पद्माकर, मतिराम आदि कवियों का सम्मान सर्वविदित है। पाश्चात्य देशों में भी नोबेल प्राइज-जैसा पुरस्कार साहित्यिकों को दिया जाता है। आज मंगला-पुरस्कार तथा देव-पुरस्कार, डालमिया - पुरस्कार आदि का वितरण उसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

३ काव्य-व्यवहार ज्ञान के लिए है

व्यवहार-ज्ञान शब्द लोकाचार, शिष्टाचार तथा लोक-व्यवहार का बोधक है। आनन्दातिरेक की दृष्टि से यह प्रयोजन गौण है। काव्य से सहज ही व्यवहार ज्ञान प्राप्त होता है। जिन्हें लोक-व्यवहार का ज्ञान नहीं वे 'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः' है—पढ़पशु हैं। बंद मुट्ठी में अशर्फी को राजा का विद्याबल से गोल, पीली, राज चित्रांकित वस्तु बताना सहज तो हुआ; किन्तु उसे चक्की बताना बतानेवाले विद्वान के व्यावहारिक ज्ञान का अभाव सूचित करता है। मृत सिंह को जीवन-दान देना विद्याबल से सहज हुआ; किन्तु जीवित सिंह से बचने का उपाय न करना जीवन-विद्या के विशेषज्ञ की लोक-ज्ञान - शून्यता की पराकाष्टा है। लोकाचारका बोध हुए बिना कोरे शास्त्र-ज्ञान मात्र से जीवन अपूर्ण रहता है। व्यवहार की कसौटी पर खरा उतरना विना काव्य-परिशीलन के संभव नहीं। महाकवियों के काव्य लोक-व्यवहार-ज्ञान के भंडार ही नहीं; बल्कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा के भी अक्षय आकर हैं; क्योंकि कवि अत्यन्त अनुभूतिशील सूक्ष्मदर्शी होते हैं। फलतः उनकी कल्पनाओं में औचित्य-अनौचित्य का परिधि-निर्द्धारण कोमल अनुभूतियों से पूर्ण रहता है। रामायण, महाभारत आदि इनके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यही कारण है कि काव्यों के भावुक लोकाचार, देशाचार तथा शिष्टाचार के आदर्श प्रतीक होते हैं। काव्य पढ़नेवाले पढ़पशु की सीमा में नहीं आ सकते।

४ काव्य विघ्न विनाश वा दुःख नाश के लिए है

काव्य द्वारा विघ्न-विनाश और दुख-मोचन होता है। जो रोग, जो दुःख,जो पाप आदि असाध्य से हो गये हैं,वे भी काव्य से उन्मूल हो गये हैं। संस्कृत में सूर्यशतक लिखकर मयूर कवि ने कुष्ठ रोग से छुटकारा पाया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने गंगा-लहरी की रचना करके मा गंगा का बावन सीढ़ियों तक बढ़कर उनको अपनी गोद में लेने को विवश किया था। तुलसीदासजी ने हनुमान बाहुक बनाकर बाहु की पीड़ा से मुक्ति पाई थी। संकट-मोचन भी किसी ऐसे अवसर पर ही तुलसीदासजी ने बनाया था। ये परंपरा-कथित किंवदन्तियाँ झूठी नहीं हो सकतीं। काव्य द्वारा रोग-निवृत्ति[1] तो विज्ञान से भी सिद्ध है। फिर तो यह आस्तिक-नास्तिक सभी को मान्य है। प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ-रचना के आरंभ में प्रत्येक शुभ कार्य में पद्य-बद्ध ही रचना करने की प्रथा है। यही नहीं यदि काव्य रचयिता यावज्जीवन दुःखी-दरिद्र रहता है तथापि उस शब्द-सृष्टि के विधाता कवि का बड़ा ऊँचा स्थान है। यदि इस लोक में ऐहिक सुख प्राप्ति के लिए कविता-साधन नहीं बन सकी तो परलोकवादी उसके फल की संभावना को स्वर्ग तक ले जाते हैं; क्योंकि सरस्वती बन्ध्या नहीं हो सकती।

५ काव्य तत्काल परमानन्द-प्राप्ति के लिए है

आनन्द के लिए सारी सृष्टि लालायित है। पर साधारण जनता का आनन्द पंच-तत्वों से रचित वस्तुओं पर ही अवलंबित है और काव्य का आनन्द श्रव्य में अर्थ-भावना और दृश्य में अभिनय-निरीक्षण पर निर्भर है। लौकिक पदार्थों का आनन्द मनन मात्र से नहीं, अधिगत होने से प्राप्त होता है; किन्तु काव्य का आनन्द मनन-स्वरूप ही है। आस्वाद से अभिन्न है। पाठक, श्रोता और दर्शक की दृष्टि में काव्य का परम प्रयोजन यही है। कष्ट और श्रम से साध्य यज्ञादि क्रियाओं से स्वर्ग की प्राप्ति देहान्तर में होती है

---

१ देखिये 'विशाल भारत' अंक नवम्बर १९३८ का 'काव्य द्वारा रोग निवृत्ति' नामक। प्रो० ईश्वरदत्त, पी० एच-डी० का लेख।

और नाना प्रकार के दानादि सुकर्मों द्वारा आनन्द की प्राप्ति कालान्तर में होती है; किन्तु काव्य के द्वारा जिस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है श्रवण मात्र से रसास्वाद के कारण तत्काल ही होती है। इसका अनुभव काव्य-प्रेमी सहृदय व्यक्ति ही—समझदार आदमी ही कर सकते हैं। इसकी तुलना में सभी आनन्द फीके पड़ जाते हैं। यह कहना कितना काल्पनिक होते हुए भी मार्मिक है[1]—सुभाषित सुकविता के मधुर रस के आगे दाख सिकुड़ गयीं, चीनी लतियायी गयी और डरी हुई सुधा स्वर्ग को भाग गयी।

काव्य के रचयिता और भावुक कल्पना की उड़ान में उड़कर थोड़ी देर के लिए सारे अभाव—अभियोगों को भूल जाते हैं। रचना या भावना के समय उनकी स्थिति यथार्थ स्थिति से एकदम परे रहती है। भावना की एकाग्रता में रसिकों को काव्य से वही आनन्द प्राप्त होता है जो ब्रह्म-मनन में लीन समाधिनिष्ठ योगियों को प्राप्त होता है। इसीसे साहित्य-दर्पणकार ने इस आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है। इसी बात को राजानक कुन्तक भी कहते हैं कि[2] काव्यामृत का आनन्द चतुर्वर्ग—धर्म,अर्थ, काम, मोक्ष से भी परे हैं।

६ काव्य कान्ता के समान उपदेश ग्रहण के लिए है

आदमी जहर की बूँद भी हँसते-हँसते पी लेता है। हाँ, पिलाने का ढंग होना चाहिये। किसी कार्य को उचित वा अनुचित बताकर उसमें प्रवृति और निवृत्ति उत्पन्न करने के लिए ढंग भिन्न-भिन्न हैं। विवशता से किये जानेवाले कामों में मन संलग्न नहीं होता। यन्त्रचालित के समान भले ही कर्त्तव्य की पूर्ति ज्यों-त्यों क्यों न कर ली जाय। वेद-काव्य इसी कोटि के हैं। उनकी अवहेलना से पाप होता है। मित्र उचितानुचित संबंधी अपने विचार बताकर ही विरत हो जाते हैं। वे अपने विचार बरतने को बाध्य नहीं कर सकते; अतएव वे हेय न होकर भी सर्वथा उपादेय नहीं होते; क्योंकि उसमें आकर्षक माधुर्य का भाव नहीं रहता। धर्म-शास्त्र के विधि-

---

१ द्राक्षा संकुचिता जाता शर्करा पादताडिता।
सुभाषित रसस्याग्रे सुधाभीता: दिवंगता।—पं० अम्बिकादत्त व्यास

२ चतुर्वर्ग फल स्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तः चमत्कारो वितन्यते।—वक्रोक्तिजीवित

निषेध इसी श्रेणी के होते हैं; किन्तु मंजुभाषिणी प्रियतमा के अनुरोध वाक्य इससे भिन्न होते हैं। वे जिन भावभंगियों से जिन अनुपम प्रकारों से कहे जाते हैं कि हृदय उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकता। काव्य इसी श्रेणी की वस्तु है। हम उसके अर्थ की, अभिनय की मिठास पर अपने को निछावर कर देते हैं—लुटा देते हैं। काव्य अपनी महिमा से मनुष्य को मन्त्रमुग्ध की भाँति कर्त्तव्य के निर्दिष्ट पथ पर चलने को विवश कर देता है।

यह काव्योपदेश संकेत रूप में ही रहता है न कि आचार-शास्त्र के समान आदेश रूप में—रूक्ष रूप में। यह उपदेश ग्रहण रामादि के आदर्श चरित्रों के अनुकरण पर ही होना चाहिये न कि रावणादि के हेय कुचरित्रों के अनुकरण पर; क्योंकि इनके सुफल और कुफल प्रत्यक्ष हैं। इससे कर्तव्य में प्रवृत्ति और अकर्तव्य से निवृत्ति होगी। सभी सुफल फलेंगे।

आचार्य रुद्रट भी इसी बात को कहते हैं[१]—देवताओं की रुचिर स्तुति कर-करके कवि अर्थ की प्राप्ति, अनर्थ का नाश और सुख लाभ ही करता हो सो नहीं, वह जो-जो चाहता है वही-वही प्राप्त करता है। तुलसीदासजी ने काव्य के अनेक फल कहे हैं जैसे—

कीरति भणिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।

२ मणि माणिक मुक्ता छवि जैसी अहि गिरिगज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुनी तन पाई, लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं।

भिखारीदासजी ने उसको एक पद्य में यों लिखा है—

एक लहैं तप पुंजन के फल ज्यों तुलसी अरु सूर गुसाईं।
एकै लहै बहु संपति केशव, भूषण ज्यों वरवीर बड़ाई॥
एकन को जस ही से प्रयोजन है रसखान रहीम की नाईं।
दास कवित्तन की चरचा बुधिवंतन को सुख दै सब ठाईं।

अत: काव्य सर्वोपरि मनोहर और मधुर सुफल-फलक शास्त्र है।

---

१ अर्थमनर्थोपशमं शमसमथवा मतं यदेवास्य।
विरचितरुचिर सुरस्तुति रखिलं लभते तदेवकविः।

चौथी किरण

काव्य के फल (नवीन दृष्टिकोण)

अन्तर की वस्तु को बाहर की, भाव की वस्तु को भाषा की और क्षणिक वस्तु को चिरकालिक वस्तु बनाना ही साहित्य का कार्य है।

हमारे भारतीय आचार्यों ने काव्य के जितने प्रयोजनों का उल्लेख किया है उनमें किसी प्रकार का मीन-मेख नहीं है; किन्तु पाश्चात्य पंडितों का दृष्टिकोण उनसे एकदम भिन्न है। मनोविज्ञान के मनन से मन की क्रियाओं का उन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है। उन्होंने उससे नये-नये तत्त्वों का आविष्कार किया है। इन्हीं पण्डितों का प्रभाव हमारी नयी पीढ़ी पर पड़ा है, जिससे नये-नये कलाकार इसी प्रवाह में बह गये हैं और साहित्य के नये-नये उद्देश्य, प्रयोजन और फल निश्चित किये हैं।

पाश्चात्य देशों में भौतिकवाद की प्रधानता होने के कारण काव्य का प्रयोजन भौतिक सुखानन्द तक ही सीमित-सा हो गया है। काव्य की गणना ललित कलाओं में करके उसकी सौन्दर्यानुभूति को ही चरम लक्ष्य मान लिया गया है। जैसा कि कहा जाता है कि 'कविता एक कला है और ललित कला मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है।' इसके अतिरिक्त काव्य का उपयोग प्रायः वहाँ दूसरा कुछ नहीं माना जाता। अर्थ-यश भले ही प्राप्त हो जायँ, किन्तु इनकी गणना नहीं। 'शिवेतरक्षतये' तो वहाँ स्वप्न-सा है। वहाँ काव्य से जो आनन्द प्राप्त होता है, वह न तो हमलोगों के ऐसा अलौकिक, असाधारण ही है और न ब्रह्मानन्द सहोदर ही है। पाश्चात्य पंडित स्पष्ट घोषित कर रहे हैं कि 'मनुष्य की मूल मनोवृत्तियाँ केवल शरीरजन्य हैं और उसकी अन्य उदात्त वृत्तियाँ मौलिक नहीं हैं।' यह सिद्धान्त साहित्य से सदाचार का अस्तित्व ही मिटा रहा है।

आजकल 'कला के लिए कला' की जैसी रट लग रही है वैसी ही रट 'काव्य के लिए काव्य' की भी लग रही है। पहली उक्ति का जैसे अर्थ स्पष्ट नहीं वैसी ही दूसरी उक्ति का भी। पहली का मोटा-मोटी यह अर्थ किया जा सकता है कि कला की एक स्वतंत्र सृष्टि

है। उसके कुछ अपने नियम हैं। उन नियमों का पालन ही कला के लिए कला कहला सकता है; किन्तु इस उक्ति का खंडन आगे की उक्ति से ही हो जाता है कि कला का सम्बन्ध नियमों से नहीं है, वह तो भावनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति मात्र है।

'काव्य के लिए काव्य' इस गूढ़ वाक्य की व्याख्या करते हुए ब्रेडले कहते हैं कि "जैसा मैं समझता हूँ, इसके तीन अर्थ निकलते हैं। प्रथम तो कविता किसी लक्ष्य विशेष का साधन नहीं है, यह स्वयं ही लक्ष्य है। दूसरा यह कि कविता कविता है, इसीलिए इसका उपयोग होना चाहिए। इसका अपना स्वाभाविक मूल्य ही, इसका वास्तविक काव्य महत्त्व है। कविता का बाह्य महत्त्व भी हो सकता है, जैसे कि धर्म या संस्कृति के साधन के रूप में। क्योंकि यह मनोभावों को कोमल बनाती है या शिक्षा प्रदान करती है या यश या आत्म-संतोष प्रदान करती है। यह सब कुछ ठीक है। इन सब उद्देश्यों से भी कविता महत्त्व रखती है; किन्तु यही यथार्थ काव्य का महत्त्व नहीं हो सकता। वह महत्त्व, जो काल्पनिक अनुभूतियों को तृप्त करता है, अन्तर के द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है।

रिचार्ड ने इसको स्पष्ट किया है कि "धर्म, धन, जातीयता, यश, शिक्षा आदि सारी बातें कविता के मुख्य विषय नहीं और इनको लक्ष्य में रखकर लिखी गयी कविता महत्त्वपूर्ण नहीं होती। कविता के अच्छे-बुरे होने का प्रमाण स्वयं कविता है। कविता का संसार अपना संसार है–स्वतंत्र, संपूर्ण और सर्वांगीण।

यद्यपि प्रेम चन्द स्पष्ट रूप से इस कलावाद का अनुकरण नहीं करते फिर भी उन्होंने लिखा है कि "साहित्यकार अपनी कला को किसी के अधीन नहीं करना चाहता। उसके विचारों में कला केवल मनोभावों के व्यक्तीकरण का नाम है, चाहे उन भावों से व्यक्ति या समाज पर कैसा ही क्यों न असर पड़े।"

एक विचारक कहते हैं कि 'कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनन्द प्राप्त होता है, पर उससे हमारा कोई स्वार्थ का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।'

किन्तु यह एक पक्ष की बात है। दूसरा पक्ष यह कहता है कि काव्य से यदि असाधारण आनन्द ही प्राप्त होता है तो यह काव्य का उपयोग कुछ कम है; क्योंकि इस आनन्द से हमारी भावनायें जागृत होती हैं और सुसंस्कृत नहीं तो संस्कृत तो अवश्य ही होती हैं, इसी से शुक्लजी का कहना है कि "हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों के सामने लाकर कविता वाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रकाश का प्रयास करती है।"

सभी पाश्चात्य पंडित 'काव्य के लिये काव्य' के मत के समर्थक नहीं हैं। उन्होंने गौण रूप से काव्य के अन्य प्रयोजन भी माने हैं। यह पूर्वोक्त ब्रेडले के वक्तव्य से भी भासित होता है, ड्राइडेन का भी कहना है कि 'कविता का यदि एक मात्र नहीं तो कम से कम प्रमुख ध्येय आनन्द-दान है। शिक्षा-दान का ध्येय यदि अंगीकृत भी किया जाय तो केवल गौण रूप से। इसी को स्पष्ट रूप से होरेश भी कहते हैं कि "कवियों का उद्देश्य या तो शिक्षा देना होता है या आनन्द देना, या दोनों को मिला देना। अतः यथार्थ और उपयोगी को आनन्ददायक के साथ मिला दो।'

कालरिज का कथन है कि "कविता ने मुझे वह शक्ति दी है कि जिससे मैं संसार की सब वस्तुओं में भलाई और सुन्दरता को देखने का प्रयत्न करता हूँ।"

तुलसीदास जहाँ 'स्वान्तः सुखाय' कहकर 'कला के लिए कला' का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं वहाँ

कीरति भणिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कँह हित होई।

कहकर कला की उपयोगिता का भी समर्थन करते हैं।

प्रसिद्ध साहित्यिक कलाकार शरत् चन्द्र चट्टोपध्याय कहते हैं कि जो असुन्दर है, जो अनैतिक है, जो अकल्याणकर है वह किसी प्रकार न तो धर्म हो सकता है और न कला। 'कला के लिए कला' यह बात यदि सत्य है तो वह कभी अनैतिक तथा अकल्याणकर हो ही नहीं सकती। अकल्याणकर और अनैतिक होने से 'कला के लिए

कला' यह बात कभी सत्य नहीं हो सकती—सैकड़ों हजारों व्यक्तियों के चिल्लाकर कहने पर भी सत्य नहीं हो सकती।

प्रेमचन्द के शब्दों में मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता के तुला पर तौलता हूँ। निःसन्देह कला का उद्देश्य सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि करना है, और वह हमारे आनन्द की कुंजी है। पर ऐसा कोई रुचिगत मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द नहीं जो अपनी - अपनी उपयोगिता का पहलू न रखता हो।"

यदि कला में उपयोगिता का स्थान नहीं दिया जायगा तो आदर्शवाद का नाम मिट जायगा। धर्म और नीति नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। सदभ्यास और सद्भावना का नाम न रहेगा। सुन्दर चरित्र कहीं देखने को न मिलेगा। कहना चाहिए कि मनुष्यता का ही तिरोधान हो जायगा।

विचित्र मानव-चरित्र का चित्रण अन्तर्लोक से बाहर व्यक्त करना भी साहित्य का एक मुख्य उद्देश्य है। आधुनिकों ने इसको बड़ा महत्त्व दिया है; क्योंकि यह बड़ा कठिन कार्य है। रवीन्द्र के शब्दों में साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है। केवल मनुष्य का हृदय ही साहित्य में पकड़ रखने योग्य नहीं है। मनुष्य का चरित्र भी इस प्रकार की एक सृष्टि है, जो जड़-सृष्टि की तरह हमारी इन्द्रियों द्वारा नहीं होती।

जीवन का सुधार भी नवीनों ने काव्य का प्रयोजन माना है। टालस्टाय ऐसा ही कहते हैं—'साहित्य या कला का उद्देश्य जीवन-सुधार है। केवल सामान्य जीवन का सुधार ही नहीं। इससे और भी बहुत कुछ।'

प्रेमचन्द के शब्दों में 'साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और सुन्दर बनाता है। दूसरे शब्दों में उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है, यही उसका मुख्य उद्देश्य है।'

हृदय-वृत्तियों को उच्च-स्तर में ले जाना भी साहित्य का मुख्य लक्ष्य है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है।"

कलात्मक आनन्द देना, सौन्दर्य का चित्रण करना और सत्य को सुन्दर स्वरूप देना।

कविता का मर्म है आदर्शों को उद्भावित करना, अपनी काल्पनिक दृष्टि से अंध जगत की तली में बहनेवाले विन्यास तथा सौन्दर्य को, सत्य तथा ऋत की उत्थापना करना और अपनी निर्माणमयी वृत्ति द्वारा उसको मर्त्य समाज के सम्मुख ला खड़ा करना। कविता मौलिक सत्य का उत्थापन करके निराशा का प्रतीकार करती है वह जीवन के संकुल प्रवाह की तली में सन्निहित हुए विन्यासयुक्त सौन्दर्य की झाँकी दिखाती है। यह शीर्ण हुए जीवन-पट को फिर से बुन देती है; उसके विकीर्ण तन्तुओं में पीयूष का संचार कर देती है, यह जीवन के आशय तथा लक्ष्य में नवीनता ला देती है। —श्रीसूर्यकान्त शास्त्री

हम आधुनिकों की भाषा में कहते हैं कि काव्य का काम है कलात्मक आनन्द देना, सौन्दर्य का चित्रण करना और सत्य को सुन्दर स्वरूप देना।

पाँचवीं किरण

काव्य और कला का उद्देश्य

पाश्चात्य देशों में काव्य कला के ही अन्तगत माना गया है। इससे कला के प्रयोजन काव्य के भी प्रयोजन माने गये हैं और इनका विवेचन भी साथ ही साथ किया गया है। कला के अनेक प्रयोजनों में नौ प्रयोजनों को मुख्य स्थान दिये गये हैं। यद्यपि कुछ के भाव एक दूसरे से मिल जाते हैं तथापि उनमें दृष्टिकोण की भिन्नता अवश्य वर्तमान है। वे ये हैं—

१ कला के लिए कला, २ जीवन के लिए कला, ३ जीवन से पलायन के लिए कला, ४ जीवन के आनन्द में प्रवेश पाने के लिए कला, ५ सेवा के लिए कला, ६ विनोद, विश्राम के लिए कला, ७ आत्मप्राप्ति या आत्मानुभूति के लिए कला, ८ आनन्द के लिए कला, ९ सृजन की आवश्यकता के लिए कला।

१ 'कला के लिए कला' के सम्बन्ध में रोम्यॉरोलॉ का कथन है—'कलाकार स्रष्टा है। वह सृष्टि के बीज बिखेरते चलता है, उसका

काम सिर्फ बोना है। फल का विचार करना या विचार कर बीज लगाना न तो उसके लिये सम्भव है न उसका काम ही।

'कला के लिये कला' इस सिद्धान्त ने सबसे अधिक प्रसिद्धि पायी है और कहना चाहिये कि सबसे अधिक इसका दुरुपयोग ही हुआ है। काका कालेलकर के शब्दों में 'जिस समय भोग-विलास के लिए कला का सेवन किया जाता है और इसी उद्देश्य से कोई तड़क-भड़कदार नाम देकर सदाचार का द्रोह करके 'कला के लिए कला' के सूत्र को पेश करता है, तब आपत्ति उठती है। सच पूछा जाय तो अक्सर यह सूत्र 'बाजार के लिए कला' या 'स्वेच्छाचार के लिए कला' बन बैठता है। इसी से इस सूत्र का इतना विरोध करना पड़ता है।'

'कला के लिये कला' का कथन केवल यही अभिप्राय व्यक्त करता है कि उसकी मनोमुग्धकारिता ही उसकी सर्वोपरि उपयोगिता है। वह आप अपने ही में पूर्ण है। उसकी अन्य कोई बाह्य उपयोगिता नहीं।

सच्ची कला की जब अनुभूति होती है और जब उसके उपयोग में कोई निमग्न हो जाता है, तब उसके समक्ष दूसरी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं पाया जाता। जब हम—

विजन बन वल्लरी पर—
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न-मग्न,
अमल कोमल तनु तरुणी जूही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में,　　　—निराला

"वह मुखड़ा विद्यापति की कविता की भाँति, प्रणय के प्रथमोच्छ्वास की भाँति निर्जन कुंज में डोलती हुई संध्या की भाँति, बाल्यकाल की सुख-स्मृति की भाँति, कोमल कल-कल शब्दकारिणी क्षुद्र तरंगमालिनी जाह्नवी के विशाल हृदय पर पूर्णिमा की रात्रि में मृदुपवन विकंपित शारदीया ज्योत्स्ना की भाँति है।"

—उद्भ्रान्त प्रेम

—पढ़कर मुग्ध और आनन्द विभोर हो जाते हैं, तब क्या स्वप्न में भी इसका आभास मिलता है कि इसके लिखने का क्या प्रयोजन ?

काका कालेलकर के शब्दों में कला द्वारा जीवन का सदाचार पुष्ट किया जा सकता है। कला द्वारा धर्म की सूक्ष्म वृत्तियां समझी

के लिये कविताओं, कवि-सम्मेलनों और नाटक आदि साहित्यिक प्रदर्शनों, कारुणिक व्याख्यानों द्वारा अर्थ-संग्रह सेवा-भाव से प्रेरित होकर ही किया जा सकता है। भक्ति साधन के रूप में सभी कलायें सेवापरायण बना दी गयी है। इसीसे तो गुप्तजी का कहना है—

न तन-सेवा न मन-सेवा
न जीवन और धन-सेवा।
मुझे तो इष्ट जन-सेवा
सदा सच्ची भुवन सेवा।

६—'विनोद के लिए या मन बहलाव के लिए कला या काव्य'—इस कथन में काव्यानन्द या कलानन्द गौण हो जाता है। जब शरीर शान्त और मस्तिष्क क्लान्त हो जाता है, तब गंभीर विषय के अध्ययन में चित्त नहीं लगता। उस समय कथा-कहानी, उपन्यास, नाटक, जिसे सरल साहित्य कहते हैं, पढ़ना ही पसन्द किया जाता है। ऐसे ही संगीत का श्रवण, चित्रों का दर्शन भी है। विनोद का उद्देश्य समय काटना, शारीरिक श्रान्ति और क्लान्ति दूर कर करना और चित्त को स्वस्थ बनाना ही है। यह काव्य और कला का बाहरी लाभ है; मुख्य प्रयोजन नहीं।

७—'कला आनन्द के लिए'—इससे कला का मूल प्रयोजन स्पष्ट है। काव्य-कला हो, चाहे संगीत-कला, चाहे चित्र-कला, कलाकार की रचना स्वयं कलाकार को आनन्ददायिनी होती है और पाठक तथा श्रोता को भी। जैसे—

रात ने न देखा कभी रवि को, न रवि ने
रात को निहारा भूल के भी आँख भर के
किन्तु निशा रोती है अधीरा बनी रात को
रवि के वियोग में, इधर रवि दिन में
हाय! तपते हैं निशारानी के विरह में
कैसी यह प्रीति है, वियोग यह कैसा है।—निराला

८—'आत्मानुभूति के लिए कला' का अर्थ कला द्वारा आत्मा का प्रत्यक्षीकरण या आत्म प्राप्ति है। कला में, काव्य में, कलाकार अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है और उसके द्वारा अपने को

जान भी सकता है। कला और कलाकार का एक अभिन्न सम्बन्ध रहता है—एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। ये पंक्तियाँ इसी भाव का निर्देश करती हैं—

जन्म ही जिसको हुआ वियोग
तुम्हारा ही तो हूँ उच्छ्वास
चुरा लाया जो विश्व समीर
वही पीड़ा की पहली साँस
छोड़ क्यों देते बारम्बार—
मुझे तम से करने अभिसार।—महादेवी

× × ×

चढ़कर मेरे जीवन रथ पर
प्रलय चल रहा अपने पथपर
मैंने निज दुर्बल पद बल पर—
उससे हारी होड़ लगाई।—प्रसाद

कला से आत्म-साक्षात्कार की बातें कितने नहीं मानते किन्तु उसके लिए इसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

९—'सृजन की आवश्यकता के लिए कला' का अभिप्राय है सृजन की अदम्य वृत्ति को तृप्त करना। मनुष्य अपने हृदय के उभरते हुए आनन्द को हृदय के गूढ़ और उत्कट भावों को रूप देने के लिये—अमूर्त को मूर्त स्वरूप देने को लालायित रहता है। उस समय कला उसकी सहायक होती है, कवीन्द्र इस अदम्य वृत्ति के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिये व्याकुल रहता है, इसीलिये चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का वेग है। इसीसे कहते हैं कि कला का निर्माण नहीं होता। यह कलाकार के द्वारा आप ही आप प्रकट होती है।'

इनसे यही व्यक्त होता है भिन्न-भिन्न समय पर कला विषयक ये पाश्चात्य सिद्धान्त चल पडे और उनके विभिन्न प्रयोजन की अव-

छठी किरण

काव्य के लक्षण (प्राचीन दृष्टिकोण)

न ब्रह्मविद्या न च राजलक्ष्मीः
तथा यथेयं कविता कवीनाम् ।

लक्षण दो प्रकार का होता है। एक तो बाह्य रूप का निरूपण करता है और दूसरा आन्तर रूप का। पहला विषय-बोधक वर्णन होने के कारण बाह्य और दूसरा अन्तरतत्त्व का बोधक होने के कारण आन्तर कहलाता है। इस दृष्टि से विचार करनेवाले काव्य के लक्षण-कारों में बहुत मतभेद दीख पड़ता है। उनमें कुछ लक्षण तो ऐसे हैं जो केवल काव्य के स्वरूप का वर्णन करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो काव्यात्मा का निरूपण करते हैं। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे काव्य का मनन-चिन्तन होता गया वैसे-वैसे इसमें विकास और परिष्कार होता गया। हम इनकी तीन श्रेणियाँ बना लेते हैं। वे ये हैं—(१) स्वरूपवादी (२) तत्त्ववादी और (३) मिश्रितवादी वा स्वरूपतत्त्ववादी।

१. स्वरूपवादियों में आचार्य भामह का प्रथम स्थान है। वे[1] सम्मिलित शब्दार्थ को काव्य का लक्षण मानते हैं। यों तो उच्चारण किये गये शब्द मात्र का कुछ न कुछ अर्थ होगा ही; किन्तु योग्यता आदि न रहे तो वह निरर्थक ही माना जायगा। पागल जो कुछ बोलता है उसका कुछ अर्थ होता ही नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; किन्तु उसमें वास्तविक अर्थ—किसी विषय में प्रवृत्ति वा निवृत्ति का तात्पर्य नहीं होता। अतएव ऐसे शब्द अर्थहीन हैं। इसी प्रकार अर्थ-शब्द से समझी जानेवाली वस्तुयें सर्वथा शब्दाश्रय ही नहीं रहतीं। क्योंकि वस्तुबोधक शब्दों के उच्चारण-श्रवण किये बिना भी दर्शन मात्र से वस्तुओं का ज्ञान होता ही है; किन्तु अर्थहीन शब्द और शब्दहीन अर्थ काव्य के संयोजक नहीं हो सकते। अतः सम्मिलित रूप में प्रस्तुत रहना वांछनीय है।

दूसरी बात यह है कि कवि जैसे अपना स्वतंत्र शब्द संचयन करता है वैसे उसके अर्थ को भी नये साँचे में ढाल देता है। कवि के वर्णनीय पदार्थ यथार्थ में कल्पना-प्रसूत होने के कारण उसके अपने

---

१ शब्दार्थौ सहितौ काव्यम् ।—काव्यालंकार

बन जाते हैं। इससे शब्दों के समान ही अर्थ भी कवि-कृति में सम्मिलित हो जाते हैं और ऐसे शब्दार्थ काव्य के लक्षक बन जाते हैं। जो लोग ऐसी विवेचना किये बिना ऐसे लक्षण के लिये इनका उपहास करते हैं वे स्वयं ही उपहासास्पद होते हैं।

यद्यपि इस लक्षण में कहीं भी अलंकार की चर्चा नहीं है तथापि भामह के मत से अलंकार अवश्य अपेक्षित है। जिस प्रकार 'रूपवती' का अर्थ 'आकारवती' मात्र न होकर औचित्य के अनुरोध से सुन्दर आकारवाली होता है उसी प्रकार शब्दार्थों से अलंकारयुक्त शब्द और अर्थ लिया जाता है, केवल साधारण शब्द और अर्थ नहीं। उन्होंने यह कहकर अलंकार का कुछ आभास भी दिया है कि 'नारी का मुख सुन्दर होने पर भी भूषण के बिना भासित नहीं होता।'[१]

दूसरा स्थान अचार्य दण्डी का है। वे कहते हैं कि पण्डितों ने काव्य के शरीर और अलंकार का निर्देश किया है। वह यह कि पदों के जिस समूह से इष्ट अर्थ निकले वह काव्य का शरीर है।[२] इन्होंने लक्षण में एक प्रकार से अलंकार का निर्देश कर दिया है। किन्तु यह लक्षण ठीक अग्निपुराण के लक्षण का अनुवाद मात्र है।

भामह और दण्डी दोनों ने काव्यों का निर्दोष और सालंकार होना प्रकारान्तर से माना है; किन्तु लक्षण वाक्यों में इनकी चर्चा नहीं की है और न इनको प्रधानता दी है। ये अलंकारवादी हैं और अलंकार ही को प्रधान मानते हैं। इनमें गौण रूप से अन्यत्र रस की भी चर्चा है।

वामनाचार्य कहते हैं कि अलंकार होने ही से काव्य होता है। सौंदर्य ही अलंकार है। काव्य का दोषरहित और गुणालंकारयुक्त होना सौंदर्य है। जिन शब्दार्थों में गुणालंकार हैं, वे काव्य हैं।[३] यह भी काव्य का वाह्य ही रूप है।

ध्वनि-मर्मज्ञ आनन्दवर्द्धनाचार्य यद्यपि लक्षणकार नहीं है तथापि एक प्रसंग में वे 'शब्दार्थ शरीरं तावत्काव्यम्'—काव्य का शरीर शब्द और अर्थ है, ऐसा कहा है।

१. न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।—काव्यालंकार
२. तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्चदर्शिताः। शरीरंतावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना-पदावली।
३. काव्यमलंकारात्। सौन्दर्यमलंकारः।
सदोषगुणालंकार हानादानाभ्याम्।
काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयो वर्तते।

आचार्य मम्मट साहित्यशास्त्रियों में गणनीय और माननीय हैं। इनके 'काव्यप्रकाश' के पठन-पाठन का पूर्णरूपेण प्रचलन है। इन्होंने पूर्वोक्त आचार्यों से अपने लक्षण को कुछ लम्बा बनाया है और जिन विषयों को अस्पष्ट करके लिखा है उन्हें इन्होंने लक्षण में स्पष्ट कर दिया है। इनका लक्षण है—दोषरहित, गुणयुक्त, अलंकार-युक्त और कहीं-कहीं अनलङ्कृत भी शब्द और अर्थ काव्य है[1]। ये भी अलंकारवादी आचार्यों की ही श्रेणी में आते हैं और इनका लक्षण भी शुद्ध स्वरूपवादी के ऐसा ही है। क्योंकि प्रायः एक प्रकार से दोष, गुण, अलंकार, शब्द, अर्थ में सभी काव्य के बाह्य रूप ही हैं।

भामह और दण्डी ने काव्य के संबंध में गौण रूप से जैसे रस की चर्चा की है वैसे इन्होंने भी की है; किन्तु इनमें कुछ विशेषता है जिससे साहित्यिकों का मत है कि अलंकारवादी होते हुए भी वे रस के परिपोषक थे। यह बात उनकी दोष, गुण तथा अलंकार की जो परिभाषा है उसी से स्पष्ट हो जाती है। वे लिखते हैं कि मुख्यार्थ का जो अपकर्षक है वही दोष है और रस ही काव्य का मुख्यार्थ है। अर्थात् रसापकर्षक ही दोष है। मनुष्य शरीर की आत्मा के लिए शौर्य, साहस आदि गुण जैसे उत्कर्ष के कारण हैं। उसी प्रकार काव्य की आत्मा रस के लिए उत्कर्ष के जो कारण हों वे गुण हैं।[2] अर्थात् रस के उत्कर्ष ही गुण हैं।

इनके परवर्ती कितने अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं के लक्षण को ग्रहण किया है—जैसे, निर्दोष, सगुण और सालंकार शब्दार्थ काव्य हैं।[3] विद्यानाथ और द्वितीय वाग्भट्ट ने इसी की पुनरावृत्ति की है।[4]

यह तो मम्मट भट्ट की तद्वत् अनुकृति है।

२ दूसरी श्रेणी में तत्ववादी आचार्य आते हैं। काव्यात्मवाद में इनकी गणना का कारण यह है कि इन्होंने काव्य की बाहरी टीमटाम पर ध्यान न देकर इसके अंतरंग में पैठने की चेष्टा की है। शब्दार्थमय वाक्य से कुछ अन्य वस्तु को ढूँढ निकालने का प्रयास

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

२. मुख्यार्थ हतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः।—काव्य प्रकाश का गुणालंकार प्रकरण द्रष्टव्य है।

३. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च काव्यम्।—हेमचन्द्र

४. गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ काव्यम्। शब्दार्थौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।

किया है। वे कहते हैं कि काव्य में शब्दार्थ के भीतर कुछ चमत्कार होना चाहिये तब स्पष्ट हो जाता है कि काव्य का यह बाहरी रूप नहीं है। यह एक काव्य की विशेषता है जो काव्य में ही पायी जा सकती है और भीतरी तत्त्व की परिचायक होती है। यह चमत्कार रस से भी परे है जैसा कि कहा है 'रसे सारः चमत्कारः'। कुन्तक का यह काव्य लक्षण है—

"कवि-कौशल-कल्पित विचित्र रचना में चमत्कारकारी शब्द और अर्थ के मधुरविन्यास को काव्य कहते हैं। केवल शब्द काव्य नहीं हो सकता और न केवल अर्थ ही।"[1] इससे स्पष्ट है कि सुन्दर-सुन्दर शब्दों के प्रयोग से वा अर्थ-गांभीर्य्य से काव्य काव्य नहीं हो सकता। इनका एक सुन्दर और विशिष्ट चमत्कारक संयोग होना चाहिये।

लक्षणकारों में दूसरा स्थान कविराज विश्वनाथ का है जिनका 'साहित्यदर्पण' मम्मट के 'काव्यप्रकाश' के समान ही प्रचलित है। इन्होंने इनके लक्षण का खण्डन करके अपना एक निराला ही लक्षण बनाया। जिसमें एक मात्र रस को ही प्रधानता दी है। इन्होंने शब्द और अर्थ को छोड़कर वाक्य को लिया और 'रसमय वाक्य काव्य होता है'[2] ऐसा लक्षण किया। रसमय विशेषण काव्य के अन्तरतत्त्व का बोधक है। यहाँ रस शृंगारादि नवरस का ही बोधक नहीं प्रत्युत् भावादि का भी बोधक है; क्योंकि रस का आस्वादित होना भी एक अर्थ है।[3] इस लक्षण का आधार शौद्धोदनि के प्राचीन लक्षण 'काव्यं रसादि मद्वाक्यम् श्रुते सुखे विशेषकृतम्'—सुख विशेष कारक सरस वाक्य ही काव्य है। सरसता काव्य की ही विशेषता है। इससे यह आन्तरिक लक्षण कहा जायगा।

तीसरा स्थान पण्डितराज जगन्नाथ का है। इन्होंने शब्द और अर्थ को पृथक् कर तथा वाक्य को छोड़कर यह लक्षण किया कि 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला शब्द काव्य कहलाता है।'[4] रमणीय विशेषण भी काव्य के अन्तर तत्त्व को व्यक्त करता है।

---

१. शब्दार्थसहितौ वक्र कवि व्यापार शालिनी
   बंधे व्यवस्थितौ काव्यंतद्विदाह्लादकारिणी।—वक्रोक्तिजीवित।

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

३. रस्यते आस्वाद्यत इति रसः।

४. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।—रसगंगाधर

इनके मत में सारी रमणीयता का आधार रस या चमत्कार नहीं है। अलौकिक आनन्द-दायक शब्द मात्र में भी अर्थ मिल जाय तो वह काव्य वाचक हो सकता है। मन का रंजन करना ही काव्य का मुख्य उद्देश्य है।

भारतीय काव्याचार्यों का एक स्वभाव-सा हो गया है कि एक दूसरे का खण्डन करते हैं। अतः मम्मट का खण्डन विश्वनाथ ने किया है और पण्डितराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों की तीक्ष्ण समालोचना की है; किन्तु इनका भी खण्डन-मण्डन और समर्थन हुआ है। तीनों ने एक विषय विशेष के प्रतिपादक, ध्वनिकार को छोड़कर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को कुण्ठित करके छोड़ दिया है।

२. मिश्रित लक्षणकारों में प्रथम भरतमुनि का नाम आता है, जो काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। वे कहते हैं कि 'कोमल और कमनीय पदों से युक्त, गूढ़ शब्द और अर्थ से हीन, सबके समझने योग्य, युक्ति युक्त रस के अनेक स्रोत बहानेवाला जो काव्य है वह उत्तम है। इसमें शब्दार्थ तथा गुणों के ग्रहण से, दोष त्याग से और युक्ति युक्त होने से प्रकारतः लक्षण में अलंकार आदि का समावेश हो जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय काव्य और नाटक अंगांगीभाव से वर्तमान थे।[1]

अग्निपुराण का स्थान द्वितीय माना जाता है। वे लिखते हैं— निर्दोष अलंकारसहित और गुणयुक्त जो संक्षिप्त वाक्य है, वह काव्य है। संक्षिप्त वाक्य का अर्थ है कि जो कुछ कहना चाहते हैं उसका कथन जितने से किया जा सके—न अधिक और न कम, ऐसी पदावली काव्य है।[2] अग्निपुराण के इस लक्षण में यह कहकर कि वाग्विदग्धता की वचन-चातुरी (अलंकार) की प्रधानता रहने पर भी काव्य का रस ही जीवन है।[3] सचमुच लक्षण में जीवन डाल दिया है।

---

१. मृदुललित पदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं जनपद (सुखजन) सुखबोध्यं (योग्यं) युक्तिमन्नृत्य (य) योज्यम्। बहुरसकृतमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तं स भवति शुभकाव्यं (भवति जगति योग्यं) नाटकेषु प्रेक्षकाणाम्।—नाट्यशास्त्र।

२. संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थं व्यवच्छिन्नापदावली।
काव्यं स्फुरदलंकारं गुणवद्दोष वर्जितम्।—व्यास

३ वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।

रुद्रट ने 'ननु शब्दार्थौ काव्यम्' लक्षण बनाकर स्वरूपवादियों की श्रेणियों में अपने को डाल दिया था; किन्तु जब उन्होंने यह कह दिया कि 'बड़े यत्न से काव्य को रसयुक्त बनाना चाहिये, ।[1] तब ये भी इस श्रेणी में आ जाते हैं। इतना कहने पर भी इनकी पूरी आस्था अलंकारवाद ही पर है।

स्पष्टतः भोजराजा ने कोई लक्षण तो नहीं बनाया; किन्तु इससे काव्य लक्षण के संबंध में उनका मत प्रकट हो जाता है। 'कवि दोष-रहित, गुणयुक्त अलंकारों से अलंकृत सरस काव्य करते हुए कीर्त्ति और प्रीति को प्राप्त करता है।[2] यही दशा प्रथम वाग्भट्ट की भी है। वे कहते हैं कि "सुन्दर शब्दार्थवाले, गुणालंकार से भूषित, रीति और रस से युक्त काव्य कीर्ति के लिए करना चाहिए।[3] जयदेवजी ने भी यही सब कुछ लिख मारा। एक और वृत्ति भी जोड़ दी। वे कहते हैं 'जो वाणी निर्दोष, सुलक्षण रीतिसहित गुणालंकारयुक्त तथा अनेक वृत्ति (अभिधा आदि) युक्त हो उसे ही काव्य कहते हैं।[4]

इन तीनों आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों में शब्द, अर्थ, गुण, रीति, अलंकार आदि काव्य के उत्कर्ष विधायक और शोभावर्द्धक जो धर्म दिखाई पड़े, उन्हें श्लोकवद्ध कर दिया। इनके विवेचनात्मक दृष्टिकोण न होते हुए भी ये लक्षण सरल और हृदयङ्गम हैं, यह कहना आवश्यक है।

शब्द को काव्य माननेवाले नौ और शब्द तथा अर्थ को काव्य माननेवाले पन्द्रह आचार्य हैं। संभव है इससे अधिक भी हों, । इनका भी यह सामान्य विभेद है।

पहली श्रेणी में १ दण्डी' २ काव्यदीपिकाकार कान्तिचन्द्र। इनका लक्षण भी दण्डी का सा है। ३ राजशेखर (क), ४ अलंकार शेखरकार शौद्धोदनि, ५ वृत्तिकार केशव मिश्र। इनका भी यही लक्षण है। ६ भोज, ७ विश्वनाथ, ८ जयदेव और ९ पण्डितराज।

द्वितीय श्रेणी में १ भामह, २ उद्भट, ३ रुद्रट, ४ आनन्दवर्धन, ५ वामन (ख , ६ कुन्तक, ७ मम्मट, ८ हेमचन्द्र, इनके काव्यानुशासन का ऐसा ही लक्षण है। 'वाग्भट' १० विद्यानाथ (ग), ११ विद्याधर (घ), १२ अच्युतराय (ङ), १३ क्षेमेन्द्र (च), १४ न्यायवागीश (छ), धर्मसूरि (ज)

एक वैयाकरण का काव्य लक्षण यह है कवि का वचननिर्माण काव्य है। वह निर्माण मनोहर चमत्कारकारिणी रचना है।[२] मम्मटाचार्य भी यही कहते हैं कि अलौकिक वर्णन में निपुण कवि का कर्म ही काव्य है।[३]

---

१ क, ख करके जिन आचार्यों के लक्षणों का उल्लेख नहीं किया गया है वे सब लक्षण इसी किरण में अन्यत्र आ गये हैं।

(क) गुणवदलंकृतञ्चवाक्यमेव काव्यम्। —काव्यमीमांसा

(ख) काव्य शब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोरेव वर्तते।—काव्यालंकार

(ग) शब्दार्थौ वपुरस्य, शब्दार्थ वपुस्तावत्काव्यम्।—एकावली

(घ) गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।
गद्य पद्योभयमयं काव्यं काव्यविदोविदुः।—प्रतापरुद्रीय

(ङ) तत्र निर्दोष शब्दार्थ गुणावत्वे सति स्फुटम्।
गद्यादिबन्ध रूपत्वं काव्य सामान्य लक्षणम्।— साहित्यसार

(च) काव्यं विशिष्ट शब्दार्थं साहित्य सदलङ्कृति। —कविकंठाभरण

(छ) गुणालंकार संयुक्तौ शब्दार्थौ रसभावगौ।
नित्यदोष विनिर्मुक्तौ काव्य मित्यभिधीयते। —अलंकार चन्द्रिका

(ज) सगुणालंकृतौ काव्यं पदार्थौ दोषवर्जितौ।—साहित्यरत्न

२. कविवाङ्निर्मितः काव्यम्। सा च मनोहर चमत्कारिणी रचना।—शब्दकौस्तुभ

३. काव्यं लोकोत्तर वर्णननिपुण कविकर्म।—काव्य प्रकाश

सातवीं किरण

काव्यात्मा का विचार (प्राचीन दृष्टिकोण)

काव्य के स्वरूप-निर्णय में उसके अन्तस्तत्त्व की चर्चा हुई है और एक स्थान पर काव्यात्मा की भी बात आयी है। काव्यात्मा कहने से उसके मूलतत्त्व का बोध होता है। यह भी एक प्रकार का लक्षण निर्देश ही है। इसमें भी आचार्यों का मतभेद है।

काव्यमाधुरी के पारखियों ने पहले पहल अलंकार को ही काव्य का सौंदर्य निश्चित किया। इससे उनके मत में वाच्यार्थ का सालंकार होना ही यथार्थ काव्य माना गया।[1] किन्तु अलंकार शब्दार्थ के भूषण हैं। वे काव्य की आत्मा वा उसका यथार्थ स्वरूप नहीं हो सकते।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवन माना है।[2] वक्रोक्ति का अर्थ है उक्ति वैचित्र्य—कहने का निराला ढंग। अभिप्राय यह कि जिस कविता में कवि के रचनाचातुरी की चमत्कृति हो वह वक्रोक्ति-पूर्ण कविता है। वक्रोक्ति की गणना अंलकारों में की जाती है और काव्य का वक्रोक्तिगर्भित होना बहुतों को अभीष्ट भी है; किन्तु काव्यात्मा की महत्ता इसको प्राप्त नहीं है क्योंकि वक्रोक्तिविहीन कविता भी कविता कहलाने की अधिकारिणी है।

वामन ने रीति को स्पष्टतः काव्यात्मा माना है।[3] किन्तु रीति एक रचना प्रणाली है—पदस्थापन की शैली विशेष है, जो प्रसाद आदि गुणों पर निर्भर करती है। इससे रीति काव्यात्मक नहीं हो सकती।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने एक जगह पर लिखा है कि सहृदयों द्वारा श्लाघ्य जो अर्थ काव्यात्मा रूप से व्यवस्थित है वह वाच्य

---

१. काव्यमलंकारः।—काव्यालंकार

२. वक्रोक्तिःकाव्यजीवितम्।—वक्रोक्तिजीवित

३. रीतिरात्मा काव्यस्य।—काव्यालङ्कारसूत्र

और प्रतीयमान के भेद से दो प्रकार का है [1]। इसी प्रतीयमान अर्थ की ध्वनि को ही एक दूसरे पद्य द्वारा स्पष्ट करके काव्यात्मा कहा है।[2] ध्वनि की आत्मा भी व्यंग्यार्थ ही है [3] और ध्वनि रसादि रूप होती है।

विद्यानाथ ने लिखा है कि शब्द और अर्थ मूर्ति है और उसमें व्यंग्य वैभव ही जीवन है।[4] इसमें कोई नूतनता नहीं; क्योंकि व्यंग्य तो ध्वनि ही है, केवल शब्द मात्र का अन्तर है।

पहले पहल व्यासजी ने ही रस को—काव्यात्मा को जीवित की संज्ञा दी है।[5] शौद्धोदनि ने रस को आत्मा कहा है[6] और राजशेखर ने भी रस को आत्मा माना है।[7] महिमभट्ट ने लिखा है काव्य उसे कहते हैं जिसका रसादि आत्मा है।[8] इसमें आदि शब्द है। किन्तु 'रस' के उल्लेख से रस की प्रधानता व्यक्त होती है और वही काव्यात्मा मान्य है। विश्वनाथ भी यही कहते हैं कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रसादि आत्मा है[9]......आदि। इसमें दर्पणकार ने काव्य को पुरुष मानकर उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन कर दिया है और उसमें रस को आत्मा मान लिया है। ध्वनिकार ने जिस ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है उसे रसवादी विश्वनाथ ने रस में ही उसका अंतर्भाव कर लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी ने अलंकार को, किसी ने वक्रोक्ति को, किसी ने रीति को, किसी ने त्रिरूप ध्वनि (वस्तु अलंकार, रस) और किसी ने रस को ही सर्वस्व मान लिया है। इसमें रसपक्ष की ही प्रबलता है। दर्पणकार ने इसको प्रधानता दी

---

१ अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मयो व्यवस्थितः
२ काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः } ध्वन्यालोक
३ मुख्यतया प्रकाश्यमानो व्यंग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा।

४ शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यंग्यवैभवम्।

५ रस एवात्रजीवितम्।—अग्निपुराण

६ रस आत्मा परं मनः।

७ रस आत्मा।—काव्यमीमांसा

८ काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादि रूपे न कस्यचिद्विमतिः।—व्यक्तिविवेक

९ काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम् रसादिश्चात्मा......।—साहित्यदर्पण

है और इसके पक्ष का खूब समर्थन किया है। कहना चाहिये कि किसी न किसी प्रकार से सभी आचार्यों ने इस बात को स्वीकार कर लिया है कि कविता के प्राण रस हैं। शब्द और अर्थ उसके शरीर हैं और अलंकार भूषण हैं। यथार्थतः रस काव्य की आत्मा है। रस आनन्दमय है, सुखमय है। इसी से आत्मा को रस कहा गया है। 'रसो वै सः'।

युग के विकास और वस्तुतत्त्व की यथार्थता के अनुसंधान से समय और प्रवृत्ति के अनुसार इसमें भी अन्तर आया। अंततः पंडितराज जगन्नाथ के रमणीयतावाद ने रसवाद को पीछे छोड़ दिया। आज-कल काव्य में रमणीयता की रोचकता को विशेषतः प्रश्रय मिल रहा है।

इनके पूर्वापर सिद्धान्तों का बहुत ही खण्डन-मण्डन है। दर्पण-कार ने जिनके उपजीव्य ग्रन्थों के आधार पर अपना ग्रन्थ बनाया है, उनपर भी कलम-कुल्हाड़ा चलाया है; किन्तु उनका भी सिद्धान्त निर्भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता। पण्डितराज के बाद उनका कोई समकक्ष हुआ ही नहीं, जो खण्डन-मण्डन के काम को अग्रसर करता।

काव्य-लक्षण-और काव्यात्मा के तत्त्वानुसंधान से यह लक्षित हुए बिना नहीं रहता कि उत्तरोत्तर के अनुसंधान से काव्यात्मा का विकास होता गया है और उसमें नूतन-नूतन तत्त्व पैठते गये हैं।

आठवीं किरण

आनन्दमूल—काव्य लक्षण

साधारण रूप से काव्य के कुछ लक्षण लिखे जाते हैं जिनसे काव्य के संबंध में कुछ तथ्य संग्रह किये जा सकते हैं।

आनन्द मूलक काव्य लक्षण

संस्कृत और हिन्दी में सैकड़ों गद्य-पद्य ग्रन्थों के निर्माता और प्राचीन तथा नवीन युगों के संगम-काल के सुप्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ साहित्याचार्य पण्डित अम्बिकादत्त व्यास का लक्षण है—'लोकोत्तर आनन्द देनेवाला प्रबन्ध ही काव्य है।'

लक्षण पर ध्यान देने से कई नयी बातें प्रत्यक्ष होती हैं। एक तो यह कि पूर्वाचार्यों के लक्षण जिन शब्द, अर्थ, गुण, रीति, अलंकार, रस और रमणीयता पर ही बने बिगड़े-उनको व्यास जी ने तिलांजलि दे दी। दूसरी बात यह कि पूर्वाचार्यों के 'तददोषौ शब्दार्थौ' के जो शब्दार्थ, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का जो वाक्य और 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' का जो शब्द काव्य-व्यंजना के आधार रहे, उनका स्थान व्यासजी के 'प्रबंध' ने ले लिया।

इन दोनों बातों से व्यासजी ने अपने काव्य लक्षण की मौलिकता स्पष्ट कर दी है। उनके पूर्व तक काव्य के गुणालंकार रीति-मूलक लक्षण थे। वे काव्य की बाह्य वस्तु का ही स्पर्श करते थे, काव्य के अंतरंग को नहीं छूते थे। इनका अपवाद एक रूप से विश्वनाथ कविराज का 'रसात्मक वाक्यवाला' लक्षण कहा जा सकता है। पंडितराज को इनसे आगे बढ़ना चाहता था; किन्तु वे रमणीयता ही में रमते रहे; किन्तु व्यासजी अपनी लोकोत्तरानन्द की बात कहकर काव्य को अन्तश्चेतना में पैठते भी हैं, रस में सराबोर भी होते हैं और रमणीयता का भी उपभोग करते हैं। यद्यपि 'परनिर्वृतये' परमानन्द की प्राप्ति कहकर मम्मट भट्ट इससे विमुख नहीं कहे जा सकते और न विश्वनाथ कविराज ही 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की चर्चा करके आनन्द से अनभिज्ञ बताये जा सकते; किन्तु यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि आनन्द चाहे परमानन्द हो चाहे 'ब्रह्मानन्द सहोदर' काव्य स्वरूप के निर्णय में उन्हें मुख्य स्थान नहीं दिया गया है। इससे इस नवीन युग में, नवीन विचार से, संस्कृत-साहित्य के पारंगत पण्डित होते हुए भी व्यासजी काव्य के नवीन लक्षणकार अवश्य माने जायेंगे।

सर्व साधारण अपने-अपने मन के अनुकूल कार्य होने तथा आह्लादकर भिन्न-भिन्न अन्यान्य कृत्यों और दृश्यों को देख-सुनकर साधारण आनन्द का उपभोग करते हैं। इनमें पुत्रोत्पत्ति आदि जैसी विशेष घटनाओं के घटित होने के कारण इस आनन्द में कभी कुछ विशेषता भी आ जा सकती है; किन्तु यह आनन्द या विशेष आनन्द सो प्रति दिन के कार्य का एक अंग-सा हो गया है। यह दैनन्दिन का लौकिक आनन्द लौकिक पदार्थों और कार्यों पर ही निर्भर है। इस प्रकार का साधारण आनन्द काव्य जैसे महत्वपूर्ण

विषय का न तो उद्देश्य ही हो सकता है और न लक्ष्य ही, फिर उसके स्वरूप का परिचायक होना तो असम्भव ही है। अतः काव्य के ग्रहीता अर्थात् काव्य के पढ़ने-सुनने और प्रयोग रूप में उसको देखनेवाले जब काव्यानुशीलन में प्रवृत्त होते हैं तब उन्हें एक भिन्न प्रकार का आनन्द होता है, जो सांसारिक नहीं होता। वे उसमें तल्लीन-से हो जाते हैं। उस समय तक के लिये वे संसार को एकदम भूल जाते हैं—उन्हें अपने-पराये की कुछ भी सुध बुध नहीं रहती। यह काव्यानन्द सांसारिक आनन्द से अत्यन्त विलक्षण है। इससे यह लोकोत्तर है।

इसका कारण है।

आत्मा चिदानन्द स्वरूप है। प्रीति, स्नेह, दया, भक्ति आदि सात्विक भावों की अवस्थायें हैं, जो काव्य में प्राप्त होती हैं। आत्मा से अनुप्राणित कोषोभ यात्मक सूक्ष्म शरीर में जो सद्भाव संगृहीत होते हैं वे काव्य से प्राप्त होते हैं। भाव रूप से हृदय में प्रस्फुटित जो कुछ सत्य, शिव और सुन्दर होता है उसका अनुभव भाव-विमुग्ध मनुष्य अपने अन्तर्हृदय से करता है। भाव भीतर ही भीतर हमें लोकोत्तर ज्ञान की प्राप्ति के योग्य बना देता है, पर ज्ञान नहीं। यह श्रुतिसम्मत है कि 'आनन्द ही ज्ञान का सार' है; क्योंकि विज्ञानमय कोष के भीतर ही आनन्दमय कोष है। उस आनन्द के मूल का कारण भाव ही हैं, जो काव्य में प्राप्त होते हैं। इसी कारण काव्य में हम लोकोत्तर आनन्द पाते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद की वाणी में "काव्य या साहित्य आत्मा की अनुभूतियों का नित्य नया-नया रहस्य खोलने में प्रयत्नशील है; क्योंकि आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय माना गया है। अयमात्मा वाङ्मयः, मनोमयः प्राणमयः (वृहदारण्यक)—उपविज्ञान प्राण, विज्ञानवाणी और विजिज्ञास्य मन है। इसीलिये कवित्व को आत्मा की अनुभूति कहते हैं। मनन-शक्ति और मनन से उत्पन्न हुई अथवा ग्रहण की गयी निर्वचन करने की वाक्शक्ति और इनके सामंजस्य को स्थिर करनेवाली सजीवता अविज्ञात प्राण-शक्ति ये तीनों आत्मा की मौलिक क्रियायें हैं।"

रही शब्दार्थ, वाक्य और शब्दवाली बात। इन तीनों में पृथक्

पृथक् कवित्व लाना सहज है। इनमें कुछ भी रस, गुण, अलंकार वा चमत्कार आ जाय तो शब्द, अर्थ, वाक्य अपनी विशेषता के कारण पद्य को चमत्कृत कर सकते हैं और सहृदयों को काव्य वा सूक्ति के आनन्द का अनुभव हो सकता है। किन्तु प्रबन्ध में—चाहे पद्य समूह में वा गद्य रचना में लोकोत्तरानन्ददायकता लाना कठिन बात है। सब कवियों के लिए यह सहज साध्य नहीं है। प्रबन्ध में लोकोत्तरानन्द पैदा करनेवाला कवि ही यथार्थ कवि है और उसकी रचना काव्य कही जा सकती है। आचार्य शुक्ल कहते हैं—"जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे वह तो है काव्य। और, जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत करे वह तो है सूक्ति।" इस विषय में हम आचार्य से सहमत नहीं ; क्योंकि हमें सूक्तियों से भी अलौकिक आनन्द होता है, और भाव या भावना की जाग्रति होती है। पर वे सूक्तियाँ जो चित्र काव्य का ही चमत्कार दिखाती हैं, जिन्हें हम तमाशा कहते हैं, उनकी गणना अधम काव्य में की जा सकती है। सुभाषित या सूक्ति कहने से कोई रचना काव्य की पंक्ति से छाँट नहीं दी जा सकती।

विशिष्ट विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि कविता का आनन्द-दायक होना उसका एक स्वरूप है। कवीन्द्र रवीन्द्र के शब्दों में "भगवान् की आनन्द-सृष्टि उसकी प्रतिध्वनि है। इस जगत-सृष्टि के आनन्द गीत की झंकार हमारी हृदय-वीणा-तंत्री को अहरहः स्पन्दित करती है। यही जो मानव संगीत है—भगवान की सृष्टि के प्रतिध्यान में हमारे अन्दर यही जो सृष्टि का आवेग है—उसी का विकास साहित्य है।"

विदेशी काव्यकार मिल्टन का भी कहना है कि 'कविता वह कला है जिसमें कल्पना-शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनन्द का परस्पर मिश्रण करती है।'

अनुभूत्यात्मक लक्षण

"कवि की प्रशंसा इसी में है कि वह जैसा अनुभव करे वैसा ही अपने वर्णन से दूसरे को भी अनुभव करा दे। वह ऐसा चित्र खड़ा कर दे कि उसने जैसा देखा है, दूसरा भी उसे वैसा ही देखे,

से हमें आनन्द होता है या प्रसंग-विशेष पर नये-नये अनुभव प्राप्त करने के कुतूहल से होता है।

सिनेमा के जो प्रसिद्ध सितारे हैं उनकी प्रसिद्धि का कारण क्या है? यही कि अनुकरण करने में वे अत्यन्त पटु हैं। नाटकीय पात्रों की भूमिका में वे पात्रों की गतिविधि, आचरण, चेष्टा आदि का ऐसा अभिनय करते हैं कि उनके अनुकरण से हमें आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द अनुकृतिजन्य ही होता है। प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षक इससे सहमत हैं। कारण यह कि एक के स्वाभाविक गुण-दोष का अन्यत्र तत्तुल्य परिदर्शन आनंद का कारण होता ही है।

विक्रमादित्य नामक चित्रपट में विक्रम के वैभवशाली राजभवन तथा उनके दरबार के तत्कालिक वर्णन का जो चित्र उपस्थित होता है उससे हमें कल्पना-जनित आनन्द का अनुभव होता है।

किसी-किसी कविता के, जिसमें वस्तु-विशेषों का यथार्थ वर्णन रहता है, पढ़ने से कहीं तो प्रत्यभिज्ञा होती है और कहीं कुतूहल-पूर्ति। किसी से नवीन बातों का अनुभव होता है और किसी से अपने मन का समाधान होता है, वहाँ-वहाँ एतन्मूलक ही आनंद होता है।

कहीं-कहीं भाषा, शैली, अलंकार आदि से, तो कहीं चरित्र-चित्रण से, कहीं सुख की क्षणभंगुरता से, तो कहीं भवितव्य की प्रबलता आदि देख-सुनकर आनन्द होता है। कहना चाहिये कि कवि बड़े ही अनुभवी होते हैं। इस कारण उनकी कलाकृति में बहुत-सी जानने-सुनने और सीखने-सिखाने की बातें मालूम होती हैं, जिनसे आनन्द होता है।

सर्वोपरि काव्यानन्द की मूल बात है काव्य-नाटक के पात्रों में रहनेवाली तटस्थता।

दसवीं किरण

काव्य-लक्षण में नवीन दृष्टिकोण

भावात्मक या मनोवेगमूलक लक्षण

सांसारिक चराचर वस्तुओं का प्रभाव प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से हमारे हृदय पर पड़ता है और उससे मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं, जिन्हें भाव कहते हैं। ये हमारे मन में संचित रहते हैं। इन भावों को—मनोवेगों को उद्दीप्त करनेवाली रचना कविता कहलाती है। इसी को लक्ष्य करके कितने मनीषियों ने कविता का मनोवेगमूलक लक्षण बना डाला है।

"कविता सबल भावों का स्वतः प्रवाहित वा स्वच्छन्द प्रवाह है। इसकी उत्पत्ति प्रसाद वा शान्ति में एकत्र हुए मनोवेगों से होती है।"
वर्ड्स वर्थ

"कविता मनोवेगों को अविरुद्ध छोड़ देना नहीं अपितु उनसे मुक्ति पाना है। यह व्यक्तित्व का प्रदर्शन नहीं अपितु व्यक्तित्व से मुक्ति पा जाना है।" रीड हर्बर्ट

"कविता साहित्य की वह विधा है जिसका लक्ष्य मनोवेगों को तरंगित करना है और जो छन्दों में लिखी जाती है।" सूर्यकान्त शास्त्री

"किसी युग के प्रधान भावों और उच्च आदर्शों को प्रभावोत्पादक रीति से प्रकट कर देना ही कविता है।" अल्फ्रेड लायल

आत्मवृत्तिमूलक लक्षण

विचारशील समालोचक विद्वान् कहते हैं कि कविता को आत्मा से संबंध है। हृदय ही तक उसकी सीमा नहीं है। अनुभूतिप्रधान होने के कारण कविता आत्मा की वस्तु है और तल्लीनता की दशा में ही शब्द द्वारा उसका आविर्भाव होता है। जिससे लोक-मानव आनन्द-धारा में बहता हुआ बेसुध हो जाता है। इसी अन्तरात्मा के संवेदन को लक्ष्य में रखकर उसके स्वरूप का निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है।

"वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय के अंदर प्रतिक्षण जो रूप धारण करते हैं, जिस संगीत को ध्यान में

करके उठाते हैं भाषा रचित वही चित्र और वही गान साहित्य है।”

रवीन्द्र

“काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका संबंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। वह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान-धारा है।” प्रसाद

“साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्तरूप है और सामंजस्य सौन्दर्य की सृष्टि करता है।” प्रेमचन्द

“प्रत्येक उच्च कोटि की कविता में कवि की आत्मा की निगूढ़तम आकांक्षाओं का आभास स्वप्नों के रूप में झलकता है।”

“वास्तविक कविता का रस कवि के जीवनव्यापी आत्मनिपीड़न द्वारा नाना अनुभूतियों के आलोड़न-विलोड़न से आत्मा के अतलतम प्रदेश से निःसृत रस है।” इ० च० जोशी

जीवनमूलक काव्य-लक्षण

कहते हैं कि कविता का सीधा जीवन से संबंध है। हम जो कुछ सुख-दुःखात्मक अनुभव करते हैं उन्हें जब शब्द-सूत्र में पिरो देते हैं तब सत्य रूप में वही कविता बन जाती है। लौकिक जीवन सांसारिक अनुभवों का जाल है, जो जीवों को उलझाये रहता है। इसी से इस जीवन को आधार मानकर साहित्यिकों ने साहित्य के स्वरूप को स्थिर किया है। जैसे—

“कविता यथार्थ में मानव-जीवन का सूक्ष्म विश्लेषण है। कवि की महत्ता इसी में है कि वह विचारों को बड़ी कुशलता से जीवन के उपयुक्त कर दे। कविकल्पित सत्य और सौन्दर्य के नियमों द्वारा निर्द्धारित की गयी परिस्थितियों में किया गया जीवन का व्याख्यान ही कविता है।” मैथ्यू आर्नल्ड

“साहित्य की सर्वोत्तम परिभाषा जीवन की आलोचना है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, चाहे काव्य के। उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिये।”

प्रेमचन्द

साहित्य में मनुष्य की बुद्धि और भावना इस प्रकार मिल जाती है जैसे धूपछाहीं वस्त्र में दो रंगों के तार, जो अपनी-अपनी भिन्नता के कारण ही अपने रंगों से भिन्न एक तीसरे रंग की सृष्टि करते—

हैं। हमारी मानसिक वृत्तियों की ऐसी सामंजस्य पूर्ण एकता साहित्य के अतिरिक्त कहीं संभव नहीं। उसके लिये न हमारा अन्तर्जगत् त्याज्य है और न वाह्य; क्योंकि उसका विषय संपूर्ण जीवन है न कि आंशिक।" महादेवी

"साहित्य अन्तर्जगत् और वाह्य जगत का द्वार खोल देता है। अर्थात् मनुष्यों के भीतर और बाहर जीवन का जो एक प्रवाह बह रहा है उसी का वह केन्द्र स्थान है। यहीं सब चिन्ता-स्रोतों का संगम होता है।" प० पु० बख्शी

कलामूलक लक्षण

कलाविद् समालोचकों ने कविता को कला कहा है। शब्द, अर्थ, स्वर, गति का काव्य में सुन्दर समावेश का होना ही इसका कला-रूप है। कविता ही कला नहीं, कला भी कविता है जैसा कि कहा गया है कि 'कविता उन दृश्यों से अपना हृदय दिखाने के लिए फूट निकलती है जो वस्तु एवं स्थापत्य द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। इसका कारण कलावादियों की यह उक्ति है कि कविता ललित कला है और ललित कला है मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण है। कविता के लक्षण में कला का इसी से स्थान है। कहा है—

"साधारण घटना को चमत्कृतियुक्त नवीनता तथा एक निराले ढंग से वर्णन कर जाना और सीधी-सी बात में भी एक बाँकपन पैदा कर देना ही प्रतिभा का स्वरूप और कवि का काम है।" पद्मसिंह शर्मा

"काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त विधान के लिए कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठव के लिये वह संगीत का कुछ कुछ सहारा लेती है। रामचन्द्र शुक्ल

"जीवन की विविधता में सामंजस्य को खोज लेने के कारण ही कविता उन ललित कलाओं में उत्कृष्टतम स्थान पा सकी है जो गति की विभिन्नता, स्वरों की अनेक रूपता या रेखाओं की विषमता के सामंजस्य पर स्थित है।" महादेवी

"मधुर शब्दों में कल्पना और भावप्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला को कविता कहते हैं।" चेम्बर

"कविता वह कला है जो शब्द-गुम्फन में ऐसा सौन्दर्य सम्पादित करे जिससे विचार में चमत्कार की सृष्टि हो। चित्रकार चित्र में जैसा रंग भरता है वैसे कवि कविता में शब्दों का प्रयोग करता है।" मेकाले

हृदयोद्गारमूलक लक्षण

कहते हैं कि कविता हृदय की उपज है। वाह्य वा वस्तुजगत् से अन्तर्जगत् बहुत-से भावों का संग्रह करता रहता है। हृदय उनको व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। इससे हृदय में जब भाव की तरंगे उठती हैं और रागात्मिका प्रकृति प्रबल हो उठती है तब कवि के मुख से आप ही कविता निकलने लगती है। अतः काव्य स्वरूप के निर्णय में अधिकांश विद्वानों और कवियों ने हार्दिक उद्गार को स्थान दिया है। जैसे—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना स्वाती शरद कहहिं सुजाना।
जो बरसै वर वारि विचारू। होहिं कवित्त मुक्तामनि चारू। तुलसी

"संसार का निश्वास हमारी चित्त-वंशी में कौन-सी रागिणी को बजा रहा है, साहित्य उसी को स्पष्ट करके व्यक्त करने की चेष्टा करता है।" रवीन्द्र

शेली के शब्दों में 'कविता एक स्वर्गीय ज्योति है जो मनुष्य के हृदय तथा मस्तिष्क के सामने उस दीपक को जला देती है जिससे भलाई और बुराई दीख पड़ने लगती है।'

"यदि साहित्य या कला को आत्मा का कुसुम कहा जाय तो उपयुक्त होगा। जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्ष के समस्त रस को अपने अन्दर आकर्षित करके एक नवीन उज्ज्वल आह्लादमय पूर्ण रूप में विकसित हो उठता है ठीक उसी प्रकार साहित्य या कला भी मनुष्य के हृदय में समस्त रस को अपने अन्दर आकृष्ट करके एक नवीन, उज्ज्वल और आह्लादमय पूर्ण रूप में विकसित हो उठती है। अन्ततः जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्ष के रस को छोड़कर मूल में और कुछ नहीं है, ठीक उसी प्रकार 'कला' या साहित्य भी मूल में मनुष्य के हृदय के रस के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है।"

[illegible]

काव्य रूप का व्यापक दृष्टिकोण

काव्य की जो मूल प्रेरणायें हैं वे विश्वव्यापी हैं और उनमें व्यक्त होनेवाले भाव सत्य सनातन माने जाते हैं। उनका कोई एक निर्दिष्ट क्षेत्र नहीं। यद्यपि मनोवृत्तियाँ एक-सी नहीं होतीं; किन्तु सत्यान्वेषण में उनकी एकप्राणता अवश्य लक्षित होती है। भाषा भिन्न होने पर भी मानव मात्र के हृदय के भावों में भिन्नता नहीं पायी जाती; क्योंकि उनमें सनातन साम्य है। इसीसे साहित्यिकों ने व्यापक दृष्टि से भी काव्य की परिभाषा की है।

"काव्य एक सत्य है। वह सत्य स्थानीय वा व्यक्ति विशेष के लिए सीमा बद्ध नहीं है। वह सर्व साधारण की वस्तु है। वह बड़ा ही शक्तिशाली है। मनोवृत्ति की गति की भाँति वह भी बिल्कुल हृद्‌गत बात है। बाह्य प्रमाण के ऊपर उसकी स्थिति नहीं है। काव्य प्रकृति और मानव की प्रतिमूर्ति है।......राग के द्वारा सत्य का हृदय में सजीव पहुँचना कविता है।" वर्ड्‌सवर्थ

विविध विषयमूलक काव्य-लक्षण

संस्कृत के कुछ प्राचीन आचार्यों ने कविता के लक्षण में जैसे रस, रीति, गुण, दोष, अलंकार आदि सभी विषयों को सम्मिलित कर दिया है वैसे ही कुछ आधुनिक साहित्यिकों ने भी काव्य-साहित्य के लक्षणों में भाषा, कल्पना, संगीत आदि सारी बातों का उल्लेख कर दिया है। ऐसे समालोचक विद्वान् भी हैं, जिन्होंने काव्य-कार्य तक को भी कविता की परिभाषा में सम्मिलित कर लिया है। कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

"कविता सत्य, सौन्दर्य तथा शक्ति के लिए होनेवाली वृत्ति का मुखरण है। यह अपने आप को प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के द्वारा खड़ा करती और निर्देशित करती है। यह भाषा को विविधता तथा एकता के सिद्धान्त पर स्वर-लय सम्पन्न करती है।' ले हंट

साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गयी हो, जिसमें भाषा प्रौढ़, परिमार्जित तथा सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है जब उसमें जीवन की सचाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गयी हों।" प्रेमचन्द

"उपयुक्त भाषा में सुन्दर और उच्च विचारों का समावेश हो

कविता है। उसमें कल्पना और भावावेश भी रहना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि भाषा पद्यात्मक हो और उसकी यह विशेषता होनी चाहिये कि उसके पढ़ने से पाठकों के हृदय में उसी के अनुकूल भावों का उद्रेक हो।" वेब्सटर्स डिक्सनरी-

"जब मनुष्य सत्य को सबसे श्रेष्ठ भाषा में प्रकट करता है तब वही भाषा कविता हो जाती है।" मैथ्यू आर्नल्ड

काव्य में बुद्धि-तत्त्व के लिए भी स्थान है, भावना के लिए भी कल्पना के लिए भी; जिसका प्रभाव हम पर पड़े, उसमें काव्य की प्रतिष्ठा मानी जायगी।" निराला

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं।" प्रेमचन्द

राशिकृत ज्ञान, पुंजीभूत शाश्वत सत्य, संचित मानस-रस, उद्वेलित आनन्द, लोकोत्तर-प्रतिभा प्रकाश, प्राणों के पालने पर हौले-हौले पेंगे भरती सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा ही तो साहित्य है।"

जानकी वल्लभ शास्त्री

कुछ इन वर्णित लक्षणों से विभिन्न भी काव्य लक्षण हैं, जिनमें कुछ ये हैं—

१ समग्र विद्या का प्राणोपम धातु ही काव्य है। वर्ड्सवर्थ
२ कविता मनुष्य और प्रकृति की प्रतिमूर्ति है। ,,
३ प्रभावशाली शब्दों में कल्पना का प्रकाशन ही काव्य है। शेली
४ सौन्दर्य की लयात्मक शब्द-रचना कविता है। एडगर एलन पो
५ शब्द और विचार के साथ भावों का स्वाभाविक अभिव्यंजन काव्य है। मिल
६ संगीतात्मक छंद में सुन्दर और मधुर शब्दों द्वारा प्रकाशित अर्थ ही काव्य है। कार्लाइल
७ कविता कल्पना द्वारा सत्य के साथ आनन्द के संमिश्रण की कला है। जानसन
८ कविता असंभव को संभव बनानेवाली है। विको
९ सकल कला के स्वरूप जो सत्य, शिव और सुन्दर हैं उसका भावात्मक विवरण ही काव्य है। सॉरेट

१० कविता की मिट्टी अनुभूति है, जन्मभूमि हृदय है राज्य सौन्दर्य है। द्विजेन्द्रलाल
११ मनोयोग और ललित कला की सुन्दर पदावली ही काव्य है। हैजलिट
१२ कविता सरल ऐन्द्रिय तथा भावपूर्ण होनी चाहिये। मिल्टन
१३ जिन शब्दों में अपने भावों की छाया दूसरों पर डालने की समता है उन्हें ही हम कविता-साहित्य कहते हैं।
विनय मोहन शर्मा
१४ कविता सम्पूर्ण ज्ञान राशि की साँस तथा अन्तरात्मा है। वर्ड्स वर्थ
१५ साहित्य का विषय मानव-चरित्र और मानव-हृदय है। रवीन्द्र
१६ कविता वस्तुओं की दशा द्योतन करती है न कि वस्तु। लैम्बर्न

कविता के उपर्युक्त लक्षणों में जो भिन्न भिन्न भाव व्यक्त हैं उनसे किसी एक निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँचा जा सकता, तथापि ज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में विशिष्ट विवेचक को विचार के घोड़े दौड़ाने की स्वतन्त्रता है।

ग्यारहवीं किरण

काव्य-लक्षण-परीक्षण

प्रारम्भ से ही काव्य-लक्षण की मार्मिक विवेचना करनेवाले विवेचक विद्वान् इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि काव्य के स्वरूप का सर्वसम्मत या बहुसम्मत लक्षण नहीं बनाया जा सकता, प्रत्युत स्थिर रूप से यह कहा जा सकता है कि काव्य-स्वरूप-निर्णय कठिन ही नहीं बल्कि असंभव ही है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो 'काव्य-लक्षण' के इतने मत-मतान्तर नहीं दीख पड़ते। काव्य का निर्विवाद कोई लक्षण हो ही कैसे सकता है जब कि विचारों और तर्कों का अन्त नहीं है और जब कि काव्य का स्वरूप ही ऐसे व्यापक और सर्वग्राह्य हैं। प्रति क्षण परिवर्तनशील मनःस्थिति स्वरूप कविता की रूप-रेखा कैसे आँकी जा सकती है? सुश्री महादेवी वर्मा के शब्दों में—

"कविता मनुष्य के हृदय के समान ही पुरातन है; परन्तु अब

तक उसकी कोई परिभाषा नहीं बन सकी जिसमें तर्क-वितर्क की संभावना नहीं रही हो।.........क्योंकि प्रत्येक युग अपनी विशेष समस्यायें लेकर आता है जिनके समाधान के लिए नयी दिशायें खोजती हुई मनोवृत्तियाँ उस युग के काव्य और कलाओं को एक विशिष्ट रूप-रेखा देती रही है।"

कविता की बाहरी रूप-रेखा में भले ही अन्तर आ जाय; किन्तु उसकी अन्तरात्मा में अन्तर आना असंभव है; क्योंकि भावुकता और संवेदनशीलता तो सर्वदा अक्षय है। उनकी एकरसता में परिस्थिति और काल-गति से कोई परिवर्तन हो नहीं सकता। इसी से वे कहती हैं कि—

"मूलतत्त्व जीवन के न बदले हैं और न काव्य के। कारण वे उस शाश्वत चेतना से संबद्ध हैं जिसके तत्त्वतः एक रहने पर ही जीवन की अनेकता निर्भर है।"

काव्य-साहित्य की परिभाषाओं का अन्त नहीं। इनमें कुछ का ऊपर उल्लेख हो चुका है। वे स्थूल, विचित्र और सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हैं। कारण यह कि सत्य को शब्द में व्यक्त करना बड़ा कठिन है। मनुष्य की भावनाओं का अन्त नहीं। इससे ये सब परिभाषाएँ व्यक्तिगत हैं। इससे समष्टि-रूप में साहित्य की यथार्थता बतायी नहीं जा सकती। बहुत दिनों से साहित्य वा काव्य की प्रकृत प्रकृति बताने की चेष्टा हो रही है, पर क्या सब कुछ कोई बता सका?

जो कुछ हो प्रगतिशीलता का तकाजा है कि एक लक्षण बने और उससे काम निकालकर दूसरा बनाने को प्रस्तुत रहें, जैसा कि अब तक देखा गया, देखा जा रहा है और आगे भी देखे जाने की संभावना है। अतः साधारण रूप से यहाँ कुछ विचार किया जा रहा है।

कविता के लक्षणों पर दृष्टिपात करने और उनके अन्तर में पैठकर विचार करने पर वैसे ही 'नेति' 'नेति' कहने का जी करता है जैसे परमात्मा के रूप-निरूपण में पण्डित मूर्द्धन्य विचार करने पर भी नेति नेति कह उठते हैं। इनके अतिरिक्त समालोचकों और कवियों की लक्षणात्मक कविता की इतनी सूक्तियाँ हैं जिनका पारावार नहीं। इनमें पौरस्त्य और पाश्चात्य प्रकाण्ड पण्डित भी

सम्मिलित है। इन सबों में से आप आत्म संतोष के लिए कोई लक्षण मनोनीत कर ले सकते हैं।

इनमें कोई-कोई लक्षण तो कलापक्ष को लक्ष्य में रखकर निर्मित हुए हैं और कोई-कोई भाव पक्ष को लेकर। इनमें अधिकांश कविता के लक्षण नहीं कहे जा सकते क्योंकि कुछ लक्षण तो उसके गुणों का निदर्शन करते हैं। कुछ प्रभाव के प्रशंसक हैं, कुछ कवियों की चित्तवृत्ति के बोधक हैं और कुछ कविता के उपादानों का वर्णन करते हैं।

लक्षणकारों में दो प्रकार के विलक्षण समालोचक लक्षित होते हैं। एक के लक्षणों में बुद्धि की बहिर्मुखि प्रवृत्ति है और दूसरे के लक्षणों में अन्तर्मुखी। इन्हीं प्रवृत्तियों को लक्ष्य में रखकर उन्होंने अपने लक्षण बताये हैं। इनके भी दो प्रकार हैं—एक तो कविता को आनन्द का, मनोरंजन का साधन मानते हैं और उनका लक्ष्य विशेष कुछ भी नहीं रहता। वे यहाँ तक पहुँच जाते हैं कि कविता को आचारच्युत और मार्गभ्रष्ट करनेवाली कहने से भी विमुख नहीं होते। किन्तु, दूसरे इसके ठीक विपरीत हैं। वे इसे आत्मा की अमर अनुभूति कहकर इसे स्वर्गीय विभूति बना डालते हैं। ये सब लक्षण इन्हीं बुद्धिकारी व्यवसायियों के मस्तिष्क की उपज है।

इन दोनों प्रकार के लक्षण के विचारों का सामंजस्य करके कविता का एक निश्चित लक्षण बनाना असंभव-सा ही है। किन्तु, इन विद्वानों के लक्षणों में एक सूक्ष्म तत्त्व, का आभास मिलता है। जिसे आधार मानकर काम चलाने के लिए एक लक्षण बनाया जा सकता है। वह है रागात्मक तत्त्व जो सारी सृष्टि के साथ हमारा संबंध जोड़ता है। यह तत्त्व कविता में पाया जाता है, जो लोक सामान्य भावभूमि पर हमें पहुँचा देता है। यह मनोभाव कविता से उच्छ्वसित होता है। कोई इसे मनोवेग का तरंगित होना भी कहते हैं। पर यह रागात्मक तत्त्व का मनोवेग ही उद्वेलित होकर परमानन्द देता है जो सर्वजनानुमोदित है, जिसमें यह पाया जा[illegible]

बारहवीं किरण

काव्य के कारण (प्राचीन दृष्टिकोण)

साहित्य-स्रष्टाओं, विशेषतः काव्य निर्माताओं को साहित्य-शास्त्र के विषयों को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा न करने से वही कहावत चरितार्थ होगी कि 'बिच्छू का मंत्र न जाने, साँप के बिल में हाथ दे।' इसी को महाकवि मङ्खक ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है, जिसका आशय यह है कि पाण्डित्य के रहस्यों—ज्ञातव्य प्रच्छन्न विषयों—कलाओं—की बारीकी बिना जाने-सुने जो काव्य करने का अभिमान करते हैं वे सर्प-विषनाशक मंत्रों को न जानकर हलाहल विष चखना चाहते हैं।[1]

सच्चा कवि वह है जो लोकानुशीलन से उत्पन्न अनुभूतियों को व्यवस्थित रूप में सुन्दर ढंग से प्रकाशन करने की वह शक्ति रखता है जो अलौकिक है।

काव्य-निर्माण में इसी उक्त शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। कहा है कि एक तो मनुष्य का जीवन पाना दुर्लभ है और उसमें विद्या का होना और दुर्लभ है। उसमें भी कविता दुर्लभ है और सबसे दुर्लभ शक्ति है।[2] भामह, दण्डी, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट आदि प्रायः सभी प्राचीन काव्याचार्यों ने इसी शक्ति का और इस के साथ अन्य दो विषयों—निपुणता और अभ्यास का उल्लेख काव्य-रचना के कारणरूप में किया है।[3] यही शक्ति परमावश्यक है।

रुद्रट के मत से शक्ति वह है जिससे स्थिर चित्त में सुन्दर शब्दार्थों का अनेक प्रकार से स्फुरण हो।[4] यह शक्ति दो प्रकार की

---

१ अज्ञात पाण्डित्य रहस्यमुद्रा ये काव्यमार्गे दधतेऽभिमानम्।
ते गारुडीयाननधीत्य मंत्रान् हालाहलास्वादनमारभन्ते। श्रीकंठ चरित

२ नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥ अग्निपुराण

३ शक्ति निपुणता लोक शास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। मम्मट

४ मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।

वाक्य-अर्थ नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, कोई ऐसा न्याय नहीं, (लौकिक कूप मंडूक न्याय, नीर क्षीर न्याय आदि नहीं) और ऐसी कोई कला नहीं जो काव्य का अंग न हो सके। कवि के भार को क्या कहना है।[1] फिर भी कुछ उल्लेख कर दिया जाता है। भामह ने—

१ व्याकरण, २ छन्द-शास्त्र, ३ इतिहास, ४ लोक-व्यवहार, ५ तर्क-न्याय ६ कला (चौसठ) इन्हें ही 'काव्ययोनयः'[2]—काव्य के उद्भव स्थान कहा है। ऐसे ही चरित्र-शास्त्र (आचार-विचार के ग्रंथ, स्मृति आदि), रस-सिद्धान्त (मनोविज्ञानात्मक रस-ग्रन्थ), अर्थ-शास्त्र एवं नीति-कोष, काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र तथा चतुर्वर्ग साधन आयुर्वेद को भी आवश्यक बताया गया है। महाकवि क्षेमेन्द्र ने काव्य के कुछ कारण बताये हैं जिन्हें कवि बनने के सापेक्ष साधन भी कह सकते हैं। उनके मत से पाँच कारण मुख्य हैं—१ कवित्व शक्ति। यह दो प्रकार से प्राप्त हो सकती है। एक तो सरस्वती के आराधन से और दूसरा पौरुष से अर्थात् किसी कविगुरु से काव्यशास्त्र के अध्ययन करने से। २ शिक्षा। इसका तो अन्त ही नहीं है। फिर भी काव्याङ्गविद्या, छन्द, कला, लोकाचार, भाषा, इतिहास आदि का ज्ञान होना मुख्य है। ३ चमत्कारोत्पादन। बिना चमत्कार के तो क्षेमेन्द्र के मत से काव्य काव्य हो ही नहीं सकता।[3] चमत्कारों में शब्दगत, अर्थगत, अलंकारगत, रसगत और शब्दार्थ-गत मुख्य हैं। ४ गुण-दोष-ज्ञान और ५ परिचय चारुता अर्थात् इन विद्याओं और कलाओं से परिचय होना चाहिये। तर्क, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीति, रामायण, महाभारत, वेद, पुराण, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज-तुरंग-पुरुष परीक्षा, भूत, इन्द्रजाल आदि।

३ अभ्यास तीसरा कारण है। यह व्युत्पत्ति के अन्तर्भूत है।

---

१ न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला
जायते यन्न काव्यांगमहो भारः महान् कवेः। काव्यालंकार

२ शब्द छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोकोयुक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्ययोनयः। मम्मट

३ नहि चमत्कार विरहितस्य कवेः काव्यत्वं न वा काव्यस्य काव्यता।
—कविकण्ठाभरण

गुरु के उपदेश से जो काव्य-निर्माण और काव्य-चर्चा करने में चतुर हैं ऐसे गुरु के उपदेश से काव्य-रचना में बार-बार प्रवृत्त होने को अभ्यास कहते हैं। कविता के लिए अभ्यास की भी बड़ी आवश्यकता है। प्रायः देखने में आता है कि कवि के प्राथमिक काव्य में वह प्रौढ़ता नहीं आती जो कुछ दिनों के अभ्यास के अनन्तर उसी कवि के अन्य काव्य में परिलक्षित होती है। निपुणता और अभ्यास प्रतिभा के परम सहायक हैं। कहा है—'अभ्यासः कर्मसु कौशलम् विहति।'

"करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान।'

काव्य-निर्माण में शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों सम्मिलित रूप से कारण हैं और इनकी शृंखला नहीं टूटती। जैसे कड़ियाँ मिलकर एक दूसरे की सहायक होती हैं, वैसे ही ये कारण भी हैं। समझना चाहिये कि शक्ति बीज है, तो निपुणता खाद और अभ्यास पानी। शक्ति द्वारा उद्भूत, निपुणता द्वारा परिपुष्ट और अभ्यास द्वारा पुष्पित तथा फलित होकर काव्य वृक्ष अपने प्रेमियों को निरंतर आप्यायित करता रहता है। इस बात का समर्थन कवि जयदेव इस प्रकार करते हैं कि व्युत्पत्ति और अभ्यास के सहित प्रतिभा कविता का कारण है जैसे कि मिट्टी और जल से युक्त बीज की उत्पत्ति लता का कारण है।

शक्ति कविता को प्रादुर्भूत करती है, निपुणता उसमें उचिता-नुचित और सारासार का विचार करती है और अभ्यास उसे आगे बढ़ाता है। इसी को प्रकारान्तर से वाग्भट कहते हैं कि काव्य का कारण प्रतिभा है, व्युत्पत्ति उसका भूषण है और अभ्यास उसकी उत्पत्ति का वर्द्धक है[2]। स्वतः सिद्ध प्रतिभा, अत्यंत और निर्विकार शास्त्र श्रवण-व्युत्पत्ति तथा अनल्प अभ्यास, बराबर रचना में लगे रहना काव्य संपत्ति अर्थात् उसके श्रेष्ठ होने के कारण हैं।[3] इन

---

१ प्रतिभैव श्रुताभ्याससहिता कवितां प्रति।
हेतुर्मृदम्बुसंबद्धबीजोत्पत्तिर्लतामिव।—जयदेव

२ प्रतिभाकारणन्तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्।
भृशोत्पत्तिकृदभ्यास इत्यादि कवि संकथा।—वाग्भट

३ नैसर्गिकीच प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य संपदः।—दण्डी

तीनों कारणों को भिखारी दास ने एक सवैया में यों व्यक्त किया है—

शक्ति कवित्त बनात की जिहि जन्म
नछत्र में दीनीं विधातैं
काव्य की रीति सिखी सुकवीन सौं
देखी सुनी बहु लोक की बातैं ।
दास जू जामें इकत्र ये तीनि
बनै कविता मन रोचक तातैं ।
एक बिना न चलै रथ जैसे
धुरंधर सूत कि चक्र निपातैं ॥

दण्डी, मम्मट, वाग्भट और जयदेव आदि काव्याचार्यों का मत है कि काव्य के लिए ये तीनों नितान्त अपेक्षित हैं ; किन्तु रुद्रट, वामन, राजशेखर और पण्डितराज तीनों को एक साथ कारण नहीं मानते ।

वामन ने 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'—प्रतिभा ही कवित्व बीज है । और राजशेखर ने 'साकेवलं काव्यहेतु'—शक्ति ही केवल काव्य का कारण है । ऐसा मानते हैं । पण्डितराज प्रतिभा को—प्रसाद प्राप्त अदृष्ट शक्ति को एक पृथक् कारण तथा व्युत्पत्तिजन्य और अभ्यास-जन्य शक्तियों को दूसरा कारण मानते हैं ।[१] अपने को पूर्वार्जित संस्कार सम्पन्न न समझे हुए काव्य रचना-प्रेमी हतोत्साह न हो जायँ इससे उनको संतोष देते हुए दण्डी कहते हैं कि यद्यपि पूर्वजन्मार्जित प्रतिभा न हो तथापि अध्ययन और अभ्यास से की गयी सरस्वती-सेवा फलदायिनी होकर ही रहेगी । इससे निरालस होकर निरंतर सुयश चाहनेवालों को श्रम से सरस्वती-सेवा करनी ही चाहिये ।[२]

---

१ तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा
सा च काव्यघटनानुकूल पदार्थोपस्थितिः ।
तस्याश्चहेतुः क्वचिद्देवता महापुरुष-प्रसादादि जन्यमदृष्टम् ।
क्वचिच्चविलक्षण व्युत्पत्ति काव्यकरणाभ्यासौ न तु त्रयमेव ।

२ न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना । 'गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवंकरोत्येव कमप्यनुग्रहम् ।
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ।

कुछ साहित्यिकों का विचार है कि शक्ति से जो कविता की जाती है, वह उत्तम है; क्योंकि उसमें दैवी प्रेरणा रहती है। निपुणता से अर्थात् छन्दः काव्य शास्त्रादि के अध्ययन से जो कविता की जाती है, वह मध्यम है; क्योंकि उसमें दैवी प्रेरणा नहीं रहती! और अभ्यास वश जो कविता की जाती है वह निकृष्ट होती है; क्योंकि उसमें न तो दैवी प्रेरणा ही झलकती है और न शास्त्रादि के अध्ययन का कुछ प्रभाव ही दीख पड़ता है।

निदान, उपर्युक्त तीनों कारण जिस काव्य-रचयिता में पूर्ण रूप से वर्तमान रहते हैं वे ही कवि कीर्तिशाली होते हैं।

तुलसीदासजी काव्य कारण की बात यों कहते हैं—

हृदय सिन्धु मति सीप समाना स्वाती शारद कहहि सुजाना।
जो बरखे बरवारि विचारू। होहि कवित मुक्ता मणि चारु।

× × × ×

जस कछु बुधि विवेक बल मोरे तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे।

आज के कवि भी देव-प्रसाद को कविता का कारण मानते हैं और सरस्वती से कहते हैं—

अयि मधुरवादिनी सदा तुम रागिनी अनुरागिनी-
भर अमृत धारा आज कर दी प्रेम विह्वल हृदयतल,
आनन्द पुलकित हो सकल तव चूम कोमल चरणतल।—निराला

कवि की सलोनी कविता के मानसर में
संख्यातीत स्वर्णजल जात मधु भार ले
खिल उठते हैं मा तुम्हारी मुसकान से।
होती है विभामय तुम्हारे पद-नख की
अमल धवल ज्योति पाके कवि कल्पना।—वियोगी

तेरहवीं किरण

काव्य के कारण (नूतन दृष्टिकोण)

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज समुद्र का वह एक बिन्दु है। एक बिन्दु पृथक् होकर क्षण भर भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। एक ओस-बिन्दु भले ही कली का मुँह खोल दे पर उसे वह जीवित नहीं रख सकता। मनुष्य की भी यही दशा है। समाज से पृथक् होकर वह छिन्न कुसुम-सा सूख जाता है। उसकी मानसिक शक्तियाँ विकसित हो नहीं पातीं। शरीर भी क्षीण हो जाता है। उसकी आत्मा कुण्ठित हो जाती है। चेतनता निर्विकार रहने नहीं पाती। इसी से किसी व्यक्ति को विविक्त वा एकान्त-वास में रखना एक शारीरिक और मानसिक दण्ड समझा जाता है।

मनुष्य अपने को कितनाही स्वाधीन क्यों न समझे, पर वह समाज का एक अंग है। वह आत्मीय जनों, बन्धुवर्गों, स्वजातियों को छोड़ नहीं सकता। वह सामाजिक बंधनों से बँधा हुआ है। वह समाज में रहकर समाज के हित-अनहित से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। उससे भी समाज का हित-अनहित हो सकता है। समाज की आशा-तृष्णा और इच्छा-कांक्षाओं के साथ उसकी भी आशा-तृष्णा और इच्छा-कांक्षायें बँधी हुई हैं। वह जैसे समाज से कुछ लेना चाहता है वैसे ही कुछ देना भी चाहता है। यह लेन-देन-व्यष्टि रूप में नहीं समष्टि-रूप में ही चल सकता है। इसका साधन साहित्य ही है।

मनुष्य केवल क्षुत्तृष्णा की निवृत्ति से ही तृप्त नहीं हो सकता। उसकी शारीरिक भूख भले ही मिट जाय, पर आत्मा की भूख नहीं मिटती। इसके लिए वह वास्तविक जगत् की वस्तुओं से काल्पनिक संबंध जोड़ता है और जीवन को पूर्ण करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा में वह अपने हृदय के उमड़ते हुए भावों को साज-सँवार-कर उनके सौन्दर्य पर मुग्ध होता है और माधुर्य का उपभोग करता है। वह केवल अपने ही आनन्द उठाना नहीं चाहता। वह चाहता है कि दूसरे भी वैसे ही उसके आनन्द का उपभोग करें। कवीन्द्र

के शब्दों में हमारे मन के भाव की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेक हृदयों में अपने को अनुभूत करना चाहता है।

सभी मनुष्यों का ऐसा सौभाग्य नहीं। समाज के इने-गिने व्यक्ति ही ऐसी शक्ति लेकर पृथ्वी पर आते हैं। ये प्रतिभाशाली कवि जब अपने भावों को व्यक्त करते हैं तब अपने को उनसे उन्मुक्त नहीं रख सकते। आत्मगोपन की इच्छा रखते हुए भी उनकी आत्माभिव्यक्ति हो जाती है। आत्म-प्रकाश की यह इच्छा भी काव्य-कृति का प्रकृत कारण है। कवीन्द्र के शब्दों में 'हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिए आकुल रहता है। इसीलिये चिरकाल से मनुष्य के भीतर साहित्य का वेग है।'

क्रौंचवध-कातर क्रौंची के क्रन्दन से महर्षि वाल्मीकि की हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे और उनके वेदना-विह्वल हृदय से सहसा श्लोक रूप में शोक निकल पड़ा।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्।

इसमें कवि की स्वगत वेदना व्यक्त नहीं है। किन्तु परपीड़ा से प्रभावित हृदय की आनन्द-वेदना है। क्योंकि कवि-वेदना को जा मूर्ति दान करता है उसमें मजेदार रस उड़ेल देता है। इसी से कितनों का कहना है कि वेदना-विकल हृदय ही कविता का कारण है। ऐसा ही अनुभव एक कवि का भी है—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप वही होगी कविता अनजान। —पंत

कवि का अनुमान है कि प्राण में किसी प्रेमी का वियोग हुआ होगा तब वह कवि बन गया होगा और वियोग में शोकोच्छ्वास ही ने गीत का आकार धारण कर लिया होगा। फिर तो न जानें आँखों से उमड़कर कितनी ही कविताएँ वह चली होंगी; क्योंकि आँसुओं का मोल किसी कविता से कम क्या है!

यद्यपि शोक में अनुभूति की तीव्रता रहती है तथापि यह कोई आवश्यक नहीं कि वेदना-विकल हृदय से ही कविता [illegible]। जब कभी किसी के हृदय में भाव की लहरें लहरा[illegible] रागात्मिका शक्ति प्रबल हो उठेगी तभी कवि-कंठ से [illegible]

निकलेगा काव्य ही होगा। यही लार्ड बाइरन का कहना है—जब मनुष्य की वासनायें या भावनायें अंतिम सीमा पर पहुँच जाती हैं तब वे कविता का रूप धारण कर लेती हैं।

वर्ड्सवर्थ का कहना है कि समय-समय पर मन में जो भाव संगृहीत होता है वही किसी विशेष अवसर पर जब प्रकाश में आता है तब कविता का जन्म होता है।

कवीन्द्र के शब्दों में बाहरी सृष्टि जैसे अपनी भलाई-बुराई अपनी असंपूर्णता को व्यक्त करने की निरंतर चेष्टा करती है वैसे ही यह वाणी भी देश-देश में भाषा-भाषा में हमलोगों के भीतर से बाहर होने की बराबर चेष्टा करती है। यही कविता का प्रधान कारण है।

आधुनिक साहित्यिक यह कहते हैं कि प्रतिभा ही केवल कवित्व का कारण हो सकती है। इस पर प्राचीनों ने जोर नहीं दिया। संस्कृत आलङ्कारिकों की दृष्टि में अशास्त्राभ्यासी कवि नहीं हो सकता। यह कहना ठीक नहीं है। हेमचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि काव्य रचना का कारण केवल प्रतिभा ही है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं, काव्य के कारण नहीं। मम्मट का तो कहना यह है कि मन्दबुद्धि भी गुरु-उपदेश से शास्त्राध्ययन में समर्थ हो सकता है; पर काव्य तो कभी-कभी किसी प्रतिभाशाली के ही सौभाग्य में होता है।

जैनेन्द्र एक स्थान पर कहते हैं—'साहित्य को शास्त्र के रूप में मैं देख ही नहीं पाता हूँ; पर शास्त्र बिना जाने भी मैं साहित्यिक हो गया हूँ, ऐसा आप लोग कहते हैं। तब मुझे कहना है कि साहित्य शास्त्र को बिना जाने भी साहित्यिक बना जा सकता है, और अच्छा साहित्यिक भी हुआ जा सकता है।' ऐसे ही एक-दो अन्य व्यक्ति भी कहते हैं।

यह एक प्रकार का अहंवाद है। यह भले ही कहा जा सकता है कि साहित्य-शास्त्र या लक्षण-ग्रन्थ का परीक्षार्थी के रूप में साहित्यिक होने के लिए अध्ययन आवश्यक नहीं है। पर यह कभी नहीं हो सकता कि लक्ष्य ग्रन्थों के अध्ययन से उसे साहित्यिक सामग्री प्राप्त नहीं हुई है। साहित्यिक, लेखक या कवि के लिए

प्रतिभा या शक्ति आवश्यक है। यह शास्त्रीय मर्यादा ही है। अनेक विषयों के अध्ययन से जो व्युत्पत्ति होती है वह भी भूलने की बात नहीं। अभ्यास के स्थान पर साधना का ही उल्लेख सही। भले ही उसका रूप भिन्न हो पर है वह अभ्यास ही। साधना से सिद्धि की बात तो दण्डी डंके की चोट कह चुके हैं। कलाकार को जिन उल्लिखित शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता है उनकी झलक अच्छे साहित्यिक की रचना में पायी जाती है। जैनेन्द्र इन बातों से अपने को विलग नहीं कर सकते यदि आप कहते हैं कि साहित्य का लक्षण रस है, रस प्रेम है। प्रेम अहंकार का उत्सर्ग है। इससे साहित्य का लक्षण ही उत्सर्ग है। हमारी भावनायें आत्मा से निकलती हैं। जहाँ उनका व्यक्तीकरण हुआ वहीं साहित्य है। लेखक आपमें कोई प्रतिध्वनि उठाता है? आपको निकट खींचता है? हाँ, तो वह साहित्य है। ये सब बातें तो साहित्य-शास्त्र की हैं। भावाभिव्यक्ति, रसानुभूति, साधारणीकरण के व्याख्याता अपने को अशास्त्रज्ञ नहीं कह सकता। जब आप कहते हैं कि जीवन से अनपेक्षित होकर साहित्य न जिन्दा रहा है, न रह सकता है। जीवन की जितनी समस्यायें हैं वे हमारे सामने जीवित समस्या के रूप में उपस्थित हों, तब आप पाश्चात्य साहित्य-समीक्षाशास्त्र से अपने को सम्पर्कशून्य साबित नहीं कर सकते। मैथ्यू आर्नल्ड भी यही कहता है कि साहित्य जीवन की समीक्षा है। यह ठीक है कि निरक्षर के मुख से भी कविता की वाणी निकल पड़े और सबके हृदयों को प्लावित कर दे। किन्तु साहित्य-ज्ञान के बिना उसका परिमार्जन संभव नहीं। साहित्य-शिक्षा हमारी उद्‌भूत भावना में प्रभविष्णुता ला देती है। भावना, भावुकता और प्रभविष्णुता को परखना उसके उचितानुचित होने की विवेचना और इनको परिष्कृत रूप में रखना साहित्य-शिक्षा के बिना असंभव है। अन्यान्य शास्त्रों के ज्ञान के बिना भी आधुनिक कविता का मर्म समझना कठिन है। अतः स्वाभाविक शक्ति रहते हुए भी शास्त्रानुशीलन साहित्य के लिए कारण रूप में ग्राह्य है।

चौदहवीं किरण

काव्यार्थ लोकशास्त्रावेक्षण (नवीन दृष्टिकोण)

आज संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक सभी देशों, सभी जातियों और सभी श्रेणियों के मनुष्यों में क्रान्ति की लहर-सी आ गयी है। सभी प्राचीन रूढ़ियाँ और सिद्धान्त ध्वस्त हो रहे हैं। यह क्रान्ति बौद्धिक ही नहीं, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, औद्योगिक, नैतिक। धार्मिक आदि सब प्रकार की हो रही है। जीवन में एक प्रवाह-सा आ गया है। मानसिक और चारित्रिक जगत् में भी प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन लक्षित हो रहा है। चारों ओर प्रगति ही प्रगति दीख पड़ रही है और सारी दुनिया एक नये साँचे में ढलती-सी नजर आती है। इसी से यह युग क्रान्ति और परिवर्तन का युग कहा जाता है।

इस क्रान्ति के कारण हैं यातायात के वैज्ञानिक साधन और मुद्रण-कला का अभूतपूर्व विकास। अब देश-विदेश का अन्तर मिट-सा गया है और विचारों के आदान-प्रदान की विशेष सुविधा हो गयी है। विविध आचार-विचार और रहन-सहनवालों का संसर्ग अनायास ही प्राप्त हो गया है, जिससे दूसरों का प्रभाव हम पर विशेष रूप से पड़ रहा है। संसार के सारे पदार्थ तथा बुद्धि-वैभव की विविध वस्तुयें लोचन गोचर भले ही न हों पर बुद्धि गोचर तो हैं ही। संसार का क्षेत्र सीमित-सा हो गया है। ऐतिहासिक अनुसंधानों और नाना आविष्कारों और स्वतंत्रतात्मक सिद्धान्तों ने इस क्रान्ति में चार चाँद-से लगा दिये हैं।

कहने को तो विज्ञान ने सुख-सम्पति के ही सब साधन प्रस्तुत किये, पर उनसे जो जनता का दुख दैन्य बढ़ा वह किसी से छिपा नहीं है। यंत्रों ने वस्तु-निर्माण में लाघव किया, पर जीवन की व्यस्तता इतनी बढ़ गयी कि सभी समयाभाव का दुखड़ा रोते हैं। मनुष्य एक दूसरे के निकट आया, पर पारस्परिक, ईर्ष्या, द्वेष, दम्भ, स्वार्थ, शोषण आदि इतने बढ़ गये कि एक दूसरे से खिंच गया। सांसारिक शान्तियाँ विश्वशान्ति की घोषणायें करती हैं; पर वे अशान्ति और उपद्रव के ही कारण हो रही हैं। सारांश यह

कि सारा संसार संघर्षशील हो रहा है। इसका कारण यह है कि सामाजिक विषमता, जातिगत विभिन्नता तथा साम्पत्तिक अव्यवस्था इतनी बढ़ गयी है कि जनता अकुला उठी है।

इससे कविता करनेवाले को बहुत व्यापक दृष्टि बनानी पड़ेगी। उन्हें ध्यान देना होगा कि जन-समाज के विचार कैसे बदल रहे हैं, उनकी मती-गति कैसी हो रही है, उनकी आकांक्षायें क्या हैं; और उनके मन में कैसे भाव घर कर रहे हैं। ऐसा न होने से परिवर्त्तित वातावरण में परिवर्तमान जीवन के सजीव रूप खड़े नहीं हो सकते। उसमें स्फूर्ति और जागृति नहीं लायी जा सकती। जन समाज पर पड़नेवाले विचारों की वेगवती धारा के प्रवाह को अपनी कविता का आधार बनाना ही होगा और दकियानूसी भावों का मूलोच्छेद करना ही होगा तभी कवि प्रगति-पथ के पथिक हो सकते हैं। इसका समर्थन आचार्य शुक्ल यों करते हैं—"अब मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र बुद्धि व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत ही विस्तृत हो गया है। अतः उसके विस्तार के साथ हमें अपने हृदय का विस्तार भी बढ़ाना पड़ेगा। विचारों की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसंधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप में प्रत्यक्षीकरण भी कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम और उच्च काव्य का लक्षण होगा।"

कवि होने के लिए देश-विदेश का भ्रमण और वहाँ का अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है। सब प्रकार के मनुष्यों से मिलने-जुलने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये। सभा सोसाइटियों में सम्मिलित होना उतना ही आवश्यक है जितना सामाजिक विधि-विधानों तथा क्रिया-कलापों में। कवि होने के लिए सुखियों के सुख-सौभाग्य और दुखियों के दुख-दुर्भाग्य का निरीक्षण जैसा करना चाहिये वैसा ही धनियों के विलास-वैभव और गरीबों के अभाव-अभियोगों का निरीक्षण भी। माता-पिता, भाई-बहन, कुल-परिवार, स्वजन-प्रियजन, इष्ट-मित्र आदि के प्रेम व्यवहार, मिलन-बिछुड़न जैसी अनेक अनुभूतियाँ भी विस्मरण योग्य नहीं। जन्म समय के हास-विलास, उत्सव-आनन्द के समान ही मरण-काल के करुण-क्रन्दन को भी प्रिय विषय बनाना चाहिये। वह जन-कोलाहल को जिस दृष्टि से देखे

श्मशान के शान्त वातावरण को भी। अभिप्राय यह कि कोई वस्तु या विषय कवि को उसकी प्रतिभा के लिए प्रिय वा अप्रिय न होना न चाहिये।

कवि बनने वालों को देश विदेश के इतिहास तथा शासन-विधान का ज्ञान होना आवश्यक है। उनके लिए जितना समाज-विज्ञान उपयोगी है उतना ही प्राणि-विज्ञान और जितना मनोविज्ञान, उतना ही सौन्दर्य-विज्ञान। विलुप्त होते हुए प्राचीन सिद्धान्तों, मतों वा वादों को और आविर्भूत होते हुए नूतन सिद्धान्तों वा वादों को भूलना उचित नहीं। जैसे कि रूस के समाजवाद के सामने राजतन्त्रवाद वा प्रजातन्त्रवाद को।

आज श्रमिकों का संसार बन रहा है, किसानों की दुनिया कायम हो रही है। पूँजीशाही और राजशाही के मिटने का समय निकट है, शहर की शाहंशाही पर देहात की दुखियाशाही कायम होगी। सर्वत्र सब विषयों में समनता का साम्राज्य होगा। यह सब कवियों के भुलाने का समय नहीं।

आज की दुनिया व्यवसाय की दुनिया है। योरप और अमेरिका के ऐश्वर्यशाली होने का एकमात्र कारण व्यवसाय ही है। व्यवसाय और उद्योग में भी ऐसी घटनायें घटित होती हैं, ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं जिनमें सौंदर्य और माधुर्य, भीषणता और भव्यता के रूप दृष्टिगत होते हैं जो कवियों के लिए उपेक्षणीय नहीं हैं। व्यावसायिकसंसार में सर्वसाधारण की परिस्थितियों में भी जीवन की जीती-जागती तस्वीरें खड़ी की जा सकती हैं, जिससे जातीय जीवन में सरसता का संचार हो सकता है। सिनेमा देखकर कौन नहीं कह सकता कि आज कला अपना वास्तविक क्षेत्र छोड़कर व्यावसायिक क्षेत्र में उतर आयी है और उसकी कल्पना तथा रचना जनरुचि पर निर्भर करती है। ऐसी बात न हो तो उसकी लोक-प्रियता एकदम नष्ट हो जायगी। लोक रुचि बड़ी विचित्र होती है इसे कवि को न भूलना चाहिये। इसका ध्यान रखते हुए इस व्यवसाय में कला, कविता, आदर्श शिक्षा आदि का समावेश कवि-कर्त्तव्य है। यद्यपि साहित्य-क्षेत्र में उस साहित्य का मूल्य जो जनरुचि पर निर्भर करता है, उतना नहीं जो स्थायी साहित्य का है।

यद्यपि विद्वानों ने, विज्ञान का क्षेत्र मस्तिष्क को और कविता का क्षेत्र हृदय को बताया है तथापि लक्ष्य करने से यह अविदित न रहेगा कि प्राचीन विद्वानों, लेखकों और कवियों ने इन दोनों का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। वेद से लेकर वेदान्त तक के ग्रन्थों में जो आध्यात्मिक तत्त्व प्रतिपादित हैं, उनमें कविता की झलक पायी जाती है। कबीर, तुलसी की कविता में वेदान्त-सिद्धान्त सम्यक रूप से प्रतिपादित हैं। रवीन्द्र की गीतांजलि ही देखें। रहस्यवादी कवितायें क्या हैं? क्या इनमें कविता नहीं है? हाँ, आप यह कह सकते हैं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान का काव्य में कहीं प्रतिपादन नहीं है। हम कहते हैं, है। आप 'मेघदूत विमर्प' और 'विहारी की सतसई' पढ़ देखें। सारांश यह कि कवि को अब नये सिरे से काव्य और विज्ञान में सामंजस्य स्थापित करना होगा। मस्तिक के विपय को हृदय का भी विषय बनाना होगा। काव्य और विज्ञान दोनों ही उत्पादक शक्तियाँ हैं और जीवन को यथार्थ जीवन बनाने के लिए दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। इसीसे कवि को आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों से भी विमुख न होना चाहिये।

प्राकृतिक पदार्थों का निरीक्षण और उनकी आत्मा में अपनी आत्मा को मिलाकर आत्मीयता पैदा करना कवि का एक आवश्यक विपय है। भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं का परिचय प्राप्त करना उतना ही उपयोगी है जितना कि विविध रंग-रूपवाले भाँति-भाँति के पक्षियों का ऋतु-परिवर्तन और पल-पल में परिवर्त्तित होते हुए प्राकृतिक पदार्थों की प्रकृति, आकृति और विकृति भी लोचन से अगोचर न होने पावें। उनके आह्लादक सौन्दर्य और मनमोहक माधुर्य भी अनुभवगम्य होना चाहिये। विशेषत: प्रात:सायंकालिक सूर्योदय तथा सूर्यास्त, नदी-समुद्र पर पड़नेवाली उनकी झिलमिलाती किरणों की रंजकता, निर्मल रात्रि के जगमगाते तारे, धुली हुई चाँदनी के चित्र जैसे चित्र में अंकित करने चाहिये वैसे ही घोर गर्जन, झंझावात, समुद्री तूफान, काली निशा, बिजली की कड़क से प्रकृति के प्रलयकारक चित्र भी उपेक्षणीय नहीं हैं। झरनों के झरझर, पेड़-पौधों और लतापत्रों की हरियाली, चिड़ियों की चहचहाहट, कुसुमों का मुस्करान नदियों की अठखेलियाँ, बरम्हों ९८

पड़ने वाली सूर्य-रश्मियों की रंगीनियों आदि कवियों के लिए अक्षय भंडार हैं।

विविध भाषाओं और उनके साहित्य का ज्ञान रखना बुद्धि और कल्पना का क्षेत्र विस्तृत करना है। अपनी भाषा का ज्ञान, उसकी शब्द-शक्तियों का ज्ञान और उनके उपयुक्त प्रयोगों का ज्ञान प्रारंभिक आवश्यकताओं में है जिनके बिना उनकी कविता खड़ी नहीं हो सकती।

स्थालीपुलाक न्याय से कवियों के लिए उपर्युक्त कुछ बातें लिख दी गयी हैं। न तो विद्या की इयत्ता है और न ज्ञान की। इससे इन्हें निदर्शन मात्र ही समझना चाहिये। हमारे प्राचीन आचार्यों ने जैसे कवि के लिए कुछ अज्ञेय नहीं बताया, वैसे प्रख्यात जर्मन कवि रेनर मारिया रिल्के ने एक कवि के लिए क्या आवश्यक है, इसका उल्लेख यों किया है—

"उसने अनेक नगर देखे हों, अनेक व्यक्ति तथा तथ्य देखे हों। उसके लिए अनेक पशुओं का देखना आवश्यक है। उसे अनेक पक्षियों की उड़ानें देखनी चाहिये। उसे पुष्पों के संकेत देखने चाहिये जो प्रातः खिलनेवाली कलियों में हुआ करते हैं। उसमें अपनी विचार-शक्ति द्वारा अज्ञात प्रदेशों के राजपथों पर घूमने की शक्ति होनी चाहिये। वह अपनी स्मृति द्वारा लौट सकता हो संयोग तथा वियोग की ओर; बचपन के अस्पष्ट काल की ओर; अपने उन माता-पिताओं की ओर—जो कभी-कभी हमें प्रेम में थपेड़े देते हैं; शैशव की उन बहुत-सी व्याधियों की ओर जो सहसा प्रकट होकर हमारे जीवन में प्रचुर परिवर्तन उत्पन्न कर देती हैं; एकान्त बन्द कमरों में बिताये दिनों की ओर; समुद्र पर खिले प्रातःकाल की ओर; समुद्र की और महासमुद्र की ओर; यात्रा की उन रात्रियों की ओर, जो व्यतीत हो चुकीं और तारों के साथ बह गयीं। एक कविता की रचना के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं, इसके साथ ही उसके मन में स्मृतियाँ होनी चाहिये बहुत सी प्रेम-रात्रियों की, जो एक-दूसरी से न मिलती हों; प्रसवाक्रांत स्त्रियों की दर्दभरी कराहों की; प्रसव-शय्या पर पड़ी उन माताओं की जो निचुड़ चुकने के कारण लघुकाय हो चुकी हैं, स्वप्नाक्रांत हैं, बन्द कमरों में पड़ी हैं। उसके लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने जीवन में मरणासन्न व्यक्तियों के

पास बैठा हो, मृत के पास बैठा हो—उस समय जबकि खिड़कियाँ खुली हों, और रुक-रुककर आने वाले रहस्यमय भाव-व्यक्त शब्दों का ताँता बँधा हो। इन बातों की स्मृतियाँ होना ही एक कविता की रचना के लिए पर्याप्त नहीं है। कवि के लिए आवश्यक है कि जब वे स्मृतियाँ बहुत-सी हो जायँ तो उन्हें भूल जाय, उसमें उनके फिर लौट आने तक, चुपचाप उनकी प्रतिक्षा करने की धीरता होनी चाहिये। क्योंकि इन स्मृतियों में ही उसका सारा संसार निहित है और यह तभी होता है जब वे स्मृतियाँ हमारे भीतर हमारे रक्त में, एक हो जायँ, हमारी दृष्टि तथा हमारी चेष्टा में परिणत हो जायँ, जब उनका नाम और चिह्न न रहे—वे हममें आत्मसात् हो जायँ—तभी, केवल तभी हमारे जीवन के किसी शुभ क्षण में कविता के प्रथम शब्द का उनमें उत्पादन होता है, जो उनसे निकलकर बाह्य जगत में विचरता पक्षी बन जाता है।"

—श्री सूर्यकान्त शास्त्री, साहित्य मीमांसा

इस उद्धरण में लोक-निरीक्षण की अधिकता तथा विविधता का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। यह इतना तो केवल एक कविता के लिए ही है। अब काव्य और महाकाव्य के लिए उपकरणों की अधिकता का अनुमान भी करना कठिन है। इसीसे लोक-निरीक्षण को प्रथम और शास्त्र-निरीक्षण को द्वितीय स्थान दिया गया है।

'लोक शास्त्राद्यवेक्षणात्'

लोकाशास्त्रावेक्षण में यह बात ध्यान देने योग्य है कि कवि पल-पल परिवर्तित होनेवाले देश और समाज की दशा से कभी विमुख न हो। पहले भारत परतन्त्र था, अब स्वतन्त्र है। साथ ही समाज में क्रान्ति की एक लहर-सी दौड़ गयी है और समाजवाद, साम्यवाद आदि जैसे अनेक वादों की अवतारणा हो गयी है और समय की गति में ऐसी उथल-पुथल मच गयी है और जिसको आँखों से ओझल नहीं रक्खा जा सकता। समाज की ऐसी बातों पर ध्यान देना और तदनुकूल आचरण करना ही यथार्थ लोक-निरीक्षण है।

पन्द्रहवीं किरण

शैली के भेद से काव्य के भेद (प्राचीन दृष्टिकोण)

काव्य-भेद—लेखन-शैली के भेद से काव्य तीन प्रकार का होता है—(१) पद्यकाव्य (२) गद्यकाव्य और (३) मिश्रकाव्य या चम्पू काव्य। छन्दोबद्ध कविता को पद्य कहते हैं। पद्य काव्य में कवियों को कुछ स्वतन्त्रता और कुछ परतन्त्रता रहती है। स्वतन्त्रता इस बात की है कि वे पद्य में यथारुचि पद-स्थापन कर सकते हैं और सामान्यतः व्याकरणादि के नियमों का उल्लंघन भी कर सकते हैं; और परतन्त्रता इस बात की है कि वे छन्द के बंधन में बँधे रहते हैं। आज यह भी बंधन तोड़ दिया गया है और स्वच्छन्द छन्द की सृष्टि हो रही है।

पद्यकाव्य

प्राचीन उदाहरण—

(१) देखन बाग कुँवर दोउ आये, वय किशोर सब भाँति सुहाये।
श्याम गौर किमि कहौं बखानी, गिरा अनयन नयन बिनु बानी।—तुलसी

(२) घुटरुन चलत रेनु तन मंडित मुख में लेप किये।
चारु कपोल लोल लोचन छवि गोरोचन को तिलक दिये।—सूर

(३) अधर धरत हरि के परत ओठ, दीठि पट जोति।
हरित बाँस की बाँसरी इन्द्रधनुष रंग होति॥—बिहारी

(४) जिहि लहि फिर कुछ लहन की, आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन, प्रेम बरन यह दोय॥—हरिश्चंद्र

नवीन उदाहरण—

(१) मन रमा रमणी रमणीयता मिल गयी यदि ये विधि योग से।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा रसिकता सिकता सम है उसे।
—राम चरित उपाध्याय

(२) अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥—मैथिली शरण

(३) वीर-सा गम्भीर-सा यह है खड़ा, धीर होकर यह अड़ा मैदान में।
देखता हूँ मैं जिसे तन-दान में, जलदान में सानन्द जीवन-दान में ॥
—भारतीय आत्मा

(४) काली आँखों में कैसी यौवन मद की लाली।
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली ॥—प्रसाद

गद्य काव्य

गद्य छन्द के बन्धन से मुक्त है। केवल व्याकरणानुसार उसमें वाक्यों का विन्यास किया जाता है। तथापि उसमें कवियों के लिए कविता करना कठिन है। कारण यह है कि पद्य में एक पद चमत्कारक हुआ तो सारा पद्य चमक उठता है। यह बात गद्य में नहीं है। गद्य जब तक आद्यन्त रमणीय और चमत्कारक नहीं होता, तब तक वह काव्य कहलाने का अधिकारी नहीं। उसके एक-दो वाक्य वा वाक्य-खण्ड वा अनुच्छेद सरस वा सुन्दर होने से सारी की सारी गद्य-रचना कविता नहीं हो सकती। इसी से तो गद्य को कवि की कसौटी कहा गया है। आजकल जो गूढ़ भावात्मक गद्य लिखे जाते हैं, वे काव्य की श्रेणी में कठिनता से आ सकते हैं; क्योंकि विचार-गाम्भीर्य गद्य रचना को गद्य काव्य नहीं बना सकता। ऐसे गद्य लेखकों में श्री व्रज नन्दन सहाय, श्री रायकृष्ण दास, श्री वियोगी हरि, श्री चतुरसेन शास्त्री, श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया आदि हैं। श्री व्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में कविता के अत्यधिक गुण हैं।

गद्य काव्य के उदाहरण—१ अन्य कोई भाषा दिव्य नहीं, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी में सुन्दरता पिरो देता है। वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को मन के लक्ष्य ही को नहीं बदल दिया। चन्द्रमा की मन्द-मन्द हँसी का, तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के हृदय में घुस कर देखो।—श्रीपूर्ण सिंह

२ मधुप अभी, किसलय-शय्या पर मकरन्द मदिरा-पान किए सो रहे थे। सुन्दरी के मुख-मण्डल पर प्रस्वेद बिन्दु के समान फूलों के ओस अभी सूखने न पाये थे। अरुण की स्वर्ण-किरणों ने

गरमी न पहुँचायी थी, कुछ-कुछ खिल चुके थे; किन्तु अर्द्ध विकसित। ऐसे सौरभपूर्ण सुमन सवेरे ही जाकर उपवन से चुन लिये थे।—प्रसाद

३ नवजात शिशु ने नयन खोलते ही माता को देखकर अधर हिलाये और वह पुलक विह्वल रहस्यमयी मुसकान भरे वात्सल्य का प्रतीक बन मा के हृदय-पटल पर सदा के लिये अंकित हो गयी; किन्तु भूला विश्व आज तक भी उस भोले स्मित हास का भेद न समझ पाया है।—दिनेशनन्दिनी डालमिया

४ अगर आँचल को सम्हालते सँभालते लज्जाशीला वधू के हाथों की चूड़ियाँ मुखरा नहीं होतीं, आफिस जाने की उतावली में गरम तसले को चूल्हे से उतारते समय किसी के आँचल से बँधा हुआ कुञ्जी का झब्बा झनाक-से पीठ पर जाकर नहीं बजता, कोठे की सीढ़ियों से नीचे उतरते हुए किसी के मुलायम-मुलायम पैरों के उद्दण्ड पायजेब की आवाज मलय-हिल्लोल पर नाचती हुई बाहर आकर हमारी छाती की पँजरियों के भीतर नहीं बजती, किवाड़ की फाँक से पान की तश्तरी को बढ़ाते किसी की जमीन पर सुहरती हुई रेशमी साड़ी की सरसराहट अचानक आकर हमारी समग्र चेतना को चंचल नहीं कर देती तथा कोठे की खिड़कियों से झूलती हुई सूखी धोती को समेटते-समेटते किसी के गोरे-गोरे नन्हें-नन्हें हाथों की लावण्य भंगिमा बिजली की तरह चमककर बेचारे पथिक की आँखों में चकाचौंध नहीं लगा देती, तब आज इस सुदूर लोकातीत लोक की माया-मरीचिका पुरुषों के कुतूहल-प्रिय चित्त को इस प्रकार विवश नहीं करती और यह मोह का बन्धन इतना निविड़ कदापि नहीं होता।—राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह

संस्कृत में विषयानुसार गद्य-पद्य का भेद नहीं है। पद्य में कहानियाँ और इतिहास भी लिखे जाते थे। जैसे कथासरित्सागर और राजतरंगिणी। यही क्यों, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र और वेदान्त भी पद्यबद्ध हैं। किन्तु हिन्दी में वर्ण्य विषय का भेद है। काव्य के लिए पद्य और अन्यान्य विषयों के लिए गद्य का आश्रय लिया जाता है। पढ़ते हुए ज्ञान-विज्ञान का विचार पद्य में संभव नहीं था। यह उचित ही हुआ। हाँ, गद्य काव्य के भीतर भी, प्रबन्ध, उपन्यास, कथा-कहानी जैसे शुद्ध साहित्य का समावेश हो जाता है।

मिश्र या चंपू काव्य

गद्य-पद्य मिश्रित को चम्पू काव्य कहते हैं। संस्कृत में अनेक चम्पू काव्य हैं। किन्तु हिन्दी में इसका अत्यन्ताभाव ही कहना चाहिये। प्रसाद जी का 'उर्वशी' और श्री अक्षयवट मिश्र का 'आत्मचरित चंपू के लावण्य रखते हैं; किन्तु चंपू के गुण कम। नाटक में गद्य-पद्य दोनों होते हैं; किन्तु उनकी शैली संवाद-प्रधान होती है और इनकी-वर्णना प्रधान। यही इनमें भेद हैं।

आजकल कवियों या काव्यों के समीक्षात्मक प्रबन्ध निकलते हैं। उनमें अधिकांश चंपू के भीतर आ सकते हैं। अनेक भावुक लेखकों के भी ऐसे अनेक निबंध हैं, जिनमें चंपू के गुण हैं। उनमें जो गद्य हैं वे भी अच्छी श्रेणी के हैं। उनमें उद्धृत कविता की तो कोई बात ही नहीं।

चंपू काव्य के उदाहरण—प्राचीन प्रचलित विचार और जीर्ण आदर्श समय के प्रवाह में अपनी उपयोगिता के साथ अपना सौन्दर्य संगीत भी खो बैठते हैं, उन्हें सजाने की जरूरत पड़ती है। नवीन आदर्श और विचार अपनी ही उपयोगिता के कारण संगीतमय एवं अलंकृत होते हैं। क्योंकि उनका रूप चित्र अभी सद्यः होता है और उनके रस का स्वाद नवीन।

मधुरता मृदुता सी तुम प्राण,
न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात।

उनके लिए भी चरितार्थ होता है। इसी से उनकी अभिव्यंजना से अधिक उनका भाव-तत्त्व काव्य-गौरव रखता है।

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार।'

सो भी मेरा अभिप्राय है कि संक्रान्ति युग की वाणी के विचार ही उसके अलंकार हैं।—पंत

सोलहवीं किरण

स्वरूप के भेद से काव्य के भेद

स्वरूप के विचार से काव्य के दो भेद होते हैं—एक श्रव्य काव्य और दूसरा दृश्य काव्य। जिन काव्यों के आनन्द का उपभोग सुनकर या पढ़कर किया जाय, वे श्रव्य काव्य हैं। निबंध के भेद से श्रव्य काव्य के भी तीन भेद होते हैं। एक प्रबंध काव्य, दूसरा निबंध काव्य और तीसरा निर्बंध काव्य। प्रबंध प्रकृष्टता विस्तार का द्योतक है। प्रबंध काव्य के पद्य, प्रबंध के अर्थात् कथावर्णन के अधीन तथा परस्पर संबद्ध रहते हैं। वे संबद्ध रूप से अपने विषय का ज्ञान कराते, भाव में मग्न करते और रस में सराबोर करते हैं।

प्रबंध काव्य के तीन भेद होते हैं (१) महाकाव्य (२) काव्य और (३) खण्ड काव्य। किसी देवता, सद्वंशोद्भव नृपति, वा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर अनेक सर्गों में जो काव्य लिखा जाता है, वह महाकाव्य है। इन वृत्तान्तों के आधार पुराण वा इतिहास होते हैं। इनमें कोई एक रस प्रधान रहता है और अन्य रस गौण। इनमें विविध प्रकार के प्राकृतिक वर्णन भी रहते हैं। इसमें नाना छन्दों के उपयोग होते हैं। ऐसी ही अनेक बातें लक्षण ग्रन्थों में महाकाव्य के लिए बतायी गयी हैं। उदाहरण में रामायण, रामचरित चिन्तामणि, सिद्धार्थ आदि महाकाव्य हैं। ये लक्षण अब पुराने पड़ गये हैं।

काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है; किन्तु उसमें महाकाव्य के लक्षण नहीं होते और न उसमें उसके ऐसा वस्तु-विस्तार भी देखा जाता है। एक कथा का निरूपक होने से यह एकार्थक काव्य भी कहा जाता है। यह भी सर्गबद्ध होता है। जैसे प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी आदि। इनमें महाकाव्य के भी कुछ लक्षण पाये जाते हैं। ये महाकाव्य से काव्यांश में किसी प्रकार न्यून नहीं हैं। किसी-किसी के मत में ये भी महाकाव्य हैं।

खण्ड काव्य वह है, जिसमें काव्य के एक अंश का अनुसरण किया गया हो। इसमें जीवन के एकांग का वा किसी घटना का वा कथा का वर्णन रहता है। जो स्वतः पूर्ण होता है। जैसे मेघदूत,

जयद्रथ-वध आदि। हिन्दी में खण्ड काव्य बहुत लिखे जा रहे हैं।

निबंध साधारणता का द्योतक है। कथात्मक और वर्णनात्मक जो कविताएँ कई पद्यों में लिखी जाती हैं, वे काव्य-निबंध कहलाती है और निबंध के अंतर्गत आती हैं। काव्य-निबंध अपने कुछ पद्यों के भीतर ही संपूर्ण रहते हैं। जैसे पद्य-प्रमोद, रामचरित चन्द्रिका आदि निबंध काव्य-संग्रहों के निबंध काव्य।

एक उदाहरण (प्रेम)

यथा ज्ञान में शान्ति, दया में कोमलता है।
मैत्री में विश्वास, सत्य में निर्मलता है॥
फूलों में सौन्दर्य, चन्द्र में उज्ज्वलता है।
संगित में आनन्द, विरह में व्याकुलता है॥
जैसे सुख संतोष में, तप में उच्च विचार है।
त्यों मनुष्य के हृदय में, शुद्ध प्रेम ही सार है॥
पर निन्दा से पुण्य क्रोध से शांति तपोबल।
आलस से सुख शक्ति, मोह से ज्ञान मनोबल॥
निर्धनता से शील, लाज मिथ्याभिमान से।
दुराचार से देश, तेज निज कीर्त्तिगान से॥
इसी भाँति से प्रेम भी जो सुख का आधार है।
थोड़े ही संदेह से हो जाता निस्सार है

—रामनरेश त्रिपाठी

निर्बन्ध काव्य, प्रबंध और निबंध के बंधनों से मुक्त रहता है। इसका प्रत्येक पद्य, चाहे वह दो पंक्तियों का हो, अथवा कई पंक्तियों का स्वतन्त्र होता है। इसके भी दो भेद होते हैं। (१) मुक्तक और (२) गीत। अन्वय की दृष्टि से संस्कृत के एक पद्य को मुक्तक, दो को युग्मक, तीन को विशेषक, चार को कलापक और पाँच तथा इसके ऊपर की संख्या वाले पद्यों को कुलक कहते हैं। किन्तु

गीत काव्य वह है, जिसमें ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर सम्बद्ध पंक्तियाँ हों। गाने के कारण इनको गीत कहते हैं। ये दो प्रकार के पाये जाते हैं—एक ग्राम्य और दूसरा नागर।

ग्राम्यगीत वे हैं, जिन्हें सामाजिक विधि-व्यवहारों के समय स्त्रियाँ गाती हैं, जैसे सोहर आदि। इनमें हमारी भावना और संस्कृति का अक्षय भण्डार भरा है। देहातों में प्रचलित पुरुषों के गीत कुँवर वृजभान, लोरिकायन, आल्हाऊदल आदि हैं।

नागरगीत साहित्यिक हैं। इनके रचयिता अपने गीतों के कारण अमर हैं। जैसे, संस्कृत 'गीत गोविन्द' के कर्त्ता जयदेव, असंख्य गीतों के रचयिता मैथिल कोकिल विद्यापति ठाकुर, सूरसागर के रचयिता सूरदास, गीतावली के रचयिता तुलसीदास, तथा अनेक प्रकार के गीतों के रचयिता अनेक भक्त कवि। इसके भीतर खड़ी बोली के कुछ गीतों की भी गणना की जा सकती है।

दृश्य काव्य—श्रव्य काव्य के समान दृश्य काव्य भी पढ़े और सुने जा सकते हैं। किन्तु अभिनय द्वारा इनका देखना ही प्रधानतः अभीष्ट होता है। नट अपने अंग, वचन, वस्त्राभूषण आदि से व्यक्ति विशेष की अवस्था का अनुकरण कर रंगमंच पर खेल दिखाते हैं। नट के कार्य होने के कारण दृश्यकाव्य को नाटक और व्यक्ति विशेष के रूप को नट में आरोप करने के कारण इसे रूपक भी कहते हैं। संस्कृत में इसके दस भेद हैं। किन्तु हिन्दी में नाटक और प्रहसन दो ही विशेष प्रचलित हैं। तीसरे एकांकी नाटक हैं। जिन्हें नाटकात्मक आख्यायिकायें कह सकते हैं। ये व्यायोग, आकाशभाषित आदि के रूपान्तर ही हैं। नाटिका, चोटक आदि भी इसके अनेक रूप हैं। साधारतः हिन्दी में रूपक के लिये नाटक और अंग्रेजी में ड्रामा कहते हैं। आजकल सिनेमा में जो खेल दिखलाये जाते हैं, वे यथार्थतः नाटक नहीं कहे जा सकते। क्योंकि उनमें नाटक के विशेष गुण नहीं पाये जाते। वार्तालाप और दृश्यों की ही उसमें विशेषता पायी जाती है। उनमें वर्णन को महत्त्व नहीं दिया जाता।

सत्रहवीं किरण

अर्थानुसार काव्य के भेद

कवि की कृतियाँ साधारण कोटि की नहीं होतीं। उनमें सरसता की, आनन्ददायकता की, व्यंजकता की मात्रा अधिक रहती है। अतएव सरसता आदि की तुला पर जिसका वजन हल्का या भारी होगा, वह काव्य भी उसी अनुपात से उत्कृष्ट या अपकृष्ट होगा। इस दृष्टि से काव्य के चार भेद होते हैं—१ उत्तमोत्तम, २ उत्तम, ३ मध्यम और ४ अधम। इन्हें क्रमशः १ ध्वनि, २ गुणीभूत व्यंग्य, ३ वाच्यालंकार और ४ वाच्यचमत्कारयुक्त शब्दालंकार की संज्ञा दी गयी है।

ध्वनि-काव्य प्रथम श्रेणी का कहा जाता है। गुणीभूत व्यंग्य दूसरी कोटि का काव्य है। इसमें व्यंग्य वाक्य से उत्कृष्ट; किन्तु ध्वनि से अपकृष्ट होने के कारण मध्यम से उच्चकोटि का होकर उत्तम हो जाता है। ध्वनि में व्यंग्य प्रधान रहता है और गुणीभूत में व्यंग्य गौण रूप से—अप्रधान रूप से।—यह वाच्यार्थ के समान चमत्कारक या उससे न्यून चमत्कारक होता है। वाच्य अलंकार में अर्थगत चमत्कार अवश्य रहता है; किन्तु उपमा, रूपक आदि के निबन्धन की तत्परता उसे सामान्य बना देती है। शब्दालंकार से उत्कृष्ट और व्यंग्य से अपकृष्ट होने के कारण इसे मध्यम कहा जाता है। यह तीसरी श्रेणी का काव्य है। शब्दालंकार में जहाँ अर्थ-चमत्कार का थोड़ा भी निर्वाह है, वहाँ मुख्यतः वर्णों या शब्दों पर ही कवि-दृष्टि केन्द्रित रहती है। अतएव यह चौथी श्रेणी का काव्य माना जाता है।

ध्वनि-काव्य

जहाँ शब्द या अर्थ स्वयं साधन होकर साध्यविशेष—किसी चमत्कारक अर्थ, को अभिव्यक्त करे वह ध्वनिकाव्य है।

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धसतीं
तब नख ज्योति मिष मृदुल अंगुलियाँ हँसतीं
पर पग उठने में भार उन्हीं पर पड़ता
तब अरुण एड़ियों से सुहाग सा झड़ता। —गुप्त

विप्र-कोप है और्व; जगत जलनिधि का जल है।
विप्र-कोप है गरल वृक्ष, क्षय उसका फल है॥
विप्र-कोप है अनल; जगत यह तृण-समूह है।
विप्र-कोप है सूर्य, जगत यह धूप-व्यूह है॥
—रा० च० उपाध्याय

परशुराम के प्रति श्रीरामचन्द्र की यह युक्ति है। इस पद्य में रूपक की वहुलता—कवि की उसी विषय पर एकाग्रता—रसादि ध्वनि की भावना को बहुत पीछे छोड़ देती है। अर्थ-चमत्कार की विशेषता इसे शब्द-चित्र से ऊपर उठा देती है।

वाच्य-चमत्कार-युक्त शब्दालंकार काव्य

जहाँ ध्वनि आदि का लेश भी अपेक्षित न रहे और अर्थ में थोड़ा वहुत चमत्कार लिये शब्दों में अलंकार हो वहाँ काव्य का चतुथ भेद होता है।

तो पर वारों उरबसी, सुन राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी, ह्वै उरबसी समान॥—बिहारी

प्रस्तुत पद्य में प्रथम उरबसी का एक भूषण-विशेष, द्वितीय का हृदय में बसना और तृतीय का अप्सरा अर्थ होता है। इन पदों के अर्थ में सर्वथा चमत्कार का अभाव नहीं है। इनमें उपमा के मधुर भाव का थोड़ा-वहुत अंश अवश्य है। इसीसे यहाँ काव्य का व्यवहार है।

लोक लीक नीक लाज ललित से नन्दलाल
लोचन ललित लोल लीला के निकेत हैं।
सोहन को सोचना सँकोच लोक लोचन को
देत सुख ताको सखी, पूनों सुख देत हैं॥
'केशोदास' कान्दर के नेहरी के कोर कसे
अंग रंग राते रंग अंग अति सेत हैं।
देखि देखि हरि की हरतना हरननैनी
देख्यो नहीं देखत ही हियो हरि लेत हैं।

इस पद में कवि का मन मुख्यतः अनुप्रास के अनुसंधान में संलग्न है, फिर भी अर्थ का चमत्कार कुछ-न-कुछ है ही। 'देखत ही हियो हरि लेत हैं' का भाव हृदयग्राही है। अतएव इस श्रेणी के काव्य अत्यन्त साधारण श्रेणी के होते हुए भी नगण्य नहीं हैं।

अठारहवीं किरण

कविता के श्रेणी-भेद

कई कवियों ने कविता और वनिता में समानता बतायी है। इस समानता में बहुत सुन्दर मर्म अन्तर्हित है। यह मर्म ऐसा है, जिसके विवेचन से ध्वनि का गंभीर सम्बन्ध है। अस्तु।

जिस प्रकार वनिताओं में स्वाभाविक आकर्षण है, उसी प्रकार कविताओं में भी। एक यदि लोक-सृष्टि के विधाता की मधुर रचना है तो द्वितीय शब्द-सृष्टि के विधाता कवि की। किन्तु अपने गुणों की उत्तमता, मध्यमता और अधमता से ये दोनों भी उन श्रेणियों की होकर तीन कोटि की हो जाती हैं।

विदग्ध कुलीन स्वकीया वनिताओं में रस-प्रकाशन की शैली अत्यन्त अभिव्यंजनापूर्ण होती है। लज्जा के अवगुंठन में भाव-गोपन करने की कला उनका उत्कृष्ट गुण—उत्तम मर्यादा है। वे अपने आशयों को शब्द वाच्य नहीं होने देतीं, चेष्टाओं से ही अभिव्यक्त—ध्वनित करती हैं। किन्तु उन चेष्टाओं, भाव-भंगियों के तत्त्व-रसिक व्यक्तियों द्वारा ही बोध्य हो सकते हैं। ध्वनियुक्त कविताओं में भी ठीक ये ही गुण हैं। उनके शब्द और अर्थ अपने अन्तरंग भावों को निर्लज्ज वारांगनाओं के सदृश साक्षात स्पष्ट नहीं करते, उनपर ध्वनि का मधुर आवरण पड़ा रहता है। ध्वनि में ढंके हुए उन भावों का आस्वाद सर्वसाधारण जनों को कौन पूछे, प्रगाढ़ पण्डितों को भी नहीं होता, केवल सहृदय व्यक्ति ही उनकी तह तक पहुँच पाते हैं। काव्य की यह प्रथम कोटि है।

गुणीभूत व्यंग्ययुक्त कवितायें नागरिक परकीया के सदृश हैं। जैसे, परकीया अपने आराध्य पति से भिन्न व्यक्ति में प्रेम-निष्ठ हो जाती है वैसे ही गुणीभूतव्यंग्य युक्त कवितायें अपने साध्यप्रधान भाव—ध्वनित्व से च्युत होकर अप्रधान हो गयी रहती हैं। फिर भी इन दोनों में नागरिकता या व्यंग्य-युक्तता के कारण निर्लज्जता या भाव-नग्नता नहीं आने पाती, चमत्कार बना रहता है। यह काव्य की द्वितीय कोटि है।

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य से रिक्त केवल अर्थगत अलंकारों-वाली कवितायें सामान्या नायिका की श्रेणी की होती हैं, जिनके भाव-प्रकाशन आवरणहीन और व्यंग्यशून्य होते हैं। यह काव्य की तृतीय कोटि है।

चौथी श्रेणी की कविताओं की संतुलना उन वारांगनाओं से की जा सकती है जो कलाविद, गान-विद्या में चतुर, शिष्ट श्रेणी की नहीं होकर भाव-भंगी से हीन तरीकों से व्यवहार करती हैं, जिनके लिए रूप ही सब कुछ है।

उन्नीसवीं किरण

काव्य के नूतन भेद

संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने जिस दृष्टि से काव्य के भेद किये हैं, वे नवीनों की दृष्टि में स्थूल कहे जाते हैं। उनके इस विचार से हम सहमत नहीं हैं। उनकी दृष्टि में उक्त काव्य-भेद वाह्य हैं, आन्तरिक नहीं। जहाँ अर्थ का सम्बन्ध है वहाँ प्राचीनों का किया हुआ भेद सूक्ष्म कहा जा सकता है, किन्तु आन्तरिक नहीं। क्योंकि, वहाँ भाव-पक्ष और कला-पक्ष का समर्थन नहीं पाया जाता। नवीनों के भेद इन्हीं दोनों को लेकर है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने काव्य के जो दो भेद किये हैं वे प्राचीन और नवीन, दोनों के मध्य के हैं। जैसे, साधारणत: काव्य के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो वह जिसमें केवल कवि की बात होती है और दूसरा वह जिसमें किसी बड़े सम्प्रदाय वा समाज की बात होती है।

"कवि की बात का तात्पर्य उसकी सामर्थ्य से है जिसमें उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के अन्दर से, संसार के सारे मनुष्यों के चिरन्तन हृदयावेग और जीवन की मार्मिक बातें आप ही आप प्रतिध्वनि हो उठती हैं।

"जैसे वे एक प्रकार के कवि हैं, वैसे ही दूसरी श्रेणी के कवि वे हैं जिनकी रचना के अन्तस्तल से एक देश, एक सारा युग, अपने हृदय को—अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके उस रचना को

सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है। इस दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं।"

पहले में मेघदूत तथा अन्यान्य निबन्ध-काव्य और दूसरे में रामायण और महाभारत आदि हैं।

आचार्य शुक्ल काव्य के दो भेद करते हैं। एक तो वे जो आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलनेवाले हैं और दूसरे आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोगपक्ष को लेकर चलनेवाले हैं।

"कुछ कवि और भक्त तो जिस प्रकार आनन्द-मंगल के सिद्ध या आविर्भूत स्वरूप को लेकर सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, सुषमा, विभूति, उल्लास, प्रेम-व्यापार इत्यादि उपभोग-पक्ष की ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार आनन्द-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति के संचरण में भी—उत्साह, क्रोध, करुणा, भय, घृणा इत्यादि की गतिविधि में भी पूरी रमणीयता देखते हैं। वे जिस प्रकार प्रकाश को फैला हुआ देखकर मुग्ध होते हैं उसी प्रकार फैलने के पूर्व उसके अन्धकार को हटना देखकर भी। ये ही पूर्ण कवि हैं; क्योंकि जीवन की अनेक परिस्थितियों के भीतर ये सौन्दर्य का साक्षात्कार करते हैं। साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को ग्रहण करनेवाले कुछ ऐसे भी कवि होते हैं जिनका मन सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष की ओर नहीं जाता; जैसे, भूषण। इसी प्रकार कुछ कवि या भावुक आनन्द के केवल सिद्ध स्वरूप या उपभोग-पक्ष में ही अपनी वृत्ति रमा सकते हैं। उनका मन सदा सुख-सौन्दर्यमय माधुर्य, दीप्ति, उल्लास, प्रेम, क्रीड़ा इत्यादि के प्राचुर्य ही की भावना में लगता है। इसी प्रकार की भावना या कल्पना उन्हें कला-क्षेत्र के भीतर समझ पड़ती है।"

पहले के उदाहरण रामायण, पद्मावत, पृथ्वीराजरासो आदि प्रबन्ध-काव्य, वीररसात्मक मुक्तक, वीर गाथात्मक गीत आदि और दूसरे के गीतगोविन्द, सूर सागर, बिहारी सतसई, छायावादी कवितायें आदि उदाहरण हैं।

मनोवृत्तियों और विषयों के आधार पर श्यामसुन्दर दास ने काव्य के तीन विभाग किये हैं।

"मनोवृत्तियाँ चार हैं १ आत्माभिव्यंजन की इच्छा, २ मानव व्यापारों में अनुराग, ३ नित्य और काल्पनिक संसार में अनुराग और ४ सौन्दर्य-प्रियता।" सौन्दर्य-प्रियता तो सब में है ही। शेष मनोवृत्तियाँ भी आपस में बहुत टकरा जाती हैं।

"काव्य के विषयों के भी चार भाग हो सकते हैं—१ किसी व्यक्ति का आत्मानुभव अर्थात् किसी के निज जीवन के बाह्य तथा आन्तरिक अनुभव में आनेवाली बातों की समष्टि, २ मनुष्य मात्र का अनुभव अर्थात् जीवन-मरण, पाप-पुण्य, धर्माधर्म, आशा-निराशा, प्रेम-द्वेष आदि ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें जिनका सम्बन्ध किसी एक व्यक्ति से न होकर सारे मनुष्य-समुदाय से होता है। ३ मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् सामाजिक जीवन और उसके सुख-दुःख आदि। ४ दृश्यमान प्राकृतिक जगत् और उससे हमारा सम्बन्ध।

"इस प्रकार काव्य का १ पहला भेद है आत्माभिव्यंजन संबंधी साहित्य, अर्थात् अपनी बीती या अपनी अनुभूत बातों का वर्णन, आत्मचिन्तन या आत्मनिवेदन विषयक हृदयोद्गार, ऐसे शास्त्र, ग्रन्थ या प्रबन्ध जो स्वानुभव के आधार पर लिखे जायँ, साहित्यालोचन और कलाविवेचक रचनायें, सब इसी विभाग के अन्तर्गत हैं। २ वे काव्य जिनमें कवि अपने अनुभव की बातें छोड़कर संसार की अन्यान्य बातें अर्थात् मानव जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली साधारण बातें लिखता है। इस श्रेणी के अन्तर्गत साहित्य की शैली पर रचे हुए इतिहास , आख्यायिकायें, उपन्यास, नाटक, कहानी आदि हैं। ३ वर्णनात्मक काव्य। इस विभाग का कुछ अंश आत्मानुभव के अन्तर्गत भी आ जाता है।"

ऐसा ही आचार्य शुक्ल भी कहते हैं, "काव्यदृष्टि कहीं तो १ नरक्षेत्र के भीतर रहती है। २ कहीं मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के और ३ कहीं समस्त चराचर के।......नरत्व की वाह्य प्रकृति और अन्तः प्रकृति के नाना सम्बन्धों और पारस्परिक विधानों का संकलन या उद्भावना ही काव्यों में मुक्तक हो या प्रबन्ध, अधिकतर पायी जाती है।......अनन्त रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूप में; कहीं रूखे, बेडौल, कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में, कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चे कवि का उस हृदय के इन सब रूपों में लीन

होता है। क्योंकि उसके अनुराग का कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित वासना है।"

"जब कभी हमारी भावना का प्रसार इतना विस्तीर्ण और व्यापक होता है कि हम अनन्त व्यापक सत्ता के भीतर नरसत्ता के स्थान का अनुभव करते हैं तब हमारी पार्थक्य बुद्धि का परिहार हो जाता है। उस समय हमारा हृदय ऐसी उच्च-भूमि पर पहुँचा रहता है जहाँ उसकी वृत्ति शान्त और गम्भीर हो जाती है। उसकी अनुभूति का विषय ही कुछ बदल जाता है।"

कविता और दो प्रकार की होती है। एक का सम्बन्ध सामाजिक जगत् की कविता से और दूसरी का मानसिक जगत् की कविता से। दोनों ही कलापूर्ण होने से—लालित्य और सौन्दर्य के आधान से हृदयाह्लादकर होती हैं और दोनों ही में वास्तविकता का चित्रण रहता है। सामाजिक जगत् के वास्तविक चित्रण का अर्थ समाज के नग्न चित्र का चित्रण वा उसका छिद्रान्वेषण नहीं बल्कि कल्याणकर और 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्' का चित्रण है। इसका क्षेत्र स्वार्थ-पूर्ण संसार के सुख-दुःख से सम्बन्ध है। मानसिक जगत् की वास्तविकता का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय से है। जब हृदय पर किसी बाह्य वस्तु वा व्यक्ति का प्रभाव नहीं पड़ता, जब वह स्वतन्त्र रहता है तब उसमें जो भावना की उमंगें उठती हैं वे ही काव्य के आकार धारण कर लेती हैं और उनमें मानस-संसार की सत्यता प्रस्फुटित हो जाती है। ऐसे ही मनोवांछित संसार में कवि का मन निरन्तर रमा रहता है।

डंटन के मतानुसार काव्य दो प्रकार का होता है—एक शक्ति-काव्य (Poetry as energy) और दूसरा कला काव्य (Poetry as an art)। पहले में लोक-प्रवृत्ति को परिचालित करनेवाला प्रभाव होता है जिससे पाठकों और श्रोताओं के हृदय में भावों की स्थायी प्रेरणा होती है और दूसरे में मनोरंजन करना वा लौकिक आनन्द देने का एक मात्र उद्देश्य रहता है।

पाश्चात्य समीक्षक एक प्रकार से काव्य के और दो भेद करते हैं—१ बाह्यार्थ निरूपक और २ स्वानुभूति-निदर्शक। पहले को जगत् की वास्तविक व्यञ्जना होने के कारण प्रकृत या यथार्थ काव्य कहते हैं और दूसरे को अन्तःकरण की प्रबल प्रेरणा

और व्यञ्जना की तीव्रता के कारण संगीत-रूप में प्रस्फुटित होने से गीति-काव्य कहते हैं। पहले में प्रबंध-काव्य, कथा-काव्य और नाटक आते हैं और दूसरे में स्वच्छन्द मुक्तक रचनायें गिनी जाती हैं।

वाह्यार्थ-निरूपक काव्य में कवि दृश्य जगत् को उसके स्वाभाविक रूप में ही चित्रित कर देता है। इस प्रकार के काव्य में कवि का अपना व्यक्तित्व प्रायः लुप्त रहता है। और, आत्मानुभूति-निदर्शक काव्य में कवि की अपनी सत्ता व्याप्त रहती है। ऐसी रचनाओं की विशेषता कवि का व्यक्तित्व होती है।

कवि के व्यक्तित्व के प्रकाश से रहित काव्य की संभावना ही नहीं हो सकती। जो याथातथ्य चित्रण करते हैं, अर्थात वाह्य जगत् को उसी रूप में काव्य में स्थान देते हैं, ऐसे कवियों की रचना एक ही क्यों नहीं हो जाती ? उत्तर स्पष्ट है कि प्रत्येक हृदय अपनी भावनाओं में एक दूसरे से बहुत कुछ भिन्न होता है। इसीलिये ऐसे हृदय से होकर आनेवाली एक ही वस्तु का रूप भिन्न भिन्न व्यक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न हो जाता है। इस भिन्नता को ही हम कवि की अपनी सत्ता या व्यक्तित्व कहेंगे। रवीन्द्रनाथ, रोम्याँ रोलाँ आदि मनीषियों ने साहित्य में कवि की अमरता के लिए इस व्यक्तित्व को ही एक मात्र साधन माना है।

स्वानुभूति-निदर्शक काव्य के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। जिस प्रकार वाह्यार्थ-निरूपक काव्य में प्रत्येक कवि की निरीक्षण और निरूपण-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती है उसी प्रकार कोई भी स्वानुभूतिमयी ऐसी कविता देखने में नहीं आती जिसका संबंध वाहरी दुनिया और अन्य लोगों की अनुभूतियों से न हो।

इस विभाजन में कोई यथार्थ तत्त्व नहीं है। क्योंकि सूक्ष्म विवेचन यह बतलाता है कि एक में दूसरे का आभास अवश्य मिलेगा; क्योंकि कवि हृदय वर्णनीय विषय से निर्लिप्त नहीं और वाह्य जगत् से अनुभूति का सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता। तथापि स्थूल रूप से ये भेद पृथक्-पृथक् अवश्य लक्षित होते हैं।

अब व्यक्ति वैचित्र्य की विलक्षणता भी हिंदी कविताओं में दिखाई देने लगी है।

उपर्युक्त दोनों भेदों को इस नाम से भी अभिहित करते हैं—

एक विषय-प्रधान काव्य, दूसरा विषयी-प्रधान वा भाव-प्रधान काव्य। विषय प्रधान का संबंध वाह्य जगत् के वर्णन के साथ है, इस कारण इसे वर्णनप्रधान वा वर्णनात्मक वा वाह्य विषयात्मक काव्य कहते हैं। भाव-प्रधान काव्य में उत्कट मनोवेगों—भावों के प्रदर्शन की प्रधानता रहती है, इससे इसे भावात्मक, व्यक्तित्व-प्रधान वा आत्माभिव्यंजक काव्य कहते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के अन्यान्य भेद भी किये हैं। इनमें प्रधानतः ये दो भेद हैं—सम्भ्रान्त कविता (Poetry of Aristocracy)। इसमें राजा, वीर, योद्धा, राजपुत्र, युद्ध आदि वृहत् घटनाओं का वर्णन रहता है और, साधारण कविता (Poetry of Democracy), इसमें साधारण विषयों और घटनाओं का वर्णन रहता है। पुनः कविता के दो भेद और होते हैं—एक प्राकृत (Realistic) और दूसरा आदर्शात्मक (Idealistic)। पहले में यथार्थ बातों का और दूसरे में आदर्श चरित्रों का वर्णन रहता है। दो भेद और हैं—उपदेशात्मक (Dictic) और सौन्दर्य-चित्रणात्मक (Artistic)। पहली में उपदेश और नीति की प्रधानता रहती है और दूसरी में वाह्य तथा आन्तर सौन्दर्य के स्वाभाविक वर्णन का ही प्रयास दीख पड़ता है। कविता के दो भेद और किये जाते हैं; इनके नाम व्यक्तित्वहीन (Abstract) और व्यक्तित्वयुक्त (Concrete) हैं दूसरी में। व्यक्तित्व की झलक रहती है पहली में नहीं।

काव्य के और दो रूप देख पड़ते हैं—एक को नाटक काव्य Dramatic Poetry) और दूसरे को गति-काव्य (Songs) कहते हैं। प्राचीन नाटक-काव्यों में नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' सुप्रसिद्ध है और उसका अब भी समादर है। किन्तु नये नाटक-काव्यों की शैली प्राचीन शैली से भिन्न है। इसमें चरित्र-चित्रण की प्रधानता रहती है और प्रवाह भी विशेष रहता है। राधा आदि सुन्दर नाटक-काव्य हैं। निराला के नाटक-काव्य—पंचवटी प्रसंग की कुछ पंक्तियाँ हैं—

"प्रकृति की सारी सौन्दर्यराशि लज्जा से सिर झुका लेती है
जब देखती है मेरा रूप

बीसवीं किरण

रस-दृष्टि से काव्य-भेद

रस-दृष्टि से काव्य के चार भेद किये जा सकते हैं—भावमूलक' वासनामूलक, कल्पनामूलक और रसमूलक।

भावमूलक काव्य वह है, जिसकी रचना भावमात्र के जन्म से ही हो जाती है।

> मैं महाकाल मैं महाकाल मैं पी लूँगा अरिरक्त थाल,
> ले वीर रुद्र से मुण्डमाल मैं कर दूँगा ताण्डव कराल।

इसके पढ़ने से एक भाव मात्र का उदय होता है।

> मैं क्या ला दूँ कह कहकर पूछ रही थी रह रहकर,
> कभी आरती धूप कभी सजती थी सामान कभी।
> दोनों शोभित थीं ऐसी मैना और उमा जैसी।

यहाँ अलंकार होने पर भी काव्य एक साधारण भाव से ऊपर उठता नहीं।

किसी व्यापार की घटना से या किसी वर्णन से कवि के चित्त में भाव के वासना-रूप में परिणत होने के पूर्व ही ऐसे काव्य का जन्म हो जाता है। ऐसी कविता से पाठक का भाव-प्रधान चित्त भी भाव ही में विभोर हो उठता है, इसकी खोज नहीं करता।

जिस काव्य में कवि हृदय-वासना से काव्य-क्षेत्र में प्रवेश करता है वह वासनामूलक काव्य है। इसमें कवि भाव से सामग्री संग्रह न करके स्मृति या वासना से उपादान संग्रह करता है।

> यों भुजभर कर हिये लगाना क्या है कोई पाप!
> ललचाते अधरों का चुम्बन क्या है पाप प्रलाप!

इसमें ज्वलन्त काम वासना है, पाठकों का वासनाप्रधान चित्त ही ऐसी कविता से आनन्द उठा सकता है। रतिवासना प्रधान चित्त-वाले पाठक ही ऐसी कविता में रमे रहते हैं। उन्हें अलौकिक रस का आनन्द नहीं प्राप्त होता। मधुलिका, मधुशाला आदि की कुछ कवितायें ऐसी ही हैं। बहुत-से आधुनिक कवि वासनाप्रधान काव्य से ऊपर नहीं उठते।

भावमूलक और वासनामूलक काव्य प्रायः एक ही श्रेणी के हैं। इनसे जो आनन्द प्राप्त होता है उसे आनन्द न कहकर वासना ही कहना चाहिये, जिससे आनन्द का महत्त्व नष्ट न हो। भावमूलक और वासनामूलक पाठकों का अभाव नहीं। इससे इनकी रचना की भी कमी नहीं; किन्तु देहधारी के समान ही इनका जनम-मरण है। काव्य की कुछ सामग्री से ही इनका जीवन है, पर यह सफल जीवन नहीं कहा जा सकता।

कल्पनामूलक काव्य वह है जिसमें कवि के हृदय का भाव-विभावादि से परिपुष्ट तथा शब्द, अर्थ, रीति, अलंकार आदि से समृद्ध होकर प्रकाशित होता है; पर इनमें सामञ्जस्य नहीं रहता। कवि-कौशल ही इसमें प्रधान रहता है। कहना चाहिये कि कल्पना ही उसका प्राण है। पाठक का हृदय भी रमणीय रीति पर रीझ जाता है, चमत्कारक अलंकार से ही चमत्कृत हो जाता है। काव्य-सामग्री के सामञ्जस्य का ध्यान नहीं रहता और न रस तक पहुँचने की चेष्टा ही करता है।

सखि नील नभस्सर में उतरा यह हंस अहा! तरता-तरता।
अब तारक मौलिक शेष नहीं निकला जिनको चरता-चरता।
अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता-धरता।
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के कर डाल रहा डरता-डरता।—गुप्तजी

कल्पनाप्रधान पाठक-चित्त इसकी कल्पना से ही मुग्ध हो जायगा। कवि ने इसकी कल्पना के लिए भद्दी-भद्दी भूलें की हैं। उतरना का प्रधान अर्थ है नीचे आना। उतरना मुहावरे के रूप में भी आता है जैसे कि वह 'अखाड़े में उतरा, वह गुण्डई पर उतर आया।' पर यहाँ कोई अर्थ ठीक नहीं बैठता। तरता-तरता उतरा का वाक्यार्थ ठीक नहीं। यदि आया या निकला अर्थ किया जाय तो यह अभिधा के साथ बलात्कार है। तैरते-तैरते उतरने की कोई संगति नहीं बैठती। हंस के लिये चुगता चाहिये चरता नहीं। मोती घास नहीं। सूर्योदय से हिम-बिन्दु सूख जाते हैं। इस अर्थ के लिए धरता-धरता का प्रयोग बहुत ही भद्दा है। हंस को हिम बिन्दु धरने की बात नयी है। यहाँ अनुप्रास के लोभ ने ही सब गुड़ गोबर किया है। पृथ्वीतल में कण्टक ही कण्टक नहीं। ज्यादा तो फूल ही झड़े रहते हैं। कण्टक तो डालियों में ही रहते हैं। इससे हंस को

कर डालने में इतना सावधान होने की आवश्यकता नहीं। कर डालने या हाथ डालने का अर्थ कोई कार्य प्रारम्भ करना है। इससे यहाँ किरणें फैलाने का अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता। हंस को कर तो होते ही नहीं जिन्हें वह डालता रहे। डरते-डरते कर डालने का अभिप्राय तो यही है कि धीरे-धीरे किरणें पृथ्वी पर आती हैं। यह विज्ञान सम्मत बात नहीं। प्रकाश की गति बड़ी तीव्र होती है। वह लाठी टेक कर नहीं चलता।

अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से इसका विचार किया जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा। आजकल की भाषा में इसकी अप्रस्तुतयोजना भी ठीक नहीं। भाषा की भद्दी भूलें बाद देकर कहें तो ऊपर की दो पंक्तियाँ ही ऊपर के अप्रस्तुत के विधान में ठीक उतर सकती हैं। किन्तु 'कर' शब्द के कारण सहसा अप्रस्तुत के स्थान पर प्रस्तुत ही प्रधान हो उठता है।

इसमें कवि का हृदय कल्पनाप्रवण ही कहा जायगा। क्योंकि इसमें वर्णनीय विषय का विचार एकबारगी नहीं किया गया है और न काव्य-सामग्री के सामञ्जस्य का ही ध्यान रक्खा गया है। कल्पनाप्रधान पाठक-चित्त भी इसे पढ़कर वाह! वाह! ही कह उठेगा।

आजकल की अधिकांश कवितायें कल्पनाप्रधान ही देखी जाती हैं। उनमें रस-परिपाक पर ध्यान नहीं रक्खा जाता। कल्पनामूलक काव्य में बुद्धि-वैभव की ही विशेषता लक्षित होती है।

गोरे मुख पै तिल बढ़्यो ताहि करो प्रणाम।
मानों चंद बिछाय के पौढ़े *शालिग्राम*।

भारतीय आत्मा के कथनानुसार इसमें कविता दिखाई देती है। यदि दूर की कौड़ी लाना ही कविता है तो मैं भी इसे मान लेता हूँ। मुख कहने से मुख मण्डल का बोध होता है। इससे पता नहीं कि यह ललाट पर है कि नाक पर कि गाल पर कि ठोढ़ी पर। बढ़े तिल से स्वाभाविक तिल होता तो उत्तम था। ऐसे तिल को प्रणाम करने का कोई कारण नहीं। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हुआ जा सकता है। प्रणाम कराना कोई कारण नहीं रखता। जब तक कि *शालिग्राम* के रूप में उसकी उत्प्रेक्षा नहीं की जाती। पहले से तिल में शालि-ग्राम की कोई भावना नहीं। उत्प्रेक्षा की कल्पना ही गाल पर तिल

होने का आभास देती है और तिल में प्रणय-भाव का आरोप करती है। ऐसा ही असामञ्जस्यपूर्ण काव्य कल्पना मूलक काव्य होता है।

रसमूलक काव्य वह है जिसकी रचना कवि रसलोक में पहुँचकर करता है, इसका विचार अनुभूति-सापेक्ष है, रसोन्मुख पाठक-चित्त ही इसका यथार्थ मर्मज्ञ है।

आये एक बार प्रिय बोले—'एक बात कहूँ,
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान में।'
मैंने कहा 'कौन यहाँ?' बोले 'प्रिय, चित्त तो हैं,
'सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।'
लाल किये कर्णमूल होठों से उन्होंने कहा—
क्या कहूँ सगद्गद हूँ मैं भी छद दान में;
कहते नहीं हैं करते हैं कृति। सजनी मैं
खीझ के भी रीझ उठी उस मुसकान में।—साकेत

इसमें लक्ष्मण और उर्मिला आलम्बन विभाव, गोपनीय विषय का कथन उद्दीपन विभाव, शंका-संचारी भाव, होठों से कपोलस्पर्श अनुभाव और रति स्थायी भाव हैं। इस प्रकार पूरी सामग्री से शृङ्गार-रस की व्यञ्जना है। खीझकर के भी रीझ उठी तो अपूर्व अनुभाव है। इसपर सारी काव्य-सम्पत्ति निछावर है। क्रियाविदग्धा नायक की चातुरी का क्या रहस्य है, यह उर्मिला के लिए भी गोपनीय नहीं था। इससे सभी सहृदय सहमत हो सकते हैं।

जिसके हृदय में इस भाव की वासना संचित नहीं वह इसके मर्म को समझ नहीं सकता। जो कवि अतीत की वासना से सराबोर होकर काव्य की रचना करता है उसके आनन्दोपभोग के लिए पाठक के हृदय का भी वासनापूर्ण होना आवश्यक है। इस कविता के लिये यही कहा जा सकता है कि शब्द, अर्थ, छन्द, रीति, अलंकार आदि सभी ओतप्रोत होकर—घुलमिलकर उस रस-रूप का प्रत्यक्ष करा रहे हैं जो लोकान्तर है, अनिर्वचनीय।

इस भाँति निहारते लोक की लीला,
प्रसन्न वे पक्षी फिरें घर को।
उन्हें देखते दूर ही से, मुख खोल
के बच्चे चलें चट बाहर को।

दुलराने खिलाने-पिलाने से था
अवकाश उन्हें न घड़ी भर को।
कुछ ध्यान ही था न कबूतर को
कहीं काल चढ़ा रहा है शर को।

इसमें पत्नी और बच्चे आलंबन लोक-लीला का अवलोकन उद्दीपन, दुलारना आदि अनुभाव, आवेग आदि संचारी से परिपुष्ट स्नेह (रति) स्थायी भाव से वात्सल्य-रस की प्रतीति होती है।

यहाँ वात्सल्य-रस ऐसा उछला पड़ता है कि सहृदय उसके रस में आकण्ठ निमग्न हो जाते हैं। अंतिम चरण से करुण, शान्त-रस का भी आभास मिलता है, पर वह वात्सल्य-रस का बाधक नहीं है। पत्नी को तो घड़ी भर का भी अवकाश नहीं कि वह इधर-उधर ध्यान दे। भले ही उसके सिर पर काल मड़राये। वत्सल पत्नी तो बस वत्समयपुराण है।

भावमूलक काव्य में कुछ-न-कुछ वासना का भी संमिश्रण हो ही जाता है। वासना से अछूता भाव-काव्य बहुत कम होता है। वासनामूलक काव्य का उत्तम या साधारण होना कवि-चित्त की वासना पर ही निर्भर करता है। अर्थात् वासना उत्तम स्तर की हुई तो उत्तम और निम्न स्तर की हुई तो साधारण काव्य हुआ। कल्पनामूलक और रसमूलक काव्य में भी यही बात समझनी चाहिये। भाव की प्रकृति और कवि-प्रतिभा के भेद से इनमें भिन्नता आ सकती है। ऐसा भी काव्य दृष्टिगोचर होता है जिसमें भाव, वासना, कल्पना का भी संमिश्रण रहता है। सारांश यह कि कवि प्रतिभा का परिचय पाना और उसका श्रेणी-विभाग करना बहुत कठिन काम है।

इक्कीसवीं किरण

गीति-काव्य

एक युग था जब कि काव्य, कथा, इतिहास, नीति, धर्म आदि सभी छन्द पद्यबद्ध होते थे। कुछ दिन पहले हिन्दी में भी यही बात थी। गद्य-विकास के साथ यह प्रथा उठ गयी। काव्य के क्षेत्र में ही पद्य रह गया।

भक्ति-प्रधान काव्य-काल में प्रबन्ध-काव्य के जो दर्शन हुए वे आगे चलकर दुर्लभ हो गये। महाकाव्य का युग तो गया ही। खण्ड काव्य का भी यह युग नहीं रहा। कारण यह कहा जाता है कि गद्यात्मक उपन्यास, नाटक, आख्यायिका, एकांकी आदि में जो आनन्द सरलता से उपलब्ध होता है वह पद्यात्मक प्रबन्ध-काव्य में प्राप्त नहीं होता। उसकी उपलब्धि में मस्तिष्क का भी कुछ संचालन करना पड़ता है; इससे प्रबन्ध-काव्य रसिकों को रुचता नहीं। वे सहज भाव से ही आनन्द का उपभोग करना चाहते हैं।

युग-परिवर्तन के साथ युग-सम्पत्ति की भी वृद्धि हुई। इस कारण व्यक्ति-स्वातन्त्र्य ने अपना सिर उठाया। सभ्यता की श्रीवृद्धि और मानसिक जटिलता के कारण काव्योप-करण का भी विकास हो गया। इस दशा में प्रबन्ध-काव्य को उस की दिशा में ले जाने का कौन कष्ट उठावे—सभी स्वतन्त्र भावाभिव्यक्ति के लिए मचल पड़े। गीति-काव्य की रचना चल पड़ी।

अन्तर्वृत्ति निरूपक (Subjective) गीति-काव्य की ओर प्रवृत्ति हो जाने के कारण वाह्यार्थ निरूपिणी (Objective) प्रतिभा का एक प्रकार से ह्रास हो गया है। इससे प्रबन्ध-काव्यों की ओर कवियों की प्रवृत्ति नहीं होती। पर बात यह नहीं है। आधुनिक कवि प्रबन्ध-काव्य लिख सकते हैं; पर वे समझते हैं कि इसमें हमारी लेखिनी की स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी। प्रबन्ध-काव्य लिखने में उन्हें काव्य-क्रम की दिशा का परिवर्तन करना पड़ेगा। इस परतंत्रता का फल होगा कि प्रबन्ध काव्य में वे आद्यान्त सरसता लाने में समर्थ न होंगे। यह देखा गया है कि प्रबन्ध-काव्य में गीति-काव्य (Lyric) का जितना अंश है, बड़ा सुन्दर हुआ है। पर सब अंश नहीं।

यही कारण है कि जीवन की विविध मार्मिक दशाओं को सामने लानेवाले घटनाचक्र, वस्तुवर्णन, मार्मिक संवाद आदि से परिपूर्ण प्रबन्ध-काव्यों से कवियों की उदासीनता है और प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों या गीति काव्यों की ओर उन्मुखता दीख पड़ती है। हिन्दी में रीतिकाल की स्फुट रचनाओं और वर्तमान काल के पाश्चात्य गीति-काव्यों के प्रभाव से प्रबन्ध-काव्यों की विशेष रचना

होने नहीं पाती। उपन्यास आदि का प्रचलन प्रबंध काव्य रचना का उतना बाधक नहीं।

गीति काव्य या कलागीत का मूलाधार लोक गीत है। किन्तु इसपर देशी की अपेक्षा विदेशी प्रभाव ही विशेष पड़ा है। शुक्लजी कहते हैं कि हमारे वर्तमान काव्य-क्षेत्र में यदि अनुभूति की स्वच्छन्दता की धारा प्रकृत पद्धति पर अर्थात् परंपरा से चले आते हुए मौखिक गीतों के मर्मस्थल से शक्ति लेकर चलने पाती तो अपनी ही काव्य-परंपरा होती—अधिक सजीव और स्वच्छन्द की हुई।

अति आधुनिक काल में निबन्ध काव्य—वस्तु-विषय-वर्णनात्मक काव्य भी नहीं लिखा जाता। कलावाद और अभिव्यञ्जनावाद के प्रभाव से कविवर्ग गीत काव्य पर ही टूट पड़ा है। सर्वत्र ही गीति काव्य का बोलबाला है। प्रसिद्ध कवि से लेकर अप्रसिद्ध कवि तक इसी ओर प्रवृत हैं और नये कवि भी उन्हीं का अनुसरण कर रहे हैं। पर गीति काव्य—कलामूलक गीति काव्य की रचना सहज नहीं, यह कवियों की कठिन साधना से ही संभव है। सभी कवि न गीतिकार हो सकते और न उनके गीति काव्य गीति काव्य की श्रेणी में भी आ सकते हैं।

विभिन्न गीतिकाव्य

प्रबन्ध काव्यों के भेद में आधुनिक काल की आख्यानक गीतियाँ नहीं आतीं। क्योंकि पूर्वकाल के प्रचलित काव्य के आदर्शों और भावों से इनमें एक विलक्षणता पायी जाती है। ये प्रबन्ध काव्यों से नितान्त भिन्न है। इनकी महत्ता गीति मात्रा में है। इन्हें पद्य-पद्ध कथा काव्य भी कह सकते हैं।

आख्यानक गीति कहानीप्रधान होने के कारण सरल, सुबोध और मनोरंजक होती है। इसमें वीरता, देशभक्ति, प्रेम, युद्ध आदि के कार्यों का प्रधानतः वर्णन रहता है। इसके पढ़ने में मनोरंजन के साथ शक्ति प्राप्ति होती है और उत्सुकता के साथ कहानी के प्रवाह में मन पैठने लगता है। 'रंग में भंग', 'वीर पंचरत्न' 'नकली किला आदि ऐसे ही गीतिकाव्य हैं। 'कुँअर सिंह मरदाना है' और 'झाँसी

वाली रानी थी', ये दोनों भी सुप्रसिद्ध आख्यानक गीतिकाव्य हैं। एक उदाहरण लें—

कुटियों में थी विषम वेदना महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरुषों का अभिमान,
नाना धूँधू पन्त पेशवा जुटा रहे थे सब सामान,
बहिन छबीली ने रणचंडी का कर दिया प्रकट आह्वान,
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो सोयी ज्योति जगानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी ॥ सु० कु० चौहान

'विकट भट' की भी गणना आख्यानक गीति में की जाती है। यह कहानी प्रधान है पर इसमें गीति सत्ता की कमी है। इस दृष्टि से 'ग्रन्थि भी आख्यानक गीति-काव्य हो सकती है। किन्तु 'ग्रन्थि' वर्णन-प्रधान काव्य है।

आधुनिक गीति-काव्यों में पूर्व के भक्त कवियों की पदावली और गीतावली से बहुत कुछ भिन्नता पायी जाती है। इसमें स्वानुभूति की विशेषता लक्षित होती है। इनका आदर्श अँग्रेजी गीति-कविता (Lyric Poetry) है। आजकल हिन्दी के माने हुए कवि ऐसे प्रगीतों या गीतियों की रचना की ओर लालायित हुए हैं। यही कारण है कि 'साकेत' जैसे विशाल प्रबन्ध-काव्य में गीतियों की कमी नहीं है।

आधुनिक गीति-काव्य में भावनाओं की गम्भीरता और कला का पूर्ण विकास ही नहीं देख पड़ता, बल्कि इसमें नयी-नयी गतियों और संगीतमय छन्दों की योजना भी होने लगी है। इनका संगीत भी निराला है। निराला का एक बादल राग है।

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर ! राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में घर, मरु, तरुमर सागर में,
सरित तड़ित गहि चकित पवन में, मन में विजन गहन कानन में,
आनन-आनन में रव घोर कठोर—राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर।

गीति काव्य के पाँच भेद किये जा सकते हैं— (१) व्यंगगीति, (२) पत्रगीति, (३) शोकगीति, (४) भावना-गीति और (५) आध्यात्मिक गीति।

व्यंग्यगीति में व्यंग्य की, कुटिल कटाक्षों की—खिल्ली उड़ाने की प्रधानता रहती है। ऐसी व्यंग्यगीति का हिन्दी में बड़ा अभाव है, जिसमें कविता की झलक पायी जाती हो।

तू श्रमिक सुहासिनि बाल धन्य
तपते चूल्हे के मुख समत करती है तप तू बैठ-बैठ,
है पुरुष उठाता भाल किन्तु पूँजीवादी सा ऐंठ-ऐंठ,
श्रमिकों में है तू अग्रगण्य तू श्रमिक सुहासिनी बाल धन्य,
तू मूर्त्ति वेदना दुःखमयी रोती है आँसू ढार-ढार,
हैं तुझे रोकते पुरुष किन्तु करते हैं खुद पतिनी हजार,
हड़ताल करे तू नाश जन्य तू श्रमिक सुहासिनी बाल धन्य!—व्यथित हृदय

पत्र रूप में लिखी गयी कविता को पत्र-गीति कहते हैं। यह उतनी गेय नहीं होती। माइकेल मधुसूदनदत्त की 'वीरांगना' और मैथिलीशरण गुप्त की 'पत्रावली' ऐसी ही गीति कविताएँ हैं।

शोकगीति में विषाद और वेदना की प्रधानता रहती है। आजकल वेदनागीतों की ही प्रचुरता है। प्रायः सभी मान्य कवि निराशामय, वेदनामय, विषादमय गीतियों के कलाकार हैं।

बिना दुख के सब सुख निसार बिना आँसू के जीवन भार।—पंत

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कणभर
रहने दो प्यासी आँखें भरतीं आँसू के सागर।—महादेवी

अधिकांश राष्ट्रीय तथा देशभक्तिमूलक गीति-कवितायें भावना गीति के भीतर आती हैं। भावना कहीं व्यक्तिगत, कहीं समाजगत और कहीं राष्ट्रगत होती है।

निकल पड़ो अब बनकर सैनिक भय न करो अब प्रानों का
बिन स्वराज्य के नहीं हटेंगे कौल रहे मरदानों का।—माधव शुक्ल

धरकर चरण विजित शृङ्गों पर झण्डा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं;
पड़ी समय से होड़ छोड़ मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर झुककर।
नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं;
गति की तृषा और बढ़ती पड़ने पद में जब छाले हैं।
जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोनेवाले
लेना अनल किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले।—दिनकर

कवि की अन्तः प्रवृत्ति और परिवर्तनशील चित्त-वृत्ति की निदर्शक कविता को आध्यात्मिक कविता कहते हैं।

मधु राका मुसुक्याती थी पहले जब देखा तुमको,
परिचित से जाने कब के तुम लगे उसी क्षण हमको।—**प्रसाद**

पर शेष नहीं होगी यह प्राणों की क्रीड़ा,
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा तुममें ढूँढ़ेगी पीड़ा।—**महादेवी**

इस मंद हास में बहकर गालूँ मैं बेसुर प्रियतम,
बस इस पागलपन में ही अवसित कर दूँ निज जीवन।
—**पंत**

इसका एक प्रधान भेद होता है जिसे सम्बोधनगीति कहते हैं। हिन्दी में इस ढंग की बहुत कवितायें हैं। इनमें वस्तुविशेष का सम्बोधन करके कल्पना के सहारे मस्तिष्क में उठनेवाले भावों को व्यक्त किया जाता है।

दुख की ज्वाला में जल-जलकर मेरा यह जीवन छार हुआ,
मैं सीख गयी हूँ इस जग में प्रिय हँस-हँस दुख को अपनाना।
मैंने अब तुमको पहचाना।—**तारा पाण्डेय**

विजनवन में तुमने सुकुमारि कहाँ पाया यह मेरा गान,
मुझे लौटा दो विहगकुमारि सजल मेरा सोने का गान।—**पंत**

इसका एक और भेद होता है जिसमें कवि अपने ही को लक्ष्य करके अपनी कोमल भावनाओं को व्यक्त करता है।

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं प्रेमीमाला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इतराऊँ,
मुझे तोड़ लेना वनमाली! उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।—**भा० आत्मा**

इसी प्रकार शैली के अनुसार वर्तमान गीति-काव्यों के और भी अनेक भेद किये जा सकते हैं।

बाइसवीं किरण

चित्रकाव्य (प्राचीन दृष्टिकोण)

कवि और चित्रकार एक समान होते हैं। वर्णछन्दमय भावाभिव्यक्ति से काव्य का विकास होता है और रंग-रेखा के स्फुरण से चित्र की परिकल्पना होती है। जिस प्रकार चित्रकार कागज पर कलम या कूँची चलाकर चित्र प्रस्तुत कर देता है उस प्रकार कवि भी छन्दोमय वर्णों को ऐसा सुसज्जित करता है कि रेखाओं के भीतर कर देने से पद्म, खड्ग, आदि के चित्र बन जाते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है काव्यकला और चित्रकला में एक प्रकार की मैत्री है।

चित्र शब्द का साधारण अर्थ होता है प्राण-शून्य आकृति या तस्वीर। चित्र-काव्य भी ध्वनि-व्यंग्य-शून्य होने के कारण शब्दार्थ की रूप-रचना मात्र है। चित्रकाव्य में बाहरी आकार-प्रकार की खूब तड़क-भड़क रहती है फिर भी वे प्राणहीन होते हैं, तत्त्वहीन होते हैं। इस श्रेणी की काव्य-रचना अपरिपक्व प्रतिभावाले कवि ही करते हैं। अधिकारी कवियों का ध्यान तो शब्दार्थों की निर्जीव सुन्दरता पर न जाकर उन्हें प्राणवान बनाने की ओर ही संलग्न रहता है।

मम्मट ने स्पष्ट ही लिखा है।—चित्रकाव्य के दो भेद होते हैं। शब्द-चित्र और अर्थ चित्र। व्यंग्यविरहित होने से और स्पष्टत अर्थप्रकाशन होने के कारण भी यह अधम काव्य माना जाता है; किन्तु अप्पय दीक्षित ने काव्य के तीन भेदों में चित्र-काव्य को व्यंग्यार्थशून्य होने पर भी रमणीय कहा है। ये शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र दोनों समान श्रेणी के नहीं होते। इनमें वही अन्तर होता है जो रेखाचित्र और तूलिकाचित्र में संभव है। रेखाचित्र-सा ही शब्द-चित्र में भी वैसा आकर्षक आन्तरिक चमत्कार नहीं होता, पर तूलिकाचित्र के समान अर्थचित्र में रूप-रंग की आकर्षक छटा रहती है। शब्द और अर्थ के सौन्दर्य की तुलना में स्वभावतः पहले से दूसरा उत्कृष्ट होता है। इसी से शब्दचित्र से अर्थचित्र की प्रतिष्ठा अधिक है।

मम्मट भट्ट ने चित्रकाव्य को चित्रालंकार में ले लिया है। वे कहते हैं कि सन्निवेशविशेष से सुसज्जित (छन्दोबद्ध) वर्ण खड्ग, मुरज, पद्म आदि आकार धारण कर ले वही चित्रालंकार है। यही बात विश्वनाथ भी कहते हैं। इनके मत से तीसरा कोई काव्य नहीं है।

आनन्दवर्द्धन ने लिखा है कि रस, भाव आदि से निरपेक्ष होकर जो आलंकारी रचना है वही चित्रकाव्य का विषय है। अभिप्राय यह कि जिस काव्य में शब्दाडम्बर हो वा अर्थ-वैचित्र्य हो पर रस या भाव का उससे उद्बोध न हो तो वह चित्र काव्य है।

चित्रकाव्य के प्रसंग में यह एक प्रश्न होता है कि इनमें क्या ध्वनि का सर्वथा अभाव ही रहता है? वस्तुतः संसार की सारी वस्तुओं में किसी न किसी रस के विभाव अवश्य हैं। इस नाते उन सबों में जैसे तैसे जो-सो कुछ न कुछ रस-व्यंग्य होना अनिवार्य है। किन्तु कवि का मुख्य केन्द्र वहाँ अलंकार गुम्फन होता है, अतएव रस अपेक्षित नहीं माना जाता। चित्रकाव्य में वाचक और वाच्य का वैचित्र्य-मात्र सार होता है। व्यंग्य की संभावना रहने पर भी इन स्थानों में उसका अस्तित्व नहीं अभिलषित जान पड़ता।

आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इसके प्रकरण में स्वयं प्रश्न किया है और उत्तर भी दिया है। जैसे, यह चित्र नाम का काव्य का भेद किस प्रकार का है? 'जहाँ व्यंग्य अर्थ का स्पर्श (लेश) नहीं हो। इस ध्वनि-शून्य काव्य के भेद में काव्य का व्यवहार उसी प्रकार प्रचलित है जिस प्रकार प्रतिमाओं में उन-उन देवी-देवों का और तस्वीरों में उन-उन व्यक्तियों का। रूप की समानता अपने प्राणवान रूप की यथार्थता नहीं रखते हुए भी उन्हें उनके नाम से ही विख्यात करती है।

अब इस सम्बन्ध में यह समस्या उठती है कि 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'—काव्य की आत्मा ध्वनि है। जब यह निश्चय माना जाता है तब चित्र के भेद, जिनमें ध्वनि का सर्वथा अभाव रहता है, काव्य कैसे माने जायँ? वस्तु और अलंकारों की ध्वनियाँ साक्षात् प्राण-स्वरूप नहीं अतएव काव्यों में उनका विस्मरण किया भी जा सकता है; परन्तु रस-रूप जीवन के बिना तो काव्य एकदम बेकाम हो जायगा, ठीक है। लेकिन यह तो पहले बताया जा चुका है कि कवि जिन पदों की रचना चित्र में करेगा, उनमें वस्तु-धर्म तो अवश्यमेव

होगा। कारण, वे पद किन्हीं वस्तुओं के बोधक ही होंगे, वस्तु-सत्ता से शून्य शब्दों का उपयोग तो पागलों की बक-झक ही कही जायगी। इस प्रकार जब उन पदों के अर्थों में वस्तु-भाव निश्चित हो चुकेगा तो रस-भाव भी किसी न किसी प्रकार मान ही लेना पड़ेगा। यह इसलिये कि तथाकथित रीति से वस्तुमात्र किसी न किसी रस के विभाव हैं और वस्तुतः रस भी कोई अज्ञेय पदार्थ नहीं, रति आदि मनोभावों के विभाव आदि से पोषित स्थायी भाव-स्वरूप ही हैं। इस आधार पर क्या कोई भी ऐसी वस्तु संभव है, जिसके देखने से मन में कोई भी भाव अंकुरित नहीं हो ? जिन पदार्थों से भावना का उन्मेष नहीं होगा, वे कवियों के ध्यान में उतरेंगे ही क्यों कर ? फलतः चित्रकाव्य में भी वस्तुतः निर्बाध सिद्ध हुआ है और तब तक उक्त प्रकार से (वस्तुओं में विभाव-धर्म होने के कारण रस-संस्पर्श संभव होने से) चित्र भी सर्वथा नीरस नहीं है, यह निश्चित हुआ। इतना होने पर भी यह बात सर्वोपरि है कि चित्र में रस की ओर कवि की उन्मुखता नहीं रहती, वहाँ यमक या रूपक की प्रदर्शिनी सजाने पर ही कला-कौशल रहता है। यही कारण है कि उन अलंकारों के बीच यदि रस का भान संभव भी रहता है तो मान्य नहीं होता। रस वहाँ आमंत्रण के बिना अकस्मात उपस्थित हुए सभ्य की तरह हत-प्रभ होकर रहता है। अपदस्थ व्यक्ति अपनी योग्यता की घोषणा नहीं करता। जिस गँवई की सभा का सभापति कोई गँवार नगण्य व्यक्ति हो, उसका और पद कोई शिरोधार्य नागरिक कैसे ले सकेगा ? अलंकारों के साम्राज्य में रस-ध्वनि की यही स्थिति होती है। आनन्दवर्द्धन ने इसीलिये यह कहा है कि अलंकारों का निवेश मुख्य लक्ष्य रखकर, अंगी के रूप में नहीं होना चाहिये। अस्तु।

बन्धकाव्य तक ही चित्रकाव्य की इतिश्री नहीं है। पहेली वगैरह भी चित्रकाव्य के ही अन्तर्गत हैं। अलंकारमात्र वैचित्र्यमय होते हैं। ये भी चित्र काव्य की प्रक्रिया में ही सम्मिलित हैं। संस्कृत में ही नहीं हिन्दी में भी इसकी प्रतिष्ठा थी। मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि चित्रकाव्य कवि की शक्ति और कौशल के ही प्रकाशक हैं, काव्यत्व कभी लाभ नहीं करते। ये बन्ध आदि आधुनिक कवियों को फूटी आँखों नहीं सुहाते, पर अनुप्रास-यमक का मोह अभी नहीं छूटा है।

इस प्रकार का खिलवाड़ प्राचीनों ने ही केवल नहीं किया है बल्कि आधुनिकों ने भी। कमिंग्स साहब ने भी मूर्तविधानवाद (Imagirsm) और संवेदनावाद (Impressionism) मिलाकर सबसे बड़ा तमाशा खड़ा किया है, जिसमें अक्षर विन्यास, चरण-विन्यास, पदलोप, पदभंग, वाक्यभंग आदि के नये-नये करतब दिखाये हैं। उनकी 'सूर्यास्त' नामक कविता हिन्दी में प्रसिद्ध हो गयी है।

चित्रकाव्य का एक उदाहरण दिया जाता है—

कीकर पाकर तार जामन फलसा आमला।
सेव कदम कचनार पीपल रत्ती तून तज॥

इस रूप में इस दोहे में पेड़-पौधों के नाम मात्र हैं। किन्तु जब यह दोहा इस रूप में लिखा जाता है तब अपना एक श्लाघ्य अर्थ प्रकट करता है। जैसे,

की करपा करतार जा मन फल सा आ मला।
सेव कदम कच नार पी पल रत्ती तून तज॥

करतार परमात्मा ने कृपा की और जो मन में था सो फल आ मिला। अरी अनाड़ी नारी चरण की सेवा कर, पल भर भी पति की रति को न छोड़। इस प्रकार के चित्रकाव्य कवि की कवित्व शक्ति की दुर्बलता ही के द्योतक हैं। अधिकारी कवियों की कृतियों में अलंकारों का उतना ही उपयोग दृष्टिगोचर होता है जितने से रस और भाव, दब या ढँक न जायँ।

—

तेईसवीं किरण

चित्रकाव्य (नवीन दृष्टिकोण)

आधुनिक कलाकार ने प्राचीन चित्रकाव्य के स्थान पर नये चित्रकाव्य का उद्भावन किया है और उसका नामकरण किया है 'चित्र-व्यंजना-शैली।' काव्य में चित्र-व्यंजना-शैली आधुनिक काव्य-कला की एक विशेषता मानी गयी है। यह शैली वा चित्र-चित्रण परंपरा से प्रचलित है। संस्कृत-साहित्य में चित्रणकला के आदर्श-स्वरूप अनेकों चित्र वर्तमान हैं। प्राचीन कविता में बाण-भय से भीत पलायन-पर शकुन्तला नाटक के हरिण पर दृष्टि डालें तथा रीति-काल में भी चाहे नखशिख के रूप में हो चाहे घटना-विशेष के वर्णन के रूप में हो, चित्र-चित्रण विद्यमान था; किन्तु यह चित्र-चित्रण प्राचीन परंपरा का अनुरूप था। इसपर आधुनिकता का रंग चढ़ जाने से इस युग का यह नया आविष्कार कहा जाने लगा है। निरालाजी के शब्दों में "प्राय: सभी कलाओं में मूर्ति आवश्यक है। अप्रहित मूर्ति-प्रेम ही कला का जन्मदाता है। जो भावनापूर्ण सर्वांग सुन्दर मूर्ति खींचने में जितना कृतविद्य है वह उतना ही बड़ा कलाकार है।" यह चित्र-व्यंजना-शैली पौरस्त्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई है। इस चित्रणकला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें शुक्लजी के कथनानुसार सदा 'संश्लिष्ट योजना' रहती है। संक्षेप में चित्र-चित्रण-सम्बन्धी शुक्लजी का विचार यहाँ उद्धृत किया जाता है—

"अधिकार द्वारा प्रकार का ग्रहण होता है—बिम्ब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा—'कमल' अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिये हुए सफेद पँखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अन्त:करण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय और कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थमात्र समझकर काम चलाया जाय" का० प्र० ह०प

"मोहन स्याम अमन्द मृदु मोरन पा रँगनो मुँगनि।

जा सकता है। इसमें आधुनिक चित्रण-कला का लवलेश भी नहीं है तथापि यह कहा जा सकता है कि अपने समय के अनुसार चित्र-चित्रण के ये अच्छे आदर्श हैं।

प्राचीन कवि अपने वर्णन वा चित्र-चित्रण के लिये निश्चित रूप-वाले राम, कृष्ण, गंगा, यमुना आदि उपादानों का और कुछ अनिश्चित रूपवाले प्रातः, बादल, बिजली आदि उपादानों का ग्रहण करते थे। वे निश्चित वस्तुओं के चित्र-चित्रण का प्रयास करते थे और अनिश्चित वस्तुओं का वर्णन-मात्र। इसके विपरीत आधुनिक कवि निश्चित वस्तुओं का त्याग और अनिश्चित वस्तुओं के चित्र-चित्रण का प्रयास करते हैं। इन वस्तुओं—काव्योपादानों में कुछ तो ऐसे हैं जो असाधारण प्राकृतिक पदार्थ हैं। जैसे, निर्झर, ऊषा, रश्मि आदि। उनकी दृष्टि साधारणतः तरु, लता, पुष्प, पशु, पक्षी आदि प्राकृतिक पदार्थों की ओर नहीं जाती। वे ऐसे विषय भी चित्र-चित्रण के लिये लेते हैं जिनका कोई रूप ही नहीं होता। जैसे सौंदर्य, स्मृति, शोक, मोह, लज्जा, स्वप्न, वेदना आदि। कल्पना-कुशल कवि इन भाववाचक संज्ञाओं को ऐसे रूप प्रदान करते हैं जिनसे आँखों के सामने एक दृश्य उपस्थित हो जाता है—एक चित्र झलक जाता है। दृश्यों के चित्र-चित्रण में कला की वह महत्ता नहीं जो भावों के चित्र-व्यंजना द्वारा चित्रण में—प्रदर्शन में है।

एक साधारण दृश्य का असाधारण चित्र देखिये—

> शिलाखण्ड पर बैठी वह नीलांचल मृदु लहराता था
> मुक्तबंध संध्या समीर सुन्दरी संग
> कुछ चुपचाप बातें करता जाता और मुसकाता था।
> विकसित असित सुवासित उड़ते उसके कुंचित कच
> गोरे कपोल छू-छू कर लिपट उरोजों से भी जाते थे।
>
> —निराला

चित्र-व्यंजना-शैली में भावों का यह कैसा सुन्दर और हृदय-ग्राही दृश्य का प्रदर्शन है। कवि रजनी-बाला से प्रश्न करता है—

> इस संसार बीच जग कर सज कर रजनी बाले!
> कहाँ बेचने ले जाती हो ये गजरे तारों वाले!

मोल करेगा कौन सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी
मत कुम्हलाने दो सूनेपन में अपनी निधियाँ प्यारी ॥

पुनः कवि तारावलियों का प्रतिविम्ब निर्भर जल में देखता है, तो उसका चित्र यों खड़ा करता है।

निर्भर के निर्मल जल में ये गजरे हिला हिला कर धोना।
लहर लहर कर यदि चूमें तो किंचित बिचलित मन होना।
होने दो प्रतिविम्ब-विचुम्बित लहरों ही में लहराना।
लो मेरे तारों के गजरे निर्भर स्वर में यह गाना।

जब प्रातःकाल में ताराओं की ज्योति मन्द पड़ने लगी, तब कवि गजरों की सार्थकता का यह चित्र खड़ा करता है—

यदि प्रभात तक कोई आकर तुमसे हाय ! न मोल करे।
तो फूलों पर ओस रूप में विखरा देना सब गजरे ॥

—रामकुमार वर्मा

कवि चित्र-व्यंजना-शैली में अपनी प्रेयसी के सौंदर्य की महिमा का कैसा भावात्मक सुन्दर चित्र 'प्रतीक्षा' नामक कविता में चित्रित करता है—

कब से विलोकती तुमको ऊषा आ वातायन से ?
संध्या उदास फिर जाती सूने गृह के आँगन से !
लहरें अधीर सरसी में तुमको तकतीं उठ उठकर,
सौरभ समीर रह जाता प्रेयसि ठंढी साँसें भर।
है मुकुल मुंदे डालों पर कोकिल नीरव मधुबन में;
कितने प्राणों के गाने ठहरे हैं तुमको मन में ! —पन्त

जान पड़ता है कि जैसे प्रकृति अनेक रूपों में मूर्तिमती होकर उसके अनिंद्य सौंदर्य की झलक पाने को उत्कंठित और लालायित हो उठी है। ऊषा के देखने का कारण अपने सौंदर्य के साथ उसकी तुलना करना है। संध्या का म्लान सौन्दर्य क्या उसके सामने ठहर सकता है ! फिर संध्या का उदास होना स्वाभाविक है। लहरें तुम्हारी चंचलता को ही देखना चाहती हैं। वे अधीर इसलिये हैं कि कहीं मात न खा जायँ। कहीं भी हो समीर को तुम्हारे सौरभ का आभास मिल जाता है। क्योंकि वह सर्वव्यापी है। फिर क्यों

मान होता है। उसकी बुद्धि सदसद्विवेकिनी थी। क्यों कि वह मेधावी है। जब वह प्राज्ञ है तो अवश्य नवनवोन्मेष शालिनी बुद्धि का है। स्तोता अर्थात् प्रशंसक है तो अवश्य वर्णनानिपुण है। इससे कवि का एक स्वरूप हमारे सामने खड़ा हो जाता है और यह भी कि उस समय के कवि सर्व गुण सम्पन्न थे।

एक मंत्र में कवि के ज्ञान-गौरव का वर्णन है जिसका आशय यह है कि मैं समझता नहीं हूँ, इसी से जो समझते हैं, उनसे जिज्ञासा करता हूँ। नहीं जानता, इसीसे जानने वाले कवियों से जिज्ञासा करता हूँ।[१] अभिप्राय यह कि कवि क्रान्तदर्शी होने के कारण परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता होता है। अतः सत्योपलब्धि के लिए जिज्ञासु की कवि से जिज्ञासा है।

उपनिषदों में भी कवियों को क्रान्तदर्शी ऋषि आदि कहा गया है।[२] ऋग्यजु-सामवेदों से जो ज्ञात है, कवि उसको जानता है।[३] कवियों ने जिन कर्मों को देखा वे त्रेता में बहुत विस्तृत थे।

गीता में भी कवि विवेकी, सर्वज्ञ, पंडित आदि के अर्थ में आया है। ईश्वर को कवि अर्थात् सर्वविद्यानिर्माता कहा गया है।

ज्ञात होता है कि कवि पहले स्वज्ञात वा स्वानुभूत विषयों का वर्णनकार या प्रतिपादक पंडित होता था, इसी से वेद विषय के प्रतिपादक परमेश्वर को कवि की उपाधि दी गयी।[५] ऐसे ही एक

---

१ अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्। ऋग्वेद १।१६४।६

२ ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते…।
—प्रश्न ५।७।

३ तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। मुण्डक १।२।१

४ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। ४।१६
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। १८।२
कविं पुराणमनुशासितारम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। ईश ८

आधुनिक कवि ने ईश्वर को बार-बार कवि[1] ही कहा है। ब्रह्मा वेद प्रकाश करने के कारण आदि कवि[2] कहलाये। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि[3] हुए।

आजकल कवि शब्द का व्युत्पत्तिगत[4] अर्थ होता है—वर्णन करने वाला, सब जानने वाला या श्लोक बनाने वाला या चमत्कार-कारक-वाक्य रचना में समर्थ।

आज किसी को कवि का अर्थ अविदित नहीं है।

दूसरी किरण

कवि की असाधारणता

किसी का कवि होना साधारण बात नहीं है। यह पूर्व जन्मार्जित बड़ी तपस्या और साधना का फल होता है। कवि का झूठ-मूठ भान करने से कोई कवि नहीं हो जाता। एक वेद वचन है कि "कवीयमान अर्थात् अपने को कवि माननेवाले—कवित्व का आडम्बर रचनेवाले भला इन रहस्यों को कैसे प्रकाश कर सकते हैं। कहाँ से वह दिव्य मानस उत्पन्न हो सकता है। अभिप्राय यह कि कवि का मानस दिव्य होता है। दिव्य मानस व्यक्ति ही कविता करने का अधिकारी है। कवि का ढोंग रचनेवाला कवि नहीं हो सकता।

कवि के संबंध में एक श्रुति का कथन है कि 'यहाँ रहते हुए तुम वहाँ के रहस्य जानते हो और वहाँ रहते हुए तुम यहाँ का मर्म देख

मान होता है। उसकी बुद्धि सदसद्विवेकिनी थी। क्यों कि वह मेधावी है। जब वह प्राज्ञ है तो अवश्य नवनवोन्मेष शालिनी बुद्धि का है। स्तोता अर्थात् प्रशंसक है तो अवश्य वर्णनानिपुण है। इससे कवि का एक स्वरूप हमारे सामने खड़ा हो जाता है और यह भी कि उस समय के कवि सर्व गुण सम्पन्न थे।

एक मंत्र में कवि के ज्ञान-गौरव का वर्णन है जिसका आशय यह है कि मैं समझता नहीं हूँ, इसी से जो समझते हैं, उनसे जिज्ञासा करता हूँ। नहीं जानता, इसीसे जानने वाले कवियों से जिज्ञासा करता हूँ।[१] अभिप्राय यह कि कवि क्रान्तदर्शी होने के कारण परमार्थ तत्त्व का ज्ञाता होता है। अतः सत्योपलब्धि के लिए जिज्ञासु की कवि से जिज्ञासा है।

उपनिषदों में भी कवियों को क्रान्तदर्शी ऋषि आदि कहा गया है।[२] ऋग्यजु-सामवेदों से जो ज्ञात है, कवि उसको जानता है।[३] कवियों ने जिन कर्मों को देखा वे त्रेता में बहुत विस्तृत थे।

गीता में भी कवि विवेकी, सर्वज्ञ, पंडित आदि के अर्थ में आया है। ईश्वर को कवि अर्थात् सर्वविद्यानिर्माता कहा गया है।

ज्ञात होता है कि कवि पहले स्वज्ञात वा स्वानुभूत विषयों का वर्णनकार या प्रतिपादक पंडित होता था, इसी से वेद विषय के प्रतिपादक परमेश्वर को कवि की उपाधि दी गयी।[५] ऐसे ही एक

---

१ अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ऋग्वेद १।१६४।६

२ ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते···।

—प्रश्न ५।७।

३ तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। मुण्डक १।२।१

४ किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। ४।१६

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः। १८।२

कविं पुराणमनुशासितारम्।

५ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः। ईश ८

आधुनिक कवि ने ईश्वर को बार-बार कवि[1] ही कहा है। ब्रह्मा वेद प्रकाश करने के कारण आदि कवि[2] कहलाये। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण के रचयिता आदि कवि वाल्मीकि[3] हुए।

आजकल कवि शब्द का व्युत्पत्तिगत[4] अर्थ होता है—वर्णन करने वाला, सब जानने वाला या श्लोक बनाने वाला या चमत्कार-कारक-वाक्य रचना में समर्थ।

आज किसी को कवि का अर्थ अविदित नहीं है।

दूसरी किरण

कवि की असाधारणता

किसी का कवि होना साधारण बात नहीं है। यह पूर्व जन्मार्जित बड़ी तपस्या और साधना का फल होता है। कवि का झूठ-मूठ भान करने से कोई कवि नहीं हो जाता। एक वेद वचन है कि[5] कवीयमान अर्थात् अपने को कवि माननेवाले—कवित्व का आडम्बर रचनेवाले भला इन रहस्यों को कैसे प्रकाश कर सकते हैं। कहाँ से वह दिव्य मानस उत्पन्न हो सकता है। अभिप्राय यह कि कवि का मानस दिव्य होता है। दिव्य मानस व्यक्ति ही कविता करने का अधिकारी है। कवि का ढोंग रचनेवाला कवि नहीं हो सकता।

कवि के संबंध में एक श्रुति का कथन है कि 'यहाँ रहते हुए तुम वहाँ के रहस्य जानते हो और वहाँ रहते हुए तुम यहाँ का मर्म देख

---

१ स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत्कविरीत्यभीक्ष्णं काष्ठापरा सा कविता ततो नः।
—नीलकंठ दीक्षित।

२ तेने ब्रह्महृदा य आदि कवये……। भागवत

३ काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादि कवेः पुरा। क्रौंच द्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। —ध्व० लं०

४ कवते कौति वा सर्वं जानाति सर्वं वर्णयति अथवा श्लोकात् ग्रथन इति कविः। कुङ् शब्दे (भ्वादि) कुशब्दे (अदादि) अच इः (उणादि) अमरकोष आदि। कव वर्णने गतौ, कुशब्द वा इन्।
—वाचस्पत्यम्

५ कवीयमानः क इह प्रवोचत् देवं मनः कुतो अधिप्रजातम्।

पाते हो।'[1] यही बात एक अँग्रेज कवि भी यों कहता है कि 'कवि की दृष्टि उल्लास से भर कर पृथ्वी से स्वर्ग और स्वर्ग से पृथ्वी तक घूमती है और जैसे-जैसे कल्पना लक्ष्य को अलक्ष्य करती है, वैसे-वैसे कवि उन्हें रूप देता है। वह जिनका अस्तित्व तक नहीं, उन्हें नाम-रूप देकर पृथ्वी पर ला देता है।'[2] हम भी इसी बात को साधारण लोकोक्ति में कहते हैं 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।' यह लोकोक्ति व्यक्त करती है कि कवि कितना सामर्थ्य रखता है। रवि की किरणें अणुपरमाणु को भी आलोकित करती हैं पर कवि की दृष्टि उससे भी तीक्ष्ण होती है। उसे प्रतिभा प्रसूत कल्पना की शक्ति प्राप्त है। उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि प्रतिवस्तु में प्रविष्ट होने की अद्भुत क्षमता रखती है। रवि विश्वव्यापी वस्तुओं के वाह्यावरण तक ही पहुँच सकता है; किन्तु कवि उसके अन्तरंग में, उसके कण-कण में प्रविष्ट होकर उसको हमारे समक्ष ऐसे मनोहर आकार में प्रस्तुत करता है कि हम देख सुनकर मुग्ध हो जाते हैं; उसके रहस्य को मधुर रूप से हृदयंगम कर लेते हैं; उसके रागात्मक संस्पर्श से पुलकित हो उठते हैं। संस्कृत की एक सूक्ति है जिसका अर्थ होता है कवि क्या नहीं देखता।[3] अर्थात् उसकी दृष्टि सब कुछ देखती है। उसकी दर्शन-शक्ति की कोई सीमा नहीं।

एक श्रुति कहती है कि कवि[3] 'नृचक्षाः' है अर्थात् कवि मनुष्यों का द्रष्टा है। अभिप्राय यह कि कवि का मनुष्यों को देखना सामान्य देखना नहीं है। वह आत्मस्थ होकर कुछ ऊर्ध्व दृष्टि से उन्हें देखता है। इस दशा में उसकी दृष्टि सांसारिक दृष्टि नहीं रहती।

इस अपार संसार में कवि ही ब्रह्मा है। इससे यह जैसा चाहता है, वैसा संसार हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह कि कवि के

---

१ अमुत्र सन्निह वे त्वेतः संस्थानि पश्यसि।

2 The poet's eys in a fine frenrzy rolling
Doth glance heaven to earth from earth to heaven.
And as imagination bodies forth
The form of things unknown, the poet's pen
Turns them to shape, and gives to airy nothing
A local habitation and a name.

३ कवयः किं न पश्यन्ति।

४ कविर्नृचक्षा अभिधीमचष्ट।—ऋग० ३।५४।६

इच्छानुसार काव्यसंसार का निर्माण होता है।[1] यदि शृंगारी कवि हुआ, तो संसार रसमय हो गया और अगर वह विरागी हुआ तो संसार नीरस हो गया। अभिप्राय यह कि कवि सृष्टि की सामर्थ्य रखता है।

शेली ने भी कुछ ऐसा ही कहा है।[2]

कवि ऋषि होता है; क्योंकि उसमें पदार्थ दर्शन की अद्भुत शक्ति होती है। इसीसे एक कवि का कथन है कि जो ऋषि[3] नहीं वह कवि नहीं। दर्शन से ही ऋषि होते हैं। वह दर्शन है विचित्र भाव, धर्मांश और तत्त्व का ज्ञान। कवि तत्त्व दर्शन से ही शास्त्र में कवि कहा गया है। परलोक में जो कवि होता है, वह वर्णन और दर्शन दोनों ही से होता है। लौकिक कवि साधारण दृष्टि वा दर्शन का नहीं होता।

कवि के संबंध में बख्शीजी ने जगदीशचन्द्र बोस की उक्तियों का सारांश यों लिखा है—'कवि अपनी अन्तर्दृष्टि से विश्व में एक अरूप को देखता है और वह उसीको रूप में प्रकाशित करता है। जहाँ दूसरों की दृष्टि नहीं पहुँचती, वहाँ उसकी दृष्टि अवरुद्ध नहीं होती। कवि की कृति में हमें उसी रूपरहित देश का आभास मिलता है। वैज्ञानिक मार्ग इससे भिन्न होता है; किन्तु उसकी और कवि की साधना एक होती है।

सरोजिनी नायडू का कहना है कि 'सेनाओं की तलवार की अपेक्षा कलम अधिक शक्तिशाली होती है। कवियों के आधार पर परमात्मा अपने सिंहासन का निर्माण करता है।'

---

१ अपारे खलु संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।
शृंगारी चेत् कविः काव्यं जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेत् नीरसं सर्वमेव तत्।

2 Poets are the trumpets which song to battle, Poets are the unacknowledged legislators of the world.

३ नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनम्।
विचित्र भावधर्मांशतत्त्व प्रख्या च दर्शनम्।
सततत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढ़ालोके कविश्रुतिः।—भट्टतौत

कवि की असाधारणता का परिचायक शेक्सपियर की यह उक्ति भी है कि[1] 'पागल, कवि और प्रेमी तीनों की कल्पनाएँ एक-सी होती हैं और यह भी कि[2] कुशलता के साथ झूठ बोलने की कला का शिक्षक होता है।

दिनकर कवि को संबोधन कर कहते हैं—

कवि पारिजात के छिन्न सुकुम तुम स्वर्ग छोड़ भू पर आये।
उर पद्म कोप में छिपा दिव्य नन्दनवन का सौरभ लाये।
जिस दिन तमसा तट पर तुमने दी फूँक बाँसुरी अनजाने।
शैलों की श्रुतियाँ खुलीं लगे नीड़ों में खग उठ-उठ गाने।

× × ×

कवि स्वर्ग दूत या चरम स्वप्न विधि का तुमको सुकुमार कहें?
नन्दन कानन का पुष्प व्यथा जग का या राजकुमार कहें?
विधि ने भूतल पर स्वर्ग लोक रचने का दे सामान तुम्हें।
अपनी त्रुटि को पूरी करने का दिया दिव्य वरदान तुम्हें।

कवि की असाधारणता की न जाने कितनी गाथाएँ हैं, जिनका अब उल्लेख करना अनावश्यक है।

तीसरी किरण

कवि विश्व का प्रतिनिधि है

समाधि की योग में ही नहीं काव्य साहित्य में भी आवश्यकता है। समाधि का अर्थ अवधान है—चित्त की एकाग्रता है। इससे बाह्यार्थ की निवृत्ति और वेदितव्य विषय में प्रवृत्ति होती है। अभिप्राय यह कि बहिरिन्द्रियों के व्यापार का जब विराम होता है, तब मन के अन्तर में तत्क्षीन होने से अभिधा के अनेक स्फुरण होते हैं। इससे काव्य कर्म में कवि की समाधि ही प्रधान है।[3] इसी

---

1 The lunatic, the lover and the poet
Are of imagination all Compact.

2 It is Homer who has chiefly taught other
poets the art of tellings lies

३ काव्य कर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते। काव्य मीमांसा
मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य। रुद्रट

बात को शेली यों कहता है कि कविता स्फीत तथा पूर्णतम आत्माओं के परिपूर्ण क्षणों का लेखा है।[1] और पंत के शब्दों में कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।

इससे हमें यह प्रत्यक्ष हुए बिना नहीं रहता कि एक कवि जिस बात का अनुभव करता है, उसकी अनुभूति दूसरों को भी प्रायः उसी रंग रूप में होती है। वह बात तो अपने हृदय की ही कहता है पर दूसरे अनुभूतिशील हृदयों का भी भाव व्यक्त कर देता है।

सारी संकीर्णता से मुक्त होना कवित्व का प्रथम लक्षण है। कवि विश्व भाव को ही वरण करेगा। वह भाव न तो किसी जाति का, न तो किसी व्यक्ति का होगा; बल्कि मनुष्य मात्र उसका अनुभव करेगा। कवि विश्ववाक् को ही ढूंढेगा जो अपनी ही भाषा में नहीं सभी के मुख से सभी भाषा में स्वभावतः व्यक्त हो उठेगा।

जब भवभूति कहते हैं कि 'एको रसः करुण एव'—करुण ही एक रस है, यही बात जब दूसरा विदेशी कवि भी यों कहता है कि [2]हमारे गीत वे ही सुन्दर हैं जो करुणापूर्ण हैं और जब पंत 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' कहते हैं, तब क्या वे केवल अपनी ही आह की आँच से वायु मंडल को उत्तप्त करते हैं? नहीं, वे सारे भावुक हृदयों की आह का उद्गार प्रकट करते हैं।

मनुष्य जैसे जीर्ण वस्त्र को छोड़ कर नया ग्रहण करता है, वैसे आत्मा भी जीर्ण शरीर को छोड़कर शरीरान्तर धारण करता है।[3] यही बात टेनिसन भी विशेष भंगी से कहता है [4] शान्ति! शान्ति! वह मरा नहीं, वह सोता नहीं, वह जीवन के स्वप्न से जाग उठा है। यही बात चमत्कार पूर्ण शैली में रवीन्द्र नाथ भी

---

1 Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds.

2 Our sweetest songs are those,
That tell of soddest thoughts

3 वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
यथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देहि। गीता

4 Peace peace, peace! he is not dead he doth not sleep

कहते हैं कि[1] 'मौत तो माता का वरदहस्त है, जो जीवन के स्तन से हटाकर परलोक के स्तन का पान कराती है। एक स्तन से हटाये जाने पर शिशु रोता है, पर दूसरा स्तन पाते ही वह आश्वस्त हो जाता है।'

सहस्र वर्ष की जो हमारी बात है उसे एक विदेशी कवि भी अपने रंगरूप में कहता है। इसने संस्कृत का यह श्लोक पढ़कर अपनी कविता लिखी हो, इसकी संभावना भी नहीं की जा सकती; क्योंकि इस पर संस्कृत की छाप नहीं है। रवीन्द्र बाबू की कविता पर भी इस श्लोक का प्रभाव नहीं देख पड़ता; क्योंकि उनका भाव अछूता और कल्पना निराली है। ऐसा भावसाम्य यह सिद्ध करता है कि सच्चा कवि विश्व का प्रतिनिधि है; किन्तु ऐसा सौभाग्य सब किसी को प्राप्त नहीं होता।

रवि बाबू की इस कविता को—

जहाँ हो चित्त भयों से शून्य, जहाँ ऊँचा हो जन का भाल
जहाँ पर ज्ञान मुक्त निर्बन्ध अमल अकलंक रहे निरकाल
जहाँ आँगन में ही दिन रात नहीं यह घर-घर की प्राचीर
करे छोटे छोटे से खण्ड हृदय विस्तृत वसुधा की चीर
हृदय के तल से हो उच्छ्वसित जहाँ उद्गार उठें अनिवार
सहस्रों फलदाती अविराम बहे दिशि दिशि कर्मों की धार।[2]

—सुधीन्द्र

जो प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता का सुन्दर स्वरूप है, पढ़कर कौन

---

१ सेजे मातृपाणि
स्तन होते स्तनान्तरे लइते छे टानि
स्तन होते तुले निले शिशु काँदे डरे
मुहूर्त्ते आश्वास पाय गिये स्तनान्तरे।

२ चित्त जेथा भय शून्य उच्चजेथा शिर, ज्ञान जेथा मुक्त, गृहेर प्राचीर
आपन प्रांगणतले दिवस शर्वरी वसुधा के राखे नाइ क्षुद्र खण्ड करि
जेथा वाक्य हृदयेर उत्समुख हते उच्छ्वसिया उठे जेथा निर्वारित स्रोते
देशे देशे दिशे दिशेकर्मधारा धाय अजस्र सहस्र विधि चरितार्थताय।

—गीताञ्जलि

समझदार यह न कह सकेगा कि यह तो मेरे मन की बात है।

शकुन्तला विश्व के लिए वरदान है। इसीसे महाकवि गेटे ने कहा था कि[1] क्या तू तरुण वयस का मुकुल और परिणत वयस का फल (एक साथ) चाहती है? क्या तू ऐसी वस्तु चाहती है जो आत्मा को सम्मोहित और पुलकित करे और जो उसकी क्षुधा की शान्ति करे तथा उसे खाद्य द्वारा परिपुष्ट करे? क्या तू चाहती है कि स्वर्ग और मर्त्य का तात्पर्य एक ही नाम द्वारा विदित हो जाय तो शकुन्तले! मैं तेरा ही नाम लेता हूँ और उसके भीतर ये बातें आ जाती हैं।—गुलाबचन्द

यही आशय एक वाक्य में यों कहा जा सकता है कि यदि कोई तरुण वत्सर के फल और परिणत वत्सर के फल, यदि कोई मर्त्य और स्वर्ग एकत्र देखना चाहे तो उसे शकुन्तला में मिलेंगे। महाकवि कालिदास सच्चे विश्व के प्रतिनिधि कवि थे।

मानव प्रकृति और जनसमाज का चित्र खींचने में शेक्सपीयर का समकक्ष यूरोप में नहीं हुआ। इसीसे एक समालोचक ने लिखा है कि हे प्रकृति! हे शेक्सपीयर! तुम दोनों में कौन किसका प्रतिबिम्ब है! इस सम्बन्ध में वे विश्वविख्यात कवि थे। प्रकृति के प्रकृत-चित्रण से कौन मुग्ध नहीं होता! प्रकृति का प्राकृतिक स्वाभाविक भाव देशविशेष या व्यक्ति विशेष के लिए सीमित नहीं होता। महादेवी जी हिमालय पर मँड़राते बादलों का जो चित्र चित्रित करती हैं वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है—

तू भू के प्राणों का शतदल

सित क्षीर फेन हीरक रज से जो हुए चाँदनी में निर्मित,
पारद की रेखाओं में चाँदी के रंगों से चित्रित,

---

१ गेटे की जर्मन कविता का अँग्रेजी अनुवाद

Wouldest thou the young years, bloosomss and fruits of its decline,
And all by which the soul is charmed inraptured, feasted, fed;
Wouldest thou the earth & heaven itself in our sole name combine,
I name thee O Shakuntala ! and all at once is said.

खुल रहे दलों पर दल झलमल! सीपी से नीलम से द्युतिमय,
कुछ पिंग अरुण कुछ सित श्यामल, कुछ चञ्चल कुछ दुख मन्थर
फैले तम से कुछ तूल विरल मँड़राते शत शत अलि बादल।

कभी-कभी कवि कोई ऐसा आदर्श उपस्थित करता है कि वह विश्वमान्य होता है। जब कवि कहता है—

क्षणिक सुखों का स्थायी कहना दुःख मूल यह मूल महा।
चञ्चल मानव क्यों भूला तू इस सीटी में सार कहाँ?—प्रसाद

इसमें जो सत्य है वह विश्वव्याप्त है।

अस्थिर है, जग का सुख दुख जीवन ही नित्य चिरन्तन!
सुख दुख से ऊपर मन का जीवन ही रे अवलंबन!—पंत

यह वह भारतीय प्राचीन आदर्श है जिसके विश्ववरेण्य होने में कोई विचिकित्सा नहीं। यहाँ जीवन आत्मरूप है।

कवि अपनी वाणी में कभी-कभी ऐसा भाव भर देता है कि सारा संसार उसमें अपने हृदय को ही प्रतिबिम्बित पाता है।

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा!
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बन्धन खोल रहा!
बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात,
कहती कंपित अधर से बहकाने की बात!
कौन मधुमदिरा घोल रहा!—प्रसाद

कहिये तो किस देश में, किस जाति में कहाँ नहीं यौवन के माधवी कुञ्ज में ऐसा कोकिल बोलता?

जब विश्व ब्रह्माण्ड में ब्रह्म की विभूति को आभासित देख कर कवि कंठ कूक उठता है।

तेरी आभा का कण नभ को देता दीपक का अगणित दान।
दिन को कनक राशि पहनाता विधु को चाँदी का परिधान।—म० वर्मा

तब कौन नहीं इसको अन्तःकरण से अपनाने को लालायित हो उठता है। ऐसे भाव सचमुच विश्व के लिये वरदान हैं।

कवि की दृष्टि में मानव की महत्ता सर्वोपरि है। जब वह उसकी

महत्ता का गुणगान करता है तब उसकी वाणी एक की नहीं विश्व की वाणी हो जाती है।

गा कोकिल सन्देश सनातन
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन वह न देश का नश्वर रजकण
देश काल हैं उसे न बन्धन मानव का परिचय मानवपन!

इस भाव को भी देश काल का कोई बन्धन नहीं बाँध सकता; क्योंकि—

सुन्दर विहग सुमन सुन्दर
मानव तुम सबसे सुन्दरतम!—पंत

रामायण की रमणीयता लोक विश्रुत क्यों है? वही विश्व-मानव के हृदयों में घर कर लेने वाले भाव। गीताञ्जलि के श्लाघनीय होने का कारण वही विश्ववरेण्य सत्य, शिव, सुन्दर भावों का कलापूर्ण प्रकटीकरण, जो एकदेशीय नहीं, वरन् विश्वव्यापी है। विश्व प्रेमी कवि विश्व को अपने में और विश्व में अपने को देखता है उसके अन्तर का यह अनन्त प्रेम उसका जीवनाधार है। इससे उसके हृदय के निकले भाव विश्व के निधि होते हैं। नोबुल पुरस्कार विजेताओं का जिसने इतिहास लिखा है उसने इस बात को स्वीकार किया है कि रवीन्द्रनाथ के काव्य की प्रेरणा सर्वोपरि सार्वजनीन और प्रादेशिकता दोष विवर्जित है। ईश्वर करे भारत में अनेकों की आत्मा से कवीन्द्र रवीन्द्र बोल उठें!

सारांश यह कि देशकालातीत कवि देशकाल में ही रहकर ही, उसके दिये हुए सिद्धान्तों से ही एक विश्व साहित्यिक सृष्टि कर देता है जो सभी देशों और सभी लोगों के लिये चिरन्तन और असीम वस्तु हो जाती है।

चौथी किरण

कवि समय का प्रतिरूप है

एक वैदिक मन्त्र है जिसका अर्थ होता है कवि उस रथ पर चढ़ते हैं जिसका चक्र विश्व ब्रह्माण्ड है; सहस्राक्ष, जरारहित, बहुप्राणी वीज युक्त सप्तरश्मि काल अश्व, जिसे निरन्तर चलाता रहता है। सच्चे कवि उसी रथ पर आरूढ़ होते हैं और काल अश्व द्वारा चला कर जय यात्रा करते हैं।

हमें इससे ज्ञात होता है कि कालानुसार समय की जैसी गतिविधि होती है कवि भी उसीके अनुकूल चलता है; क्योंकि काल बहुत प्रबल है। वह अजर है। उसमें नितनूतनता वर्तमान है। काल कवि को अपनी दिशा में ले ही जायगा। वह एक स्थान पर रुक ही नहीं सकता।

कवि समय का प्रतिरूप या प्रतिनिधि है, इसका अभिप्राय यह है कि कवि पर तत्कालीन रुचि का बड़ा प्रभाव पड़ता है जो युगधर्म कहा जाता है वह लोकरुचि के अतिरिक्त और दूसरा कुछ नहीं है। जैसी लोकरुचि होगी, कवि की प्रवृत्ति भी प्रायःतदनुरूप ही होगी। यद्यपि सभी कवि इससे अभिभूत नहीं होते तथापि यह निश्चित है कि कवि की कल्पना में देश, काल और जाति के आचार-विचारों का कम हाथ नहीं रहता। यह भी भूलना न चाहिये कि कवि जो अपनी भावना ,व्यक्त करता है उस पर जनसमाज का प्रभाव स्पष्ट रहने पर भी कवि का व्यक्तित्व भी झलकता रहता है। यही कारण है कि एक युग के कवियों में भी एकता नहीं लक्षित होती। यह प्रगतिशीलता का तकाजा है। यह प्रगति विषय और विचार की ही नहीं; वल्कि भाषा, भाव, साधन, शैली, संवेदन आदि में भी होनी चाहिये। ऐसा होने से ही प्रगति का अर्थ गति में प्रकर्षता का आगे बढ़ना उपयुक्त होगा और काल इस कार्य को कवि से करा कर ही छोड़ेगा।

काव्यकाल में एक दिन था जब कि साहित्य संसार शृङ्गार रस से सराबोर था और कवियों ने भी समाज की उसी परिस्थिति में अपने को आकण्ठ डुबा दिया था; किन्तु प्रगति ने उस प्रवाह को समय की सिकता में सूख जाने को विवश किया। यही कारण है कि भारतेन्दु ने शृङ्गारी कवि होने पर भी—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई।

× × ×

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।

जैसी कविता लिखने को विवश हुए। सामाजिक गतिविधि के प्रभाव से ही द्विवेदी काल में 'भारत-भारती' की रचना हुई।

अनन्त का राग अलापने वाले छायावादी पन्त—

धर्मनीति और सदाचार का मूल्याङ्कन है जनहित।
सत्य नहीं वह जनता से जो नहीं प्राण संबंधित।

जनहित का राग अलापते हैं।

परिवर्तन का प्रेमी नवयुग का नव युवक कवि युगान्तर का आह्वान करता है—

अरे युगान्तर आ जल्दी अब खोल-खोल मेरा बन्धन;
बँधा हुआ इन जंजीरों से तड़प रहा कब से जीवन।

× × ×

आ जा लादे कण-कण में अब फिर से ऐसा परिवर्तन;
मरता जहाँ आज यह जीवन वहाँ करे यौवन नर्तन। —नेपाली

स्वच्छन्द छन्द में छायावाद का निराला रंग भरने वाला 'निराला' भिक्षुक के वर्णन में—

वह आता, दो टूक कलेजे करता, पछताता पथ पर आता'

कहता और फिर वही कवि।

जागो फिर एक बार, उगे अरुण बल में रवि
आई भारती रति कवि कंठ में
पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति पट

लिखकर सामाजिक प्रगति के प्रवाह में कोई कवि अपने को स्थिर नहीं रख सकता, इसका निर्देश करता है।

कल्पना के अनन्त आकाश में निर्मुक्त विचरण करने वाला कवि बच्चन जो एक दिन लिखता था—

इन्द्र धनु पर शीश धरकर बादलों की सेज सुख पर
सो चुका हूँ नींद भर मैं चंचला को बाहु में भर
दीप शशि रवि तारकों ने बाहरी कुछ केलि देखी
देख पर पाया न कोई स्वप्न वे सुकुमार सुन्दर

वही कवि यह कारुणिक क्रन्दन कर उठता है—

मेरा तन भूला मन भूला
मेरी फैली युग बाहों में मेरा सारा जीवन भूला

इसी से कहा जाता है कि कवि समय की प्रगति में अपने को बहने देता है और उसका चित्रित समाज सामने आकर उसको

सामाजिक प्रतिनिधि का रूप देता है आज इसी सामाजिक परिस्थिति के परिवर्तन के कारण रुचि वैचित्र्य से राष्ट्रवादी, समाजवादी, यथार्थवादी, प्रगतिवादी आदि अनेक वादों के रूप में कवि अपनी कविताओं से समाज में नितनूतन भावों और विचारों का समावेश करते दृष्टिगत हो रहे हैं। फिर कवियों को समय प्रतिनिधि, प्रतीक वा प्रतिरूप क्यों न कहा जाय !

पाँचवीं किरण

कवि के विविध रूप

कवि की कोई रूपरेखा स्थिर रूप से आँकी नहीं जा सकती। वह भी नयी। बड़ा विकट काम है। उसकी कोई कल्पना भी की जाय तो वह काव्य से पृथक् नहीं की जा सकती ; क्योंकि काव्य कवि की अन्तरात्मा की बाह्यव्यञ्जना ही तो है।

काव्य में कवि और कवि में काव्य अन्तर्भूत है—ओतप्रोत है। काव्य की व्याख्या कवि की और कवि की व्याख्या काव्य की व्याख्या है ; क्योंकि कविता कविकर्म ही तो है। काव्य में कवि की अन्तरात्मा है, अनुभूति है, अभिव्यक्ति है, और कवि में काव्य कृतिरूप से विद्यमान है। कवि की अन्तरात्मा के अन्तर्बोध के बिना उसकी आत्मा की अभिव्यञ्जित काव्य की कमनीयता का बोध सम्भव नहीं। कवि का काव्य कहने से कवि के दैनिक जीवन का भाव कभी नहीं है ; किन्तु काव्य कवि के अन्तरंग की रहस्यमयी प्रेरणा से परिपूर्ण प्रतिभाद्वारा आत्मप्रकाश ही है। कवि के इसी प्रतिभा प्रसूत अनुभूतिमय जीवन को काव्य वा कवि

भावप्रकाशक कवि

हम जो कुछ जड़चेतनात्मक प्राकृतिक पदार्थ देखते हैं और जिन नर-नारियोंके बीच रहते हैं उनसे हमारा एक आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित है। हमलोगों में एक प्रकार का आदान-प्रदान और विचार विनिमय होता रहता है। यह सर्वसाधारण को उतना स्पन्दित नहीं करता जितना कवि का। कवि इसकी अभिव्यक्ति के लिए विकल हो उठता है और उसके प्रकाशन की क्षमता रखता है। हम सब कुछ देखते-सुनते और समझते-बुझते भी हैं; किन्तु मूक हैं, हममें उसकी-सी प्रकाशन क्षमता नहीं है।

हम भी शब्द और अर्थ जानते हैं; किन्तु हम उनका विन्यास वैसा नहीं कर सकते जैसा कि कवि। वह अपने शब्दार्थ विन्यास से अपना अनुभव औरों को वैसा ही करा कर मुग्ध कर देता है; जैसा कि वह स्वयं अनुभव करता है। कहा है कि जिन शब्दों को हम प्रतिदिन बोलते हैं, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते हैं उन्हीं शब्दों और अर्थों का विशिष्ट भावभंगी से विन्यास करके कवि संसार को मोह लेता है

जनसमाज का प्रतिनिधि कवि

कवि की अभिव्यक्ति से, कवि के समय का समाज सामने आ जाता है और समाज की गतिविधि का चित्र खिंच जाता है; क्योंकि कवि जिस समाज में रहता है उसी के वायुमण्डल में श्वासप्रश्वास लेता है। उसके प्रभाव से उसके विचार अछूते नहीं रह सकते। वह उससे विमुख नहीं हो सकता। सामाजिक भाव उसकी वाणी में अनायास फूट पड़ता है।

कवि केवल अपने लिये ही कविता नहीं करता वरन् दूसरे के लिए भी करता है। जन समाज की रुचि, प्रवृत्ति, चिन्तानुभूति, सुख-दुख, आशा-आकांक्षा का सामञ्जस्य अपनी रचना के साथ करता है। इसीसे किसी देश, युग या समाज की मनोवृत्ति को अवगत करने में उस देश, युग या समाज का काव्य सहायक होता है। कवीन्द्र का कथन है कि "हमारी रचना वक्ता और श्रोता के सहयोग से ही प्रस्तुत होती है। इसीसे काव्य साहित्य का लेखक जिसके लिए लिखता है 'उसकी प्रकृति में अज्ञात भाव से भी अपनी

भावप्रकाशक कवि

हम जो कुछ जड़चेतनात्मक प्राकृतिक पदार्थ देखते हैं और जिन नर-नारियोंके बीच रहते हैं उनसे हमारा एक आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित है। हमलोगों में एक प्रकार का आदान-प्रदान और विचार विनिमय होता रहता है। यह सर्वसाधारण को उतना स्पन्दित नहीं करता जितना कवि का। कवि इसकी अभिव्यक्ति के लिए विकल हो उठता है और उसके प्रकाशन की क्षमता रखता है। हम सब कुछ देखते-सुनते और समझते-बुझते भी हैं; किन्तु मूक हैं, हममें उसकी-सी प्रकाशन क्षमता नहीं है।

हम भी शब्द और अर्थ जानते हैं; किन्तु हम उनका विन्यास वैसा नहीं कर सकते जैसा कि कवि। वह अपने शब्दार्थ विन्यास से अपना अनुभव औरों को वैसा ही करा कर मुग्ध कर देता है; जैसा कि वह स्वयं अनुभव करता है। कहा है कि जिन शब्दों को हम प्रतिदिन बोलते हैं, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते हैं उन्हीं शब्दों और अर्थों का विशिष्ट भावभंगी से विन्यास करके कवि संसार को मोह लेता है

जनसमाज का प्रतिनिधि कवि

कवि की अभिव्यक्ति से, कवि के समय का समाज सामने आ जाता है और समाज की गतिविधि का चित्र खिंच जाता है; क्योंकि कवि जिस समाज में रहता है उसी के वायुमण्डल में श्वासप्रश्वास लेता है। उसके प्रभाव से उसके विचार अछूते नहीं रह सकते। वह उससे विमुख नहीं हो सकता। सामाजिक भाव उसकी वाणी में अनायास फूट पड़ता है।

कवि केवल अपने लिये ही कविता नहीं करता वरन् दूसरे के लिए भी करता है। जन समाज की रुचि, प्रवृत्ति, चिन्तानुभूति, सुख-दुख, आशा-आकांक्षा का सामञ्जस्य अपनी रचना के साथ करता है। इसीसे किसी देश, युग या समाज की मनोवृत्ति को अवगत करने में उस देश, युग या समाज का काव्य सहायक होता है। कवीन्द्र का कथन है कि "हमारी रचना वक्ता और श्रोता के सहयोग से ही प्रस्तुत होती है। इसीसे काव्य साहित्य का लेखक जिसके लिए लिखता है 'उसकी प्रकृति से अज्ञात भाव से भी अपनी

मनोवृत्ति को मिला लेता है। ऐसा साहित्य लेखक का ही परिचय नहीं देता, जिसके लिए लिखा गया है उसका भी परिचय उससे प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, वह अपना परिपार्श्विक परिचय भी करा देता है।"

इस सम्बन्ध में उनकी एक सुन्दर कविता का यह भाव है[1] कि गान एकाकी गायक का ही नहीं, दोनों का है। एक मन-ही-मन गाता है और दूसरा ऊँचे गले से गाता है। जब नदी की लहरें कूलों से टकराती हैं तभी कलरव होता है और वन में वायु जब थरथराती हुई वहती है तभी मर्मर रव उठता है।

प्रेमचन्द का भी कहना है कि साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।

कविचित्रित समाज का नव-नव चित्र

प्रारम्भ में विश्वविधाता कवि कहलाये और मन्त्र प्रणेता ऋषि भी। नीतिकार भी कवि हुए और फिर व्यास तथा वाल्मीकि भी कवि बने। इन्होंने परिवर्तनशील समाज की परिस्थिति तथा प्रवृत्ति से प्रभावित होकर ज्ञानात्मक, नीतिमूलक, धार्मिक तथा उपदेशात्मक रचनायें कीं और तदनुसार ज्ञानी, धार्मिक उपदेशक आदि आख्यायें प्राप्त कीं। यद्यपि व्यास वाल्मीकि तक उनकी रचनाओं में राजनीति धर्मनीति, समाजनीति आदि की झलक पायी जाती है तथापि इनमें धर्मनीति ही विशेष रूप से प्रतिपादित की गयी है और लक्ष्य रखा गया है कि 'यतो धर्मस्ततो जयः'। यह बात आर्य साहित्य की प्रकृति की आलोचना से किसी को अविदित न रहेगी। इस समय वर्णना प्रवण कवि की ही प्रधानता रही; यद्यपि रामायण में कला का रूप विकसित नहीं प्रतीत होता।

---

१ एकाकी गायकेर नहेत गान गाहते हवे दुई जने।
गाहवे एक जन छाड़िया गला आर एकजन गावेमने।
तहेर बुके लागे जलेर ढेऊ त वेत कलतान उठे।
बातासे वनसभा शिहरि काँपे त वेत मर्मर फुटे।

कलाकार कवि

मध्ययुग के काव्य काल में कवि शब्दार्थ सौन्दर्योपासक, कलाकार, आदर्श चरित्र-चित्रणकार के रूप में आये। महाकवि कालिदास ने शब्दार्थ में व्युत्पत्तिलाभ के लिए जगत् के माता-पिता की वंदनाकर शब्दार्थ की प्रधानता प्रतिपादित की।[1] उनकी महत्ता को स्वीकार किया और उनके सौंदर्य को लक्ष्य में रखा। भवभूति ने अमृत-स्वरूपिणी वाणी को, प्रधानतः कविता को और साधारणतः साहित्य को आत्मा की कला कहकर कविता के आधुनिक रूप का निर्देश किया।[2]

हमारे कवियों ने अपने काव्य-नाटकों में अपनी नवनवोन्मेष शालिनी कुशाग्र बुद्धि का जो वैभव दिखलाया, जो आदर्श चरित्र चित्रित किया, जो सूक्ष्म प्रकृति का पर्यवेक्षण किया, जो अलौकिक, काव्यकला की कल्पनात्मक मोहनीमूर्ति दिखायी और जो रस का स्रोत बहाया उसकी तुलना नहीं हो सकती। शकुन्तला, उत्तर रामचरित्र आदि के पढ़ने और मनन करनेवाले सहृदयों से छिपा नहीं है। इसका कारण क्या है? यही कि ये रचनायें अन्तर्जगत् की अर्थात् भावजगत् की है। इसमें सूक्ष्म अनुभूति के अविनश्वर भाव भण्डार भरे हुए है। ये भाव वस्तु जगत् के परे हैं। इनमें यत्रतत्र तादात्म्य की भी झलक मिल जाती है। ऐसे काव्य साहित्य का ऐश्वर्य व्यक्ति विशेष का नहीं, विश्व-मानव का होता है, रवीन्द्र के शब्दों में 'सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती महा कवियों का आश्रय लेती है। ये जो रचना करते हैं वह व्यक्ति-विशेष की मालूम नहीं होती।' कहने का अभिप्राय यह कि उनकी उक्तियाँ देश मात्र और जाति मात्र की मालूम होती है।

प्रकृति उपासक कवि

कवि प्रकृति का उपासक है। वह प्रकृति के अन्तरंग में पैठकर अपनी मधुर कोमलकान्त पदावली में उसका रहस्य संसार के

---

१ वागर्थाविवसंपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।

२ वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्।

सामने खोलकर रख देता है वह उसके वास्तव सौन्दर्य को ऐसा सुप्रकासित कर देता है कि देख सुनकर सहृदय मात्र मुग्ध हो जाते हैं। वे उसके सौन्दर्य का आनन्द ही नहीं लूटते; बल्कि उसमें जीवन की ग्रन्थियों के सुलझाने के तत्त्व तक पा लेते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि अबतक हमने क्यों न इन्हें देख-सुन पाया—जाना-पहचाना। इस सम्बन्ध में बख्शीजी ह्विटमैन की उक्ति को यों प्रकट करते हैं—'कवियों के लिए कोई विषय छोटा नहीं है। जिसे साधारण जन क्षुद्र समझते हैं वह भी कवि के हाथों में पड़कर महान् हो जाता है। कवि उसमें नया जीवन डाल देता है। कवि द्रष्टा है जिसमें और दूसरे लोगों में इतना ही भेद है कि वह देखता है, दूसरे दूखते नहीं और जब देखते हैं तब कवि की दृष्टि से ही देखते हैं।'

कवि जब प्रकृति के सौन्दर्य-माधुर्य में अपने को विलीन कर देता है तब वह गंगा के स्वच्छ वक्षस्थल पर इठलाती हुई शारदी ज्योत्स्ना में, पत्तों की मर्मर ध्वनि में, जलधि के जलदगम्भीर गर्जन में मणिमुक्तोपम जलविन्दुओं से मण्डित लोललहरियों के अविरल लास्यहास्य में, वेला भूमि के असंख्य वालुकण में कलाकिसलयकलित ललित लताओं में, तारकखचित नील नभोमण्डल के प्रशस्त प्रांगण में, सरस सुगन्ध से सनी सायाह्न वायु में, सजीवता का अनुभव करता है। इसीसे वह कुसुमों को मुस्कुराता देखता है। मेघ को दूत बनाकर प्रिया के पास संवाद भेजता है। वियोग वेदना व्यग्र पशु-पक्षियों का खाना-पीना और नाचना गाना भी भुलवा देता है। तरु-लता के जीर्ण पत्रपात के रूप में उनकी अन्तर्वेदना को व्यक्त करता है। सहकाराश्रयिणी सहोदर-सी लता से स्नेहालिंगन कराता है। कहना नहीं होगा कि कवि जड़ को चेतन और मूक को वाचाल बना कर उनकी मर्मवाणी का संवेदनशील संसार को अनुभव कराता है। कवि यह सब कुछ अपने अन्तर्हृदय की अनुभूति के बल पर करता है। प्रकृति उपासक कवि के संबंध में रामकुमार वर्मा की यह कैसी सुन्दर वाणी है—

देखता है जो क्षण-क्षण में संसार का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं; दृश्य और अदृश्य उसे अपने संगीत से ओत-प्रोत कर देते हैं।"

प्रकृति उपासक प्राकृतिक कवि पंत की कैसी मर्मस्पर्शिनी यह सूक्ति है—

झर पड़ता जीवन डाली से, मैं पतझड़ का सा जीर्ण पात।
केवल, केवल, जग कानन में, लाने फिर से मधु का प्रभात।

कवि मननशील मानव है

कवि की मननशीलता मुख्य है। इसे भावुकता का भी नाम दिया जा सकता है। निरीक्षण इसका मूल है और परिणाम हैं अनुभूति। कवि कल्पना की उड़ान में जब अपनी सुन्दर सृष्टि की रचना करता है तब मननशील हो जाता है और सत्य को सुन्दर बनाकर प्रकट करने की चेष्टा करता है। इसमें उसका अनुभव भी सम्मिलित रहता है।

कवि कल्पनाप्रिय होता है, कवि चिन्ताशील होता है, कवि अनुभूतिशील होता है। ये पृथक्-पृथक् क्रमशः अपनी-अपनी कोटि में एक दूसरे से श्रेष्ठ होते हैं। जिस कवि में कल्पनाप्रियता, चिन्ताशीलता तथा अनुभूतिशीलता, तीनों वर्तमान रहती हैं वह सर्वश्रेष्ठ कवि होता है।

कवि में संवेदनशीलता होती है। यह अनुभूतिजन्य ही है। विशेषतः वेदनानुभूति कवि के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न करती है जो संवेदनशील कवि के लिए सहज और स्वाभाविक है; क्योंकि संसार दुःखमय है। जीवन दुःखमय है। एक का दुःख दूसरे से देखा नहीं जाता। हृदय पिघल पड़ता है। सहृदयों के लिए तो यह और असह्य है। इसी कारण काव्य-कला में करुणरस की प्रधानता[1] है। यही सब रसों में व्याप्त है। ऐसा होने ही से तो काममोहित क्रौंच के वध से कवि वाल्मीकि की हृत्तन्त्री के सब तार झनझना उठे। करुणा-कातर होकर कवि ने लोकोत्तर काव्य रचना करके सौन्दर्य की वह सृष्टि की जिसकी तुलना हो नहीं सकती। इसी प्रकार विश्व की

---

१ एको रसः करुण एवं निमित्तभेदात्।

वेदना से प्रकृत कवि के हृदय में जिन स्वर्गीय भावों का उद्रेक होता है वे ही काव्य के रूप में उनके मुँह से निकल पड़ते हैं। इसी प्रसंग में पंत का यह पद्य कितना सुन्दर, कितना भावमय मालूम होता है—

> वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान
> उमड़कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान ॥

कवि साधारण मनुष्य नहीं होता

कवि शब्दों का चित्रकार होता है। कवि सौन्दर्योपासक होता है। कवि सत्य का साधक होता है। कवि मूक प्रकृति के मर्म का व्यंजक होता है। कवि मानवता का निदर्शक होता है। कवि 'शिव' का सर्जक होता है। कवि सृष्टि के रहस्योद्घाटन में सक्षम होता है। कवि जीवन के पथ का प्रदर्शक होता है। कवि मानवी भावना का विकाशक होता है। कवि अलौकिक सृष्टि का निर्माता होता है। कवि जाति में जीवन का संचारक होता है। कवि कल्पना के साम्राज्य में विचरण करनेवाला स्वतंत्र प्राणी होता है। कवि हमारी मनोवृत्तियों को व्यक्त करने का एक मात्र समर्थ साधन होता है। कवि सुवर्ण रूपी सुवर्ण और अर्थ रूपी अर्थ का आगार होता है। कवि भावचित्रों का चित्राधार होता है। कवि स्वच्छन्द, निर्द्वन्द्व और निर्बन्ध होता है। कवि अपनी वाणी में रस और चमत्कार रखता है। इसीसे कवि क्या-क्या नहीं होता !

द्विवेदी जी कहते हैं—

"सत्कवियों की वाणी में अपूर्व शक्ति होती है। वही श्रोताओं और पाठकों को अभिलषित दिशाओं की ओर खींचती और उद्दिष्ट विकारों को उन्मज्जित करती है। असर पैदा करना—प्रभाव जमाना उसीका काम है। सत्कवि अपनी कविता के प्रभाव से रोते हुए को हँसा सकता है। हँसते हुए को रुला सकता है। भीरुओं को युद्ध वीर बना सकता है, वीरों को भयाकुल और त्रस्त कर सकता है, पाषाण हृदयों के भी मानस में दया का संचार कर सकता है। वह सांसारिक घटनाओं का इतना सजीव चित्र खड़ा कर देता है कि देखने वाले चेष्टा करने पर भी उसके ऊपर से आँख नहीं उठा सकते। जब वह श्रोताओं को किसी विशेष विकार में मग्न करता या किसी

विशेष दशा में लाना चाहता है तब वह कुछ ऐसे भावों का उन्मेष करता है कि श्रोता मुग्ध हो जाते हैं और विवश से होकर कवि के प्रयत्न को बिना विलंब सफल करने लगते हैं। यदि वह उनसे कुछ कराना चाहता है तो कराकर ही छोड़ता है। सत्कवि के लिए ये बातें सर्वथा संभव हैं।"

छठी किरण

कवि सम्प्रदाय

कवि सम्प्रदाय तीन[1] प्रकार का होता है। १ असतोऽपि निबन्ध अर्थात् जो वस्तुतः नहीं है उसका वर्णन करना २ सतोऽप्यनिबन्ध अर्थात् जो यथार्थतः है उसका न वर्णन करना। ३ नियमतः निबन्ध अर्थात् नियम पूर्वक पूर्व काल से चला आता है उसका वर्णन करना।

१ असत् का निबन्ध

जहाँ-तहाँ पहाड़ों में रत्नों का, थोड़े जल में भी हंस आदि पक्षियों का, स्वर्गंगा में जल, हाथी आदि का, नदियों में भी कमल आदि का, अन्धकार का सूचि भेद्य और मुष्टिमेय होने का, सुयश और पुण्य को स्वच्छ होने का, अयश और पाप को कृष्ण होने का, प्रताप में तेजस्विता और रक्तिम होने का, क्रोध तथा राग को लाल होने का, चकोर के चन्द्रिका पान का, कामिनी के कुल्ला से बकुल के फूलने का, स्त्री के पदाघात से अशोक के कुसुमित होने का, सब जल में सेवार होने का, सब पौधों में लाल पत्ते लगने का, सब स्त्रियों की रोमावलि और त्रिवली का, रात में चकवा चकई के वियोग होने का वर्णन, असत् होने पर भी कविगण करते हैं। इनमें पहाड़ों में रत्नों का होना आदि जातिगत, क्रोध का लाल होना आदि गुणगत, अन्धकार का सूचिभेद्य होना आदि द्रव्यगत और चकोर का चन्द्रिका आदि क्रियागत वर्णन है।

---

१ असतोऽपि निबन्धेन सतामप्यनिबन्धनात्।
नियमस्य पुरस्कारात् सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः। —अलंकार शेखर

२ सत् का अनिबन्ध

जातिगत—वसन्त में मालती का, चन्दन में फूल-फल का, अशोक में फूल का ; द्रव्यगत—कृष्णपक्ष में चाँदनी होने पर भी चाँदनी का, शुक्लपक्ष में अँधेरा रहने पर भी अन्धकार का ; गुणगत—कुन्दमुकुलों, कलिदलों के अरुण होने का, कामिनियों के दाँतों की श्यामता का ; क्रियागत—दिन में नील कमलों के विकास का, रात में शेफालिका के फूलों के झरने का वर्णन सत् होने पर भी कवि इनका वर्णन नहीं करते ।

३ नियमतः निबन्ध

जाति के नियम—समुद्र में ही मकर होते हैं । द्रव्य के नियम—मलय में ही चन्दन और हिमाचल में ही भोजपत्र होते हैं । गुण के नियम—सामान्यतः रत्न लाल, मेघ कृष्ण और सुमन उज्वल ही होते हैं । क्रिया के नियम—वसन्त में ही कोकिल कूकती है और वर्षा में ही मयूर नृत्य करते हैं । ऐसा ही वर्णन कवि नियम विहित है ।

पन्त जी के रंगों की एकता और विचित्र है—

रुपहले सुनहले आम्र बौर नीले पीले और ताम्र भौंर ।
विद्रुम और मरकत की छाया सोने चाँदी का सूर्यातप ।

प्राचीन कवि कृष्ण-नील, कृष्णश्याम, शुक्लगौर, चन्द्रमा में शशमृग, कामदेव की ध्वजा में मकर-मत्स्य, द्वादश सूर्य, कमला-सम्पति नाग-सर्प, दैत्य-दानव-असुर में अभिन्नता ही मानते हैं ।

नियम से कवि समय ख्याति का भी बोध होता है । इनकी भी कवि समय ख्याति है । जैसे, हेमन्त और शिशिर को छोड़कर सदा कमल का रहना, शिव के मस्तक के चन्द्रमा सदा बाल चन्द्र बना रहना । कुल वधू का सलज्जा और गणिका को निलज्ज होना, शृंगार का सोलह ही होना, महापुरुष का वृषभ सिंह समान होना, उसके स्कन्धवृषभ सदृश, स्वर मेघसम, भुज भुजंग समान और उर शिला तुल्य होना, संसार का तीन, सात और चौदह तथा दिशाओं का चार आठ और चौदह होना आदि । किस विषय का कैसा

वर्णन होना चाहिए। कवि परिपाटी में इसका विस्तृत वर्णन प्राचीन कवियों ने अपने ग्रन्थों में किया है।

तुम यहाँ थे हाय! सोदरवर्य और यह होता रहा आश्चर्य।
ये तुम्हारे भुजभुजंग विशाल क्या यहाँ मीलित हुए उस काल!

—गुप्तजी

कवि सम्प्रदाय एक सिद्धान्त पर कायम हुआ है। कवि हृदय इन बातों में सौन्दर्य बोध करता है। नवीन कवि भी इसका अनुसरण करते हैं पर कुछ इसकी उपेक्षा करते हैं। कुछ कलाकारों की प्रवृति नवीन सम्प्रदाय स्थापित की ओर देखी जाती है। पर सबके लिये यह सम्भव नहीं। किसी बात को सर्वसाधारण रूप प्राप्त होना समय सापेक्ष है।

सातवीं किरण

कवियों की मति-गति

जिस कवि का स्वभाव बँध जाता है वह उसका आदी हो जाता है। वह उसमें विशेष आनन्द प्राप्त करता है। बिहारी शृंगार रस के कवि हैं। उनका वीर रस भी शृंगार में सराबोर हो जाता है।

पहुँचति डटि रन सुभट लौं रोकि सकै सब नाहिं।
लाखन हू की भीर में आँखि उहीं चलि जाँहि।

भूषण वीर रस के कवि हैं। उनमें क्षत्रियत्व बोलता है। इससे वे क्षत्रिय जाति के कवि हैं। उनकी शृंगार रस की कविता में भी वीर रस का ओज है।

मेचक कवच साजि, वाहन बयारि वाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के।
भूषन भनत समसेर सोई दामिनी है
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के॥
पैदरि बलाका धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहुँओर सूने ही सदन के।
न करु निरादर पिया सों मिलु सादर,
ये आये वीर बादर बहादुर मदन के॥

निराला जी क्रान्तिकारी कवि हैं। उनकी सारी कृति क्रान्ति की निदर्शिका है। सदा इनका ढंग निराला ही रहा। श्री मती वर्मा की कवि-कृति आद्यन्त छाया-रहस्य-वेदना को लेकर एकाङ्गी बनी रही। उनका कवि गद्य में भी आकुल-व्याकुल होता रहा। गुप्तजी की सारी कृति पर प्राचीन संस्कृति की अमिट छाप है। उपाध्याय जी की बहुमुखी कविप्रतिभा अपने प्रकाश का रंग बदलती रही। उनके चौपदे भाषा भाव की दृष्टि से उन्हीं की विशिष्ट मतिगति का निर्देश करते हैं। दूसरा कोई लिख न सका। प्रसाद की प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका और निबन्ध, सभी में उनकी विमल मति सफलतापूर्वक अपनी झलक दिखाती रही। 'वियोगी' ने इन विषयों के अतिरिक्त रेखाचित्र आदि में भी कलम का कौशल दिखाया। इस प्रकार कवि की मतिगति का अन्त नहीं है।

कवि मति की विशेषता तीन प्रकार से लक्षित होती है। १ सत्य को यथार्थ रूप में वर्णन करना।

सुख में सुमिरन सब करे दुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे दुख काहे को होय। —प्राचीन

यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्व कर्म रङ्ग स्थल हैं।
है परम्परा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है। —प्रसाद

इसमें विश्व का सत्य और गम्भीर विवेचन है। २ असत्य में चमत्कार पैदा करके सत्य प्रतीत करना।

गज रज डारत सीस पर रहिमन कहु केहि काज।
जिहि रज रिखि पतनी तरी सो ढूँढ़त गजराज।

× × ×

कब से विलोकती उसको ऊषा आ वातायन से।
सन्ध्या उदास फिर जाती सूने नभ के आँगन से।

बातें असत्य हैं पर चमत्कार से कवि की प्रौढ़ मूर्ति विधायिनी कल्पना से सत्य-सी प्रतीत होती है।

३ कवि परिपाटी के अनुसार वर्णन करना।

एक भी आँगन नहीं ऐसा यहाँ शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ।
कौन है ऐसा अभागा गृह कहो साथ जिसके अश्वगोशाला न हो।

—गुप्तजी

कोई दोष ही दोष ढूँढ़ता है और कोई गुण-ग्रहण-पूर्वक दोष-त्यागी भावक होता है।[1]

महाकवि भवभूति के नाटकों का, शताब्दियाँ बीत जाने पर भी जो आज समादर है वह या उसका कुछ अंश उन्हें उस समय प्राप्त नहीं था जब कि उनकी रचना हुई थी। इसीसे वे दुःखित होकर कहते हैं काल का—समय का अन्त नहीं और पृथ्वी भी बड़ी है। किसी न किसी समय और कहीं न कहीं मुझ-जैसा कोई उत्पन्न होगा जो मेरी कृति को समझेगा और उसका गुण गावेगा; मुझ जैसा ही आनन्द उठावेगा।[2]

मूल में समानधर्मा जो विशेषण है वह ध्यान देने योग्य है। इस से यह व्यक्त होता है कि कवि और भावक का एक ही धर्म है। कवि अपनी कविता के मर्मज्ञ होने के कारण ही मर्मज्ञ भावक की आशा करता है। इस दशा में यह कहा जा सकता है कि कवि भावक है और भावक कवि। कवि केवल कविता करने के कारण ही कवि कहलाने का अधिकारी नहीं है; किन्तु कविता के तत्त्व को अधिगत करने के कारण भी। इसीसे इनमें भेद नहीं है।

टेनिसन भी यही कहता है कि कवि को दुःख मत दो, तंग न करो; क्योंकि तुम इस योग्य नहीं कि उसकी कविता को समझ सको, उसके मन की थाह पा सको।[3]

एक कवि की सूक्ति का आशय है कि हे ब्रह्मा, अन्य पापों की बातें जितनी चाहो लिखो, पर अरसिक को कविता सुनाने की बात

---

१ वाग्भावको भवेत्कश्चित् कश्चिद् हृदयभावकः।
सात्त्विकैराङ्गिकैः केश्चित् अनुभावैश्च भावकः॥
गुणादानपरः कश्चित् दोषादानपरोऽपरः।
गुणदोषाहृतित्यागपरः कश्चन भावकः॥ काव्यमीमांसा

२ उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी। मा० माधव

3 Vex not thou the poet's mind
With thy shallow wit
Vex not thou the poet's mind
For thou canst not fathom it.

नहीं लिखो, नहीं लिखो, नहीं लिखो[1]। इससे भी कवि के भावक होने की बात व्यक्त होती है। वह अपनी कविता की सरसता को समझता है तभी अरसिकों को कविता सुनाने से दूर रहने की माँग करता है।

यह एक पक्ष की बात है। दूसरा पक्ष कहता है कि कवि यदि भावक होता तो राजशेखर यह बात कैसे कहते कि भावक कवि का मित्र, स्वामी, मन्त्री शिष्य, आचार्य और ऐसे ही क्या-क्या न[2] है!

जब भावक जनसमाज में कवि का गुण गाता है उसका यशो-विस्तार करता है तब वह उसका मित्र है। दोषापवाद से बचाने के कारण भावक कवि का स्वामी कहा जाता है। जब भावक कवि को अपनी भावना द्वारा मन्त्रणा देता है तब उसका मन्त्री होता है। जब भावक जिज्ञासु-भाव से कवि-रचना में पैठता है तब वह शिष्य और जब देख-सुनकर उपदेश देता है तब उसका आचार्य बन जाता है। इस प्रकार कवि भावक से एक बारगी ही अलग हो जाता है।

एक कवि का कथन है कि बिना साहित्यज्ञों के—रस, अलंकार आदि के पारखियों के कवियों के सुयश का विकास कभी संभव नहीं[3] है। इस प्रकार भावक कविं का उन्नायक है।

तुलसीदासजी कहते हैं—

मणिमाणिक मुक्ता छवि जैसी, अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी।
नृप किरीट तरुणी तन पाई, लहहि सकल सोभा अधिकाई॥
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजत अनत अनत छवि लहहीं।

इनसे कवि और भावक की भिन्नता का सिद्धांत परिपुष्ट होता है। कवि अकबर की यह सूक्ति भी कवि और भावक को भि[illegible] बताती है—

वूचर ने स्पष्ट लिखा है—'काव्यानन्द के सम्बन्ध में आरिस्टाटिल का मत है कि वह स्रष्टा वा कवि का नहीं बल्कि द्रष्टा का है जो रचना मर्म को समझता है।''

जो साहित्यिक और समालोचक भी हैं उनकी समालोचना में एक विशेषता देखी जाती है। उनकी जैसी साहित्य-सृष्टि होती है वैसी ही उनकी समालोचना भी। तुलनात्मक दृष्टि से इनकी कृति की समालोचना करने पर यह बात अविदित न रहेगी। कारण यह है कि कवि-प्रतिभा से विचार-बुद्धि नियन्त्रित हो जाती है जो अपने वैभव को प्रकाश नहीं कर पाती। कवि में कल्पना की प्रधानता रहती है और विचारक में बुद्धि की। जो कवि अपनी प्रतिभा से, संस्कार से, विवश हो जाता है वह निरपेक्ष नहीं रह सकता। समालोचक को सब प्रकार से निरपेक्ष और स्ववश होना चाहिये। कल्पनाप्रिय कवि के लिए यह असंभव है। यह विषय तर्क-वितर्क से शून्य नहीं कहा जा सकता। रवीन्द्रनाथ की ऐसा अधिकांश समालोचनायें हैं जो उनकी साहित्यसृष्टि के अनुरूप ही हैं। उनमें उसीका स्वरूप प्रकाशित होता है। उनकी साहित्य-सृष्टि और समालोचना में एक प्रकार का अन्योन्याश्रय-सा है। यह उनके साहित्य के अध्ययन में सहायक है।

यह प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि कवि भावक नहीं हो सकता। 'काव्यालोक' (द्वितीय खण्ड) के उदाहरणों में कुछ पद्यों की ऐसी व्याख्या की गयी है कि उनके कवियों ने स्वयं लेखक से कहा है कि हमने तो कभी सोचा भी न था कि इनकी ऐसी व्याख्या की जा सकती है; इनकी इतनी बारीकियाँ निकली जा सकती हैं; इनका ऐसा तथ्योद्घाटन किया जा सकता है। जो यह कहते हैं कि रचनाकाल में कलाकार, विशेषत: कवि अपनी रचना का आनन्द लेता रहता है, उर्दू के शायरों में अधिकतर यह बात देखी जाती है, वह बात दूसरी है। भावक का काम केवल आनन्द ही लेना नहीं है। वह कलात्मक ज्ञान के साथ विश्लेषण बुद्धि भी रखता है। वह मित्र, मन्त्री आदि होने का भी दावा रखता है।

कवि का चित्त यदि अपनी सृष्टि में सर्वतोभावेन स्वयं ही लीन हो जाय तो उसकी सृष्टि-शक्ति दुर्बल हो जाती है। वह शक्तिशाली होने पर भी सामर्थ्योचित साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। भावक जैसे भाव आदि का विश्लेषण करके काव्य समझने की चेष्टा करता है वैसा कवि नहीं करता। वह इन विषयों में सचेत रहता है पर समीक्षक नहीं बन जाता। कवि का काम है रस को भोग्य बनाना न कि उसका स्वयं चर्वण करने लग जाना। वह पहले स्रष्टा है, पीछे भले ही भोक्ता हो स्रष्टा समालोचक नहीं होता।

निष्कर्ष यह कि सर्जन—सृष्टि करना और आलोचन—विचार करना दोनों दो शक्तियों के काम हैं, विभिन्न मानसिक क्रियायें हैं। यह सत्य है, भ्रामक नहीं। श्रेष्ठ साहित्य के स्रष्टा की विचार-शक्ति न्यून होती है और जो श्रेष्ठ समालोचक हैं वे प्रायः श्रेष्ठ स्रष्टा नहीं होते।

इस समस्या का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि यदि कलाकार में रसिकता—भावकता भी हो तो वह कलाकार और भावक, दोनों हो सकता है। 'कविर्हि सामाजिकतुल्य एव'। पर ये दो प्रकार की प्रतिभाएँ हैं—गुण हैं, इसमें सन्देह नहीं। टी० एस० इलियट का कहना है कि कलाकार जितना ही परिपूर्ण—कुशल होगा उतना ही उसके भीतर के भोक्ता मानव और सर्जक मस्तिष्क की पृथकता परिस्फुट होगी।[1] यही बात क्रोचे भी कहते हैं—'जब दूसरों को और अपने को एक ही विशुद्ध काव्यानन्द की उपलब्धि हो'[2] तभी सामाजिकगत तथा रसिकगत रस की बात कही जा सकती है।

---

1 The more perfect the artist, the more completely separate in him will be the man who suffers and the mind which creates.

2 ... bestowing pure poetic joy either upon others or upon himself.

नवीं किरण

कवि, कविता और रसिक

कवि और कविता की एक साधारण-सी परिभाषा है जिनमें दोनों की स्पष्ट झलक पायी जाती है। यद्यपि बुद्धि और प्रज्ञा एकार्थवाची हैं तथापि बुद्धि से प्रज्ञा का स्थान ऊँचा है। यह उसकी साधनिका से प्रकट है। अभिनव गुप्त कहते हैं कि 'अपूर्व वस्तु के निर्माण में जो समर्थ है वह है प्रज्ञा'[1]। 'जब वह प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी अर्थात टटकी-टटकी सूझवाली होती है तब उसको प्रतिभा कहते हैं। उसी प्रतिभा के बल से सजीव वर्णन करने में जो निपुण होता है वही कवि है और उसीका कर्म, कृति वा रचना कविता है'[2]। कवि और कविता के इस लक्षण में किसी को कोई विचिकित्सा नहीं होगी।

हम जो कुछ जड़चेतनात्मक प्राकृतिक पदार्थ देखते हैं और जिन प्राणियों के बीच रहते हैं उनसे एक हमारा आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित है। हम लोगों में एक प्रकार का आदान-प्रदान होता रहता है। यह सर्वसाधारण को उतना स्पन्दित नहीं करता जितना कवि को। कवि उसकी अभिव्यक्ति के लिए आतुर हो उठता है; क्योंकि वह उसके प्रकाशन की क्षमता रखता है। हम सब कुछ देखते-सुनते और समझते-बूझते भी मूक हैं, उसकी सी प्रकाशन-क्षमता हम में नहीं है।

कवि केवल अपने ही लिये कविता नहीं करता; बल्कि दूसरों के लिए भी करता है। उसका उद्देश्य होता है कि जैसी मुझे अनुभूति होती है वैसी ही अनुभूति पाठकों को भी हो, उसके चित में रस-संचार हो। इसके लिये कवि शब्द और अर्थ—वाचक और वाच्य का आश्रय लेता है। क्योंकि इसके बिना उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। वह सीधे अपनी अनुभूति को पाठकों के हृदय में पैठा नहीं सकता। पाठकों या रसिकों के मन के भावों को रस का रूप देने के

---

१ अपूर्व-वस्तु-निर्माण-क्षमा प्रज्ञा। ध्वन्यालोक.

२ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्।

लिए उसको काव्य की सृष्टि करनी पड़ती है; अपनी भावना को सुन्दर बनाना पड़ता है।

हम भी शब्द और अर्थ जानते हैं; किन्तु हम उनका विन्यास वैसा नहीं कर सकते जैसा कि कवि। वह अपने शब्द और अर्थ के विन्यास से अपना अनुभव औरों को वैसा ही कराकर मुग्ध कर देता है जैसा कि वह स्वयं अनुभव करता है। कहा है "जिन शब्दों को हम प्रतिदिन बोलते हैं, जिन अर्थों का हम उल्लेख करते हैं उन्हीं शब्दों और अर्थों का विशिष्ट भावभंगी से विन्यास करके कवि जगत् को मोह लेते हैं[1]।"

कवि का शब्द और अर्थ के विन्यासविशेष से काव्य को जो भव्य बनाना है वही काव्यकौशल है; वही काव्य की नूतनता है; वही कला है। इसीको आप चाहें तो आधुनिक भाषा में प्रेषणीय-पद्धति या अभिव्यञ्जनाकौशल कह सकते हैं। विन्यासविशेष पर ध्यान देनेवाले हमारे प्राचीन कवि कलाकुशल तो थे ही, अभिव्यंजनावादी भी थे। यदि वे ऐसे न होते तो कभी नहीं शब्द और अर्थ के 'विन्यासविशेष' 'प्रथन-कौशल' 'साहित्य-वैचित्र्य'[2] अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्मेलन या सहयोग की विचित्रता की बात मुँह पर नहीं लाते; ऐसे शब्दों के प्रयोग नहीं करते।

कवि अपने वाच्य-वाचक को सालंकार बनाने का कभी प्रयास नहीं करता। वे आप से आप उसमें उद्भूत हो जाते हैं। उनके लिए विशेष कल्पना नहीं करनी पड़ती। वे आप से आप ऐसे आ जाते हैं कि वाच्य-वाचक से उनका कभी विच्छेद नहीं हो सकता। वे उनके अंग ही हो जाते हैं। कहा भी है कि "काव्य की रस वस्तुएँ तथा उनके अलंकार महाकवि के एक ही प्रयत्न से सिद्ध

---

१ यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥—शिवलीलार्णव

२ त एव पदविन्यासाः ता एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात् ॥
निदानं जगतां वन्दे वस्तुनी वाच्यवाचके।
तयोः साहित्यवैचित्र्यात् सन्ति रसविन्दवः ॥ —काव्यमीमांसा

हो जाते हैं"[1] । उनके लिए पृथक् रूप से प्रयत्न नहीं करना पड़ता। ऐसा करने वाले प्राकृत कवि नहीं कहे जा सकते ।

यदि कवि अपने काव्य से पाठकों का मनोरंजन कर सका, उनके मन में रस का संचार कर सका तो कवि अपनी कृति में सफल समझा जा सकता है; किन्तु यह उसके वश के बाहर की बात है। रसोद्रेक में समर्थ भी काव्य अरसिक के मन में रसोद्रेक नहीं कर सकता । जो पाठक या श्रोता कविहृदय के साथ समरस नहीं हो सकता वह काव्य का आस्वाद नहीं ले सकता । अतः रससंचार जितना काव्य पर निर्भर करता है उतना ही पाठकों के मन पर भी निर्भर है ।

सभी पाठकों, श्रोताओं और दर्शकों को जो काव्यानन्द नहीं होता; रसानुभूति नहीं होती उसका कारण यह है कि उस भाव को वासना उनमें नहीं है।[2] वासना है अनुभूति भाव वा ज्ञान का संस्कार। आधुनिक भाषा में इसको रसास्वाद की शक्ति का स्वाभाविक अभाव कह सकते हैं। मिल्टन' के सम्बन्ध में 'मेकाले' की ऐसी ही उक्ति है जिसका यह आशय है कि "पाठक का मन जब तक लेखक के मन से मेल नहीं खाता तब तक आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता"[3] ।

---

१ रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥ —ध्वन्यालोक

२ न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् । —साहित्यदर्पण

3 Milton cannot be comprehended or enjoyed unless the mind of reader co-operates with that of the writer.

चतुर्थ प्रसार

प्राचीन वाद

पहली किरण

पूर्वाभास

आज कल विदेशों में उठनेवाले वादों से जो आधुनिक हिन्दी-कलाकार मुग्ध, अभिभूत या विक्षिप्त हो रहे हैं वे यदि इन प्राचीन वादों पर ध्यान दें तो समझ जायँगे कि ऐसे अनेकों चमत्कारक वाद संस्कृत में उठ चुके हैं। विचारने से यह भी विदित होगा कि इनमें जितना सार है और इनकी भित्ति का आधार जितना दृढ़ है उतना सार उनमें नहीं है। विदेशी वाद तो बस फुलझड़ियाँ छोड़ते हैं। जो आँखों में सिर्फ चकाचौंध पैदा कर देती हैं।

काव्य के भिन्न भिन्न मत वा वाद से सम्प्रदाय (Schools) का अभिप्राय है। काव्य की परिभाषाओं वा लक्षणों तथा उनकी आत्माओं के निरीक्षण वा परीक्षण से स्पष्ट है कि काव्य के मुख्य विषय अलंकार, गुण, रीति, रस, ध्वनि आदि को लेकर आचार्यों में गहरा मतभेद है और उन्होंने एक दूसरे के ऊपर अपनी प्रधानता स्थापित करने की चेष्टा की है। इसी का यह परिणाम है कि काव्य में इतने वादों का अवतार हो चुका है। ये सम्प्रदाय मुख्यतः काव्यात्मा को ही लेकर उठ खड़े हुए हैं। आचार्यों के मतभेद के साथ-साथ काव्यशास्त्र के विकास का इतिहास भी अविदित न रहेगा।

'विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्'[1] अर्थात् किसी प्रकार की विशेषता से युक्त शब्द और अर्थ ही काव्य है। यद्यपि यह सर्ववादि सम्मत है; किन्तु शब्दार्थ की विशिष्टता मानने में मतभेद है। इन मतभेदों को हम तीन विभागों में बाँट सकते हैं। १ धर्म मूलक वैशिष्ट्य,

---

१ राजानक रुय्यक कृत 'अलंकार सर्वस्व' की समुद्र बन्ध टीका का आरंभ

वक्रोक्ति के वे अलंकार मानते ही नहीं और इसी वक्रोक्ति के लिए कवियों को प्रयत्नवान होने का आदेश देते हैं।[१]

इस वक्रोक्ति या उक्ति वैचित्र्य को आचार्य दण्डी अतिशयोक्ति कहते हैं[२] और अलंकारों को शोभाधायक धर्म मानते हैं।[३] आचार्य वामन काव्य को अलंकार सहित होने पर ही ग्राह्य बताते हैं और अलंकार उनके मत से सौन्दर्य है।[४]

अलंकार वादी आचार्य अलंकार को छोड़कर रस, गुण, रीति, ध्वनि आदि में से किसी को प्रधानता नहीं देते। 'रस' को रसवत, प्रेय, ऊर्जस्वि आदि अलंकारों में ले लेते हैं। गुण सौन्दर्य धायक हैं और सौन्दर्य ही अलंकार है। इससे गुणालंकार का प्रायः साम्य है और रीति गुण से पृथक् नहीं। उद्भटकृत काव्यालंकार संग्रह के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि को भी अलंकार में अन्तर्भाव कर लिया है।[५] रुद्रट ने भावालंकार के भीतर ही रस भाव को ले लिया है।[६]

अभिप्राय यह कि आलंकारिक आचार्यों के मत में वाच्यार्थो पर कारक होने से व्यंग्यार्थ अलंकार के अन्तर्गत आ जाता है। वे अलंकार द्वारा ही रसोत्पत्ति भी मानते हैं। गुणों को भी अलंकार से पृथक् नहीं समझते। इनके मत में बस अलंकार ही प्रधान है।

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते
   यत्नोऽस्या कविता कार्यः कोऽलंकारोऽनयाविना। काव्यालंकार

२. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
   वागीशमहितामुक्ति मिमामतिशयाह्वयाम्। काव्यादर्श

३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श

४. काव्यंग्राह्यम लंकारात् सौन्दर्यमलंकारः। काव्यालंकार सूत्र

५. काव्य जीवितभूतः कैश्चित् सहृदयैः ध्वनिरिति व्यंजकत्व भेदात्मा काव्य धर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः उच्यते। एष्वेवालंकारेष्वन्तर्भावात्

६. रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितेषु रसाभावादीनां शोभाहेतुत्वेनोक्तः।

—अलंकार संग्रह

७. तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्

तीसरी किरण

रीतिवाद

रीति वा गुण शब्दार्थ का नित्य धर्म है। इस नित्य धर्ममूलक वैशिष्ट्य को अर्थात् रीति को प्रधानता देनेवाले वामन और उनके अनुयायी आलंकारिक हैं।

रीति की परम्परा बहुत प्राचीन है। दण्डी भी रीति के समर्थक थे पर अलंकार के प्रभाव से मुक्त न थे। वामन ही प्रधानतः रीति के समर्थक या उन्नायक थे। उन्होंने उस समय अपने मत का ऐसा समर्थन किया कि अलंकार मत कुछ फीका पड़ गया।

वामन विशिष्ट पदरचना को रीति[1] कहते हैं। मम्मट ने इस रीति को वृत्ति संज्ञा दी है। रीति या वृत्ति का आधुनिक नाम शैली है। किसी वर्णनीय विषय के स्वरूप को खड़ा करने के लिए उपयुक्त शब्दों का चुनाव और उनकी योजना को शैली कहते हैं। देश विशेष के नाम पर ही रीतियों का नामकरण हुआ है। यह कहा भी है कि विदर्भ, गौड़, पाँचाल देशों के प्रमुख कवियों की प्रचलित रचना प्रणाली पर ही रीतियाँ, वैदर्भी, पाँचाली और गौड़ी कहलायीं[2]। पृथक्-पृथक् नादाभिव्यंजक वर्णों से संघटित शब्दों के चुनाव से जो वस्तुओं का प्रस्तुतानुगुण झंकार की विशेषता आती थी उसीसे उन वृत्तियों के उपनागरिका, कोमला, परुषा ये नाम पड़े।

वामन ने ही शब्दार्थ शरीर में काव्यात्मा की खोज की और उसको रीति[3] कहा और विशिष्ट पदरचना में विशेषता लानेवाले धर्म को गुण। शब्द में जो सौन्दर्य अनुभूत होता है वह इन्हीं गुणों के आदान से और दोष के परित्याग से। इस प्रकार उनके मत से काव्य में गुण और रीति का संयोग अनिवार्य है। सारांश यह कि प्रत्येक रीति गुणविशिष्ट पदरचना पर ही आश्रित है।

वामन ने रीति में ही गुण, दोष, अलंकार, रस, वक्रोक्ति आदि का

---

१. विशिष्ट पद रचना रीतिः। काव्यालङ्कार सूत्र

२. विदर्भ गौड़ पाञ्चालेषु तत्रत्यैः कविभिर्यथा स्वरूपमुपलब्धत्वात् तत्समाख्या। का० सूत्र

३. रीतिरात्मा काव्यस्य। विशेषो गुणात्मा। का० सूत्र

अन्तर्भाव कर दिया है। इनके मत में वक्रोक्ति एक स्वतन्त्र अलंकार है। इसी वक्रोक्ति में अविवक्षित वाच्य ध्वनि (लक्षणा) का समावेश कर दिया है।[1] अलंकार काव्य का अस्थायी धर्म है और गुण स्थायी, नित्य वा अव्यभिचारी धर्म है—एक यही सिद्धान्त ऐसा है जिससे रीतिमत की प्रतिष्ठा है। अन्यथा वामन के इस सम्प्रदाय में कोई विशिष्टता नहीं है। फिर भी ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार के अपने ग्रन्थों में आलोचना करने से इसका महत्त्व बढ़ गया है।

चौथी किरण

औचित्यवाद

क्षेमेन्द्र का औचित्यवाद भी विद्वानों की चर्चा का पात्र है। संक्षेप में इसका मर्म यही है कि जो जिसके योग्य (अनुकूल) हो उसे उचित कहते हैं और उसके भाव को औचित्य।[2] यह औचित्य पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग आदि समस्त काव्याङ्गों में व्याप्त होता हुआ रससिद्ध काव्य का जीवन स्थानीय वस्तु[3] है। इन सब स्थानों में औचित्य के रहने न रहने से जिस प्रकार रस का उत्कर्षापकर्ष होता है, इसको क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार चर्चा' नामक छोटे से निबन्ध में उदाहरण-प्रत्युदाहरणों द्वारा भली भाँति समझाया है। वे औचित्य को चमत्कार कारक और रस का जीवन स्वरूप मानते[4] हैं। यही नहीं, औचित्य से युक्त होने पर ही अलङ्कार आदि भी

---

१ सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः ।

२ उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते । —औचित्य विचार चर्चा

३ औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् । —औ० वि० च०

४ औचित्यस्य चमत्कारकारिणः चारु चर्वणे । —औ० वि० च०
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना । —औ० वि० च०

काव्यशोभा के समर्थक होते हैं, यह सिद्धान्त स्थिर किया[1] है। अतपातत: क्षेमेन्द्र का यह औचित्यवाद साहित्यशास्त्र में कोई गौरव-पूर्ण स्थान नहीं रखता। यही कारण है कि समस्त परिगणितवादों में यही एक ऐसा सम्प्रदाय या मत है जिसका अन्यत्र कोई खण्डन-मण्डन प्राप्त नहीं होता।

ध्वन्यालोक जैसे प्रतिष्ठित सिद्धान्त ग्रन्थ में[2] रचना को रसादि औचित्य से युक्त होना अनिवार्य कहा गया है[3] तथा अनौचित्य को रसाङ्ग का कारण बताते हुए औचित्य को रससिद्धि का सर्वोत्तम उपाय बताया[4] गया है। इसी आशय को लेकर प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' में भी एक स्थान पर प्रबन्ध रचना में सूरियों द्वारा अनौचित्य का परिहार आवश्यक निरूपित किया गया है। इसी भाँति अन्य मुख्य-मुख्य ग्रन्थकारों ने काव्य निर्माण में औचित्य को रसपोषक होना स्वीकार किया है। किन्तु क्षेमेन्द्र का यह प्रयत्न कि औचित्य ही काव्य की आत्मा है, प्राचीन आचार्यों के विरुद्ध होने तथा इसके आधार में प्रौढ़ता न रहने से साहित्य जगत् में किसी विशिष्ट स्थान का अधिकारी नहीं है।

कुछ उदाहरण

उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुणसिखा धुनि कान।
गुरु ते पहले जगतपति जागे राम सुजान॥—तुलसी

रामायण में लिखा है कि राम लक्ष्मण ने गुरु विश्वामित्र के सोने पर चरण चाँप कर उनकी सेवा की थी। फिर राम के सोने पर

---

१ उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृति:।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणा:। —औ० वि० च०

२ देखो 'ध्वन्यालोक' ३ उद्योत, श्लोक ६, ७, ८, ९

३ रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
रचना······ —ध्व० उ० ३

४ अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्य बन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। —ध्व० उ० ३ टीका

५ वाक्यवक्त्र प्रबन्धेषु रसालंकार संकरात्।
निवेशयनयनौचित्यपरीहारेण सूरय:। —भोज

लक्ष्मण उनके चरण दबाकर पीछे सोये। वैसे ही प्रातःकाल लक्ष्मण जी पहले, बाद रामचन्द्र जी और सबसे पीछे गुरु जी जगे। इस वर्णन में जो औचित्य प्रदर्शन है वह दुर्लभ है।

भरतजी के—

सिर भर जाउँ उचित अस मोरा सब ते सेवक धर्म कठोरा।

में जो औचित्य है वह रामचन्द्र जी की इस उक्ति में नहीं है कि

नाथ शंभु धनु भंजन हारा होइहैं कोउ इक दास तुम्हारा।

क्योंकि इस दास में व्यंग्य की बू है।

सन सक्यो बीत्यो बनो ऊखौ लई उखारि।
हरी-हरी अरहर अजौं धर धर हर हिय नारि॥ बिहारी

इसमें सन के सूखने, कपास की बहार बीतने, ऊख के उखड़ने और हरी-हरी अरहरके रहने का क्रम बहुत ठीक है और प्रकृति निरीक्षक कभी ऐसे विषयों में गलती नहीं कर सकता। इसमें कालौचित्य का अच्छी तरह निर्वाह किया गया है। पर

किन चित गोरी जो भयो, ऊख रहरि की नास।
अजहूँ अरी हरी-हरी जहँ तहँ लगी कपास॥ शृंगार सतसई

इसमें अनुचित रूप से वर्णन होने के कारण मजा किरकिरा हो गया है। इसमें खेती का सिलसिला ठीक नहीं। इसमें स्थान विशे का भी इनकी उपज पर प्रभाव पड़ता है। इसलिए औचित्य औ अनौचित्य का विचार स्थान विशेष के अनुसार करना चाहिए।

एक शायर साहब फर्माते हैं—

दरख़्तों की कुछ छाँव और कुछ वो धूप।
वो धानों की सब्ज़ी वो सरसों का रूप॥

यह वर्णन बतलाता है कि एक ओर धानों की हरियाली है और एक ओर सरसों की बहार है। पर धान जब कटने लगता है तब सरसों की बुवाई शुरू होती है। यह भी अनौचित्य है।

आज सुहाग हरूँ मैं किसका लूटूँ किसका यौवन।
किस परदेशी को बंदी कर सफल करूँ यह वेदन॥

इसमें औचित्य का अत्यन्त अभाव है। व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

———

पाँचवीं किरण

अनुमानवाद

इस मत के उपस्थापक हैं राजानक महिमभट्ट और उनका एतद्विषयक ग्रन्थ है 'व्यक्ति विवेक' इनके विचार में व्यञ्जना व्यापार मानने की कोइ आवश्यकता नहीं है। उसके स्थान पर अनुमिति का अनुमान से ही काम लेना चाहिए। इन्होंने व्यञ्जना व्यापार को अनेक प्रकार के दोषों से दूषित बतलाया है और उसके सभी भेदों को अनुमिति प्रपंच में ले लिया है। यहाँ तक कि ध्वनिकार के वाच्यप्रतीयमान अर्थों की भाँति इन्होंने भी वाच्य और अनुमीयमान इन दो अर्थों की कल्पना की है और इन दोनों अर्थों से सम्बन्ध विशेष द्वारा किसी अन्य अर्थ के प्रकाशन को काव्यानुमिति कहा[1] है।

महिमभट्ट ने ग्रन्थारंभ में एक प्रकार से प्रतिज्ञा की है कि अनुमान में ही सब प्रकार की ध्वनियों का अन्तर्भाव करने के लिए सरस्वती को प्रणाम कर के 'व्यक्ति विवेक' की रचना करता[2] हूँ।

ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने कहा है कि अर्थान्तर की अभिव्यक्ति में जितनी सामग्री है वह सब अनुमान के पक्ष में ले लेना ही हमारा अभिप्राय है। क्योंकि अन्य से अन्य का ज्ञान अनुमिति से ही हो सकता है[3]। व्यञ्जना से नहीं।

किन्तु इनकी विवेचना पद्धति से स्पष्ट है कि ये अपनी तार्किक शक्ति के प्रदर्शन के लिये ही व्यग्र थे। व्यञ्जना के साथ-साथ वक्रोक्ति

---

१ वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता।
—व्यक्तिविवेक। वि० १। श्लो० २५

२ अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यापि ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्ति विवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्। —१ का० वि० १

३ यार्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्री सा निबन्धनम्।
सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमानैकसमाश्रयम्।
—व्यक्ति० वि० ३। श्लो० १०-११

छठी किरण

भुक्तिवाद

भुक्ति या भोग अर्थ का एक व्यापार है। इसी अर्थमूलक व्यापार वैशिष्ट्य को अर्थात् भोगकृत्व को मानकर भट्टनायक ने अपने मत का स्थापन किया है। इन्होंने प्रौढोक्ति से व्यंग्य के व्यापार को काव्य का एक व्यापार स्वीकार किया है और इसको उसकी प्रधानता दी है। क्योंकि वह शब्दार्थ को दबा देता है। इससे व्यापार ही प्रधान है अर्थात् रसोद्बोध के कारण उसकी क्रियायें हैं।

इनके मतानुसार काव्याङ्गभूत शब्द में तीन व्यापार होते हैं। १ला अभिधा व्यापार है, जिसके द्वारा काव्य का अर्थ समझा जाता है। २ रा भावकत्व वा भावना व्यापार है जिससे वास्तविक नायक नायिकादि तथा उनकी चेष्टाएँ काव्यगत नायक नायिकादि तथा उनकी चेष्टायें अभिन्न-सी प्रतीत होती हैं। ३ रा भोग व्यापार है जिसके द्वारा काव्यनाटक गत नायक नायिकादि की सुखदुःखानुभूति ग्रहीता अर्थात् द्रष्टा, श्रोता तथा पाठक को होने लगती है। भावना द्वारा अभिभावित होने अर्थात् अपने पराये का भेदभाव भूल जाने पर जो आनन्दानुभव होने लगता है वह अलौकिक है। इसीभोग व्यापार से रस का आस्वाद होता है और इसी रसास्वादन में का व्यापार समाप्त होता है। इसीसे यह किसी-किसी के मत से रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत और किसी-किसी के मत से ध्वनि सम्प्रदाय के अन्तर्भूत माना जाता है।

इस रसास्वाद के सम्बन्ध में भोगवाद के साथ आरोपवाद अनुमानवाद और व्यक्तिवाद का भी झगड़ा है जिनके आचार्य क्रमशः भट्टलोल्लट, शङ्कुक और अभिनव गुप्ताचार्य हैं। इन तीनों आचार्यों के मत वा वाद का आधार भरत मुनि का।

॥ विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः

यह सूत्र है और ये तीनों आचार्य इस सूत्र के टीकाकार हैं, व्यक्तिवादवादी अभिनवगुप्ताचार्य और भामह भट्ट ने भोगवाद का खण्डन कर के अपना मत स्थापित किया है। नाटक के नटों में दुष्यन्त आदि के आरोप करने से या अनुमान करने से या सत्व.

गुण के उद्रेक से रसास्वाद होता है। उक्त दो आचार्यों का मत है कि रसास्वाद व्यापार मूलक भुक्ति वा भोग से नहीं; किन्तु व्यञ्जना से होता है जिसका अनुभव अभिज्ञता से व्यक्तिश: होता है।

उपर्युक्त वादों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्द और वाक्यार्थ से जो कुछ इन विद्वानों को प्रतीत हुआ वह उनके विषय में होने वाले व्यापारों तक ही सीमित रहा। यथार्थतः काव्य की आत्मा तक किसी की पहुँच नहीं हुई।

सातवीं किरण

रसवाद

वेद में बहुत बार रस[1] शब्द आया है। पर वह काव्यशास्त्र का पारिभाषिक अर्थ नहीं देता। यद्यपि उपनिषद् का 'रस' शब्द प्रत्यक्षतः सुकृतात्मक आत्मतत्त्व का ही बोधक है तथापि अनुमानतः कवियों ने काव्य रस[2] शब्द को यहीं से अपनाया और उसको आनन्दातिशय के अर्थ में प्रयुक्त किया।

रस सम्प्रदाय बहुत प्राचीन, महत्त्वपूर्ण और सर्वसम्मत नहीं तो बहुसम्मत तो अवश्य ही है इस मत में रस ही काव्य की आत्मा या सर्वस्व है और गुण, रीति और अलंकार इसके पोषक हैं।

सब प्रथम वाल्मीकि मुनि ने यह कह कर कि शोक से पीड़ित मेरे मुख से निकला हुआ यह श्लोक कभी अन्यथा नहीं हो सकता[3] 'करुण रस को प्रकट किया। भरतमुनि ने रस के बिना कोई अर्थ नहीं उद्भूत होता और विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से[4]

---

१ यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयतेह नः। —ऋ ६।४४।२१
रसो गोषु प्रविष्टो यः। —अथर्व १४।२।२८

२ यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।—तैत्ति० ७।२-

३ शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा। —वाल्मीकि बाल०

४ नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। तत्र विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः। —नाट्य शा० ६-३४

रसनिष्पत्ति वाले प्रसिद्ध सूत्र का निर्माण किया। व्यास ने वाग्वैदग्ध्य की प्रधानता होने पर भी रस ही को जीवन माना[१]।

यद्यपि नाट्यशास्त्र के रस प्रकरण के वर्णन से प्रकट है कि इनके पहले भी कुछ आचार्य हो गये हैं[२] अष्टाध्यायी में शिलाली और कृशाश्व नामक नट-सूत्रकारों का निर्देश[३] भी इस बात को विश्वसनीय बताता है; किन्तु उनके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। इससे भरत मुनि ही नाट्यशास्त्र के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य हैं पर काव्य को लक्षणों से युक्त बनाने का उल्लेख भी किया है।[४] काव्य और नाटक दोनों को सरस बनाना इनका अभीष्ट है। नाटक की सामग्री में इन्होंने रस को प्रधान स्थान दिया है।[५] इनके मत से रस आठ हैं।

भामह ने अलंकारवादी होते हुए भी रस की उपेक्षा नहीं की है। उनका कहना है कि महाकाव्य को जनस्वभाव जनरुचि से और सब रसों से युक्त होना चाहिये[६] पर रसवत् आदि अलंकारों में रस का समावेश कर के उसका महत्त्व नष्ट कर दिया[७] है। भामह का रस सम्बन्धी कोई निश्चित मत विचार नहीं मालूम होगा। रस से परिचित होने पर भी उन्होंने वक्रोक्ति और अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

भामह की अपेक्षा दण्डी ने रस का कुछ महत्त्व बढ़ाया है। उन्होंने माधुर्य के लक्षण में रस का नाम लिया है और वाग्रस तथा वस्तुरस नामक उसके दो भेद किये हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास

---

१ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्। —अग्निपुराण

२ अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः। —नाट्य शास्त्र

३ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। कर्मन्दकृशाश्वादिनिः (अष्टा. ४।३।११०—१११) शिलालिना प्रोक्तमधीयते शैलालिनो नटा, कृशाश्विनो नटा, अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (४-३-८७) छ (इय्) प्रत्ययात् सिद्धिः।

४ काव्यबन्धास्तु कर्तव्या षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः। —नाट्यशास्त्र

५ रसा भावा ह्यभिनया धर्मीवृत्ति प्रवृत्तयः

६ युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।

७ रसवद् दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसं यथा।

को वामस का पोषक और अर्थालंकारों में ग्राम्य दोष के अभाव को वस्तु रस माना है। उनका कहना है कि सरस वाक्य ही मधुर होता है। वाक्यान्तर्गत शब्दों और वस्तुओं तथा प्रतिपाद्य विषयों में भी रस परिपूर्ण रूप में रहता है। उससे बुद्धिमान लोग अर्थात् रसपारखी वैसे ही झूम-झूम उठते हैं जैसे मधुलोभी भौंरे मधु से उन्मत्त हो उठते हैं—अपने को भूल[१] जाते हैं। इन्होंने गुणों को रसान्तर्भूत मान कर रस का महत्त्व प्रकट किया है और अलंकारों को अर्थ में रसाधान का साधन माना[२] है। पर पृथक् रूप से रस विवेचना नहीं की है।

वामन ने कान्ति नामक अर्थगुण के लक्षण में यह कह कर रस की चर्चा की है कि रसों की दीप्ति अर्थात् प्रगाढ़ अभिव्यक्ति ही कान्ति नामक अर्थ गुण की आधायक[३] है। इस प्रकार गुणों में रसों के अन्तर्भाव से वामन ने भी रस का महत्त्व कुछ बढ़ाया ही है। क्योंकि इनके मत से गुण-विहीन काव्य-काव्य नहीं और गुण में रस की दीप्ति स्वीकार की है।

पहले पहल आचार्य रुद्रट ही हैं जिन्होंने रस की स्वतन्त्र रूप से विवेचना की है। इन्होंने काव्य को बड़े यत्न से सरस बनाने का निर्देश किया[४] है। उद्भट ने शान्तरस जोड़कर भरत के आठ रसों की संख्या को नौ किया और रुद्रट ने प्रेयस रस को जोड़ कर उसकी संख्या दस कर दी। पर काव्यतत्त्व जो रस है उसका सिद्धान्त कोई स्थिर न कर सका। यद्यपि अलंकार की प्रधानता चली आती थी तथापि उपर्युक्त आचार्य रसविमुख नहीं कहे जा सकते।

भरत से लेकर ध्वनिकार के पूर्व तक रस से नाट्य रस ही समझा जाता था। क्योंकि नाटक को ही लेकर रस की उत्पत्ति, उसकी आवश्यकता आदि का विवेचन है। पर नाटक के काव्याङ्ग होने से काव्यमात्र में रस की स्थिति विवेच्य है। रुद्र भट्ट ने तो स्पष्ट ही कहा

---

१ मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः॥ —काव्यदर्शन १।५१

२ कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति। —का० द० १।६२

३ दीप्तरसत्वं कान्तिः। —काव्यालंकार सूत्र

४ तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। —का० लं० १२-२

है कि भरतादि ने नाट्य ही में रस की स्थिति मानी थी। मैं अब यथामति काव्य में भी उसकी स्थिति का निरूपण करता[1] हूँ। अभिनव भारतीकार भी कहते हैं कि नाट्य में ही रस है और काव्य में भी नाट्यायमान रस ही काव्यार्थ[2] है।

ध्वनिकार ने ही काव्य में रस की महत्ता स्थापित की ; क्योंकि ध्वनि को उन्होंने काव्यात्मा माना और रसध्वनि को ही ध्वनियों में मुख्यता दी जिसका उल्लेख ध्वनिवाद में किया गया है।

अलंकार वादी आचार्य उद्भटकृत काव्यालङ्कार संग्रह के टीकाकार प्रतिहारेन्दु राज ने अलङ्कार के विपरीत अपना मत उपस्थापित किया है। वे कहते हैं कि काव्य और रसों का अलंकार्य अलङ्कार भाव नहीं, किन्तु आत्मा और शरीर का भाव है। रस काव्य के आत्मस्वरूप है और शब्दार्थ उसका शरीर[3]।

वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही सर्वत्र प्रधानता दी है। उन्होंने यत्र-तत्र रस की भी चर्चा की है। पर वे रस को महत्त्व तभी देते हैं जब कि वह वक्रोक्ति का रमणीयताधायक हो। तथापि एक स्थान पर वे कहते हैं कि निरन्तर रसोद्‌गार में संलग्न जो कवि की वाणी जीवित रह सकती, कथा कहने वाली वाणी[4] नहीं। ध्वनिमत विध्वंसी महिम भट्ट भी स्पष्ट कहते हैं कि इसमें तो किसी का मतभेद हो ही नहीं सकता कि काव्यात्मा रस रूप[5] ही है।

क्षेमेन्द्र ने काव्य को रससिद्ध माना है। जिसका उल्लेख औचित्यवाद में है। मम्मटाचार्य ने काव्य प्रकाश के प्रारम्भ में ही 'नव रस रुचिरां निर्मितम्' और मुख्यार्थ हानि का दोष और

---

१ प्रायो नाट्यं प्रतिप्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः।
यथामति मयाप्येषा काव्यं प्रतिनिगद्यते। —र० ति० १-५

२ नाट्य एव च रसाः।
काव्येऽपि नाट्यायमान एव रसः काव्यार्थः। —अ० भा० ६।३३

३ न खलु काव्यस्य रसानां वा अलंकार्यालंकार भावः किन्तु आत्म शरीरा भावः। रसा हि काव्यस्य आत्मत्वेनावस्थिताः शब्दार्थौ च शरीररूपतया।
—काव्यालंकार संग्रहटीका

४ निरन्तर रसोद्‌गार गर्भ सौन्दर्य निर्भराः।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिताः। —व० जी० ४ उन्मेष

५ काव्यात्मनि संगिनि रसादि रूपेन कस्यचिद्विमतिः।

-अर्थाश्रय रस ही मुख्य[1] है कहकर रस की मुख्यता मानी है। विश्वनाथ तो रसात्मक काव्य को ही काव्य कहते हैं। पण्डितराज कहते हैं कि इस प्रकार पाँच ध्वनियों में परमरमणीय होने से रसध्वनि ही मुख्य है; क्योंकि उसकी आत्मा रस[2] है।

मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज के बीच में भी कितने आचार्य हो गये हैं जिन्होंने रस की महत्ता का प्रतिपादन किया है और इसके बीच में भक्ति और वात्सल्य नामक दो और रसों की भी वृद्धि हो गयी है।

उपर्युक्त रस सम्बन्धी उल्लेख से स्पष्ट है कि रसमत के समान कोई अन्यमत मान्य नहीं है। ध्वनिमत की महत्ता है पर वह रस पर ही निर्भर है। इन दोनों के सामञ्जस्य से रस की प्रधानता स्थापित है। रस आनन्द मूल है।

इस सम्प्रदाय वालों ने ही रस को अलंकार से पृथक् किया रस का सामर्थ्य सर्वोपरि है और प्रत्येक सम्प्रदाय में यह किसी रूप में वर्तमान है। तभी तो किसी सहृदय ने कहा है कि यदि रस की सम्पत्ति है तो अलंकार व्यर्थ है यदि रस नहीं तो भी अलंकार व्यर्थ है।[3]

आठवीं किरण

ध्वनिवाद

ध्वनि शब्द का अर्थ है आवाज। आघात से जैसे आवाज निकलती है वैसे ही वाच्यार्थ से ध्वनि निकलती है।

गुण, अलङ्कार, रस आदि के सन्निवेश से रुचिर काव्य रूपी शरीर का आत्मा सारभूत सहृदय श्लाघ्य अर्थ होता है यह अर्थ वाच्य और प्रतीयमान के भेद से दो प्रकार का[4] होता है।

---

१ मुख्यार्थ हतिर्दोषः रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः | —का० प्र० ७-४६

२ एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया
रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते

३ अस्ति चेद्रस सम्पत्तिः अलंकारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रस सम्पत्तिः अलंकारा वृथैव हि।

४ अर्थः सहृदय श्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

शब्द से स्पष्ट न कही जाने पर भी जो बात प्रतिभासित होती है वही ध्वनि है। यह शब्द की व्यञ्जना नामक शक्ति से उद्भूत होती है। वाच्यार्थ तो शब्दों का ठेठ अर्थ है जिसे गँवार भी समझता है। काव्य में उसका महत्त्व निम्न कोटि का है उसका जो व्यंग्यार्थ-ध्वनि है वही चोखा है, असाधारण है और महत्त्व पूर्ण है। शब्दों से स्पष्ट प्रकट न होने के कारण ही ध्वनिकार ने लिखा है कि कवियों की वाणी में वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान-प्रतिभासमान या ध्वन्यमान जो ध्वनिरूप व्यंग्यार्थ होता है वह कोई और ही अपूर्व वस्तु है। वह अर्थ वैसे ही शोभित होता है जैसे सुश्लिष्ट-सुगठित अङ्गोंवाली अंगना रमणीय रमणी के अङ्गों में लावण्य लुनाई हो, सलोनापन[1] हो।

शास्त्रीय परिभाषा में प्रधान व्यंग्यार्थ ही ध्वनि कहलाता है। *अभिप्राय यह कि जहाँ प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ वाच्य अर्थ* की अपेक्षा अधिक चमत्कारकारी होता है वहाँ ध्वनिकाव्य माना जाता है। ध्वनि का लक्षण है कि जिस काव्य में वाचक शब्द और वाच्यार्थ अपने को अर्पण कर या गौण बना कर उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं, उस काव्य विशेष की संज्ञा ध्वनि[2] है।

ध्वनि का प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ पर ही निर्भर करता है पर दोनों एक से हैं, यह कोई नियम नहीं। विध्यर्थक वाच्यार्थ का निषेधार्थक ध्वनि हो सकती है और निषेधार्थक का विध्यर्थक भी। वाच्यार्थ बहिर्मुख (objective) है और ध्वनि सहृदय के हृदयगत होने से अन्तर्मुख (subjective) है। व्यञ्जना (suggestiveness) नामक तीसरी शक्ति आशय (sence) को व्यञ्जित (suggests) करती है। इससे यह ध्वनि कल्पनालोक का विषय है और रसिकों के मस्तिष्क में अपना ताना बाना बुनती है।

यद्यपि ध्वनिकार इस ध्वनिमत के आविष्कारक नहीं हैं तथापि उन्होंने इस उपेक्षित और अस्पष्ट ध्वनिवाद को शुद्ध रूप दिया है। उसमें नवजीवन का संचार किया है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ही सर्व-

१ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु —ध्व० लो०

२ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। —ध्व० लो०

प्रथम इसके युक्ति-युक्त प्रतिपादक हैं। इसी से राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में उनकी प्रशस्ति में लिखा है—ध्वनि नामक काव्य के अत्यन्त गम्भीर रहस्य का प्रकाशन कर के आनन्दवर्द्धन ने किसका आनन्द नहीं बढ़ाया[1]।

काव्य की आत्मा ध्वनि है, जब से यह सिद्धान्त स्थिर हुआ तब से साहित्य शास्त्र को शास्त्र कहलाने की योग्यता यथार्थतः उपलब्ध हुई। क्योंकि जिस प्रबल संरम्भ से ध्वनि प्रस्थापन का कार्य साहित्य शास्त्र में किया गया है वह अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। जितना साहित्य शास्त्र का इस पर अधिकार है उतना वैयाकरणों का नहीं।

आनन्दवर्द्धन का मुख्य ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक (वृत्ति) ध्वनि सिद्धान्त का आद्य आकर ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में विवेचित पदार्थों के ऊपर अभिनव गुप्तपाद की 'लोचन' नामक टीका ने संजीवनी का काम किया है। मूल ग्रन्थ और टीका द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की जो वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत हुई उसने आगे के सभी साहित्य-चिन्तकों के हृदयों पर अपना सिक्का जमा लिया।

ध्वनिकार ने ध्वनि को केवल काव्यात्मा कह कर ही विश्राम नहीं ले लिया, प्रत्युत रस, रीति, गुण और अलंकार की भी मीमांसा कर के ध्वनि के साथ उनका सामञ्जस्य भी स्थापित कर दिया[2]। यही नहीं, वक्रोक्ति, औचित्य आदि मतों का भी ध्वनिमत में समावेश कर दिया। उन्होंने ध्वनि को इन सबों से एक विलक्षण पदार्थ बताया। उनके मार्मिक विवेचन और पाण्डित्यपूर्ण प्रतिपादन के प्रभाव से अलङ्कार आदि सभी मत निष्प्रभ हो गये।

है। ये ध्वनियाँ पद, पदांश, वाक्य, रचना, वर्ण और प्रबन्ध में होती हैं।

ध्वनि में वही अलंकार मान्य है जो रस का वाहन हो, अयत्न साध्य हो और रसानुकूल हो। सारांश यह कि अनावश्यक अलङ्कार की भरती न होनी चाहिये।[1]

ध्वनिकार के मत से रस-भाव आदि ही ध्वनियों में प्रधान हैं। ये ध्वनित ही होते हैं उक्त नहीं। वस्तु अलङ्कार भी ध्वनित हो होते हैं; पर रस, भाव आदि को ध्वनि को जो प्रधानता प्राप्त है वह उन्हें प्राप्त नहीं; क्योंकि रस भाव आदि से ही काव्य प्राणवान होता है[2]। इस ध्वनित होनेवाले रस का परवर्ती आचार्यों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि प्रायः सभी इसके किसी न किसी प्रकार अनुयायी बन गये।

वाल्मीकि मुनि भ्रमण कर रहे थे। देखा कि व्याध ने कामकौतुक में निमग्न क्रौंच पक्षी के जोड़े से कामोन्मत्त नर क्रौंच को मार गिराया। वह पृथ्वी पर तड़फड़ाने लगा। क्रौंच की मर्मकृन्तक कराह को सुनकर करुण क्रन्दन करने लगी। यह दृश्य देख कर कवि के हृदय में जो करुणा उमड़ आयी उसने भारतीय काव्य साहित्य के पहले श्लोक को जन्म दिया।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंच मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्॥

इस श्लोक का साधारण अर्थ है कि 'रे व्याध, तुमने क्रौंच की जोड़ी से काम मोहित क्रौंच को मार डाला। इसीसे अनन्त काल तक तुम्हारी कोई पूछ न हो। पर इस वाक्यार्थ में कोई विशेष चमत्कार नहीं। स्वयं आश्चर्य चकित होकर आदि कवि ने अपने शिष्य से कहा कि शोकार्त्त हृदय से निकला हुआ यह लय-ताल समन्वित श्लोक ही रहे, अन्यथा न हो।

---

१ रसाक्षिप्ततयायस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः। —ध्व० लो०

२ तेन रस एववस्तुत आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनितु सर्वथा रसं प्रतिपर्यवस्येते, इति वाच्यादुत्कृष्टौ तौ इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मेति सामान्येनोक्तम्। —ध्व० लो०

इसके मूल में कवि की करुण भावना निहित है। उस समय महर्षि के मन में जो करुण रस उत्पन्न हुआ वही इस श्लोक से ध्वनित है। इसीसे इस श्लोक को काव्यत्व प्राप्त है। इस श्लोक से महर्षि वाल्मीकि के करुणा विगलित कोमल मानस का जो मार्मिक भाव व्यक्त होता है वह सहृदयों के हृदयों को आकर्षित कर लेता है। इसी पर तो ध्वनिकार ने लिखा है—

काव्यस्यात्मा स एवार्थ स्तथा आदि कवे:पुरा।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

क्रौंच द्वन्द्व के वियोग से उत्पन्न आदि कवि के शोक ने जो श्लोक का रूप धारण किया वह करुण रस का प्रत्यक्ष उद्गार था। वही करुण रस की ध्वनि काव्यात्मा है।

इसमें एक दो साहित्यिक तत्व प्रच्छन्न रूप से विद्यमान हैं। पहली बात यह कि वाल्मीकि की आन्तरिक भावना छन्दोबद्ध होकर बाहर निकली। इससे स्पष्ट है कि काव्य का अन्तरंग और बहिरंग दोनों की एकात्मकता होनी चाहिये और भावना यदि लयान्वित हो तो उसकी सौन्दर्य-वृद्धि हो जाती है। दूसरी बात यह कि जब तक क्रौंच पक्षी का छटपटाना दृष्टिगोचर रहा तभी तक वाल्मीकि वाल्मीकि रहे फिर जब उनका शोक-लोक सामान्य भूमि पर आकर व्यापक रूप धरा कर करुण रस में परिणत हुआ तब वे आपे में न रहे और सहसा छन्दोबद्ध श्लोक निकल पड़ा। इससे यह प्रमाणित होता है कि काव्य हृदय की वस्तु है और रस रूप में ध्वनित होता है।

एक दो उदाहरणों से यह हृदयंगम हो जायगा—

ननदी को मुख देखि के जियत बहू किहु भाँति।

अर्थ स्पष्ट है। साधारणत: श्रोता और पाठक कहेंगे कि इसमें न तो कोई शब्द सौष्ठव है और न कहने का निराला ढंग ही। हम तो कहेंगे कि इन बाहरी बातों को छोड़िये। पद्यार्ध की ध्वनि पर विचार करें। नायिका विरहिणी है। वह ननद का मुँह देखकर किसी भाँति जी रही है। क्यों? उसके मुँह में तो कोई संजीवनी शक्ति नहीं। है क्यों नहीं। जरा हृदय से काम लीजिये। इससे यह ध्वनि निकलती है कि ससुराल से आयी हुई वियोगिनी

ननद भी विरहावस्था को झेलती हुई जी रही है तो उसकी भाभी क्यों न इस दुःसह विरह को सह ले। दूसरी ध्वनि यह है। बहू की ननद उसके पति की बहन है। एक पिता की संतानों की मुखाकृति एक-सी होती है। ननद का मुँह उसके पति के मुख की छाप है। जब वह ननद का मुँह देखती तब उसे पति दर्शन-सा हो जाता है। वह वियोग भूल जाती है। यह पूर्वोक्त ध्वनि से भी अधिक चमत्कारक है। यदि कोई पाठक या श्रोता प्रतिभाशाली है तो इससे और कई ध्वनियाँ निकाल सकता है। एक तीसरी ध्वनि लीजिये वह विरहिणी बहू ऐसी पतिव्रता है कि ननद के मुँह को छोड़कर दूसरी स्त्री तक का मुँह नहीं देखती। पुरुष के मुँह की तो बात छोड़िये। इस ध्वनि से यह भी ध्वनि आती है कि हमजोली होने से ननद ही उसकी एकमात्र संगिनी है। यह ध्वनि ही काव्य की आत्मा है।

> प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
> थे छिपे रहते गहन जल में तरल
> ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की, उन्हें
> लालसा अब है विकल करने लगी। —पंत

यहाँ मीन के लघु बाल के स्थान पर अनुरागिणी नायिका है। सखियाँ कहती हैं—छोटी मछलियाँ जब तक गहरे जल में रहती हैं, बाहर निकलने से भय खाती हैं, पर जब वह लहरों पर लहराने का मजा ले लेती हैं तब उन्हें लालसा विकल करने लगती है। यहाँ ध्वनि यह है कि सखी तेरा जो अनुराग पहले छिपा हुआ था वह प्रकट हो गया। लघु बाल को नायिका का प्रतीक भी साधर्म्य से मान सकते हैं दूसरी वस्तु व्यंजना यह भी है कि जिसे पहले हँसी-खेल समझा था वह यथार्थतः वैसा नहीं है। यहाँ व्यंग्य रूपक का असाधारण सौन्दर्य है।

> 'वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर।'

इसमें बालिका का भोलापन व्यंजित है, या एक प्रकार का हर्ष भाव। पर 'सरला' विशेषण से भोलेपन की व्यंजना का महत्त्व नष्ट हो गया है। यहाँ गुणीभूत व्यंग्य है।

अन्य वादों की भाँति ध्वनितत्त्व पर कालचक्र की कोई गति नहीं चली। अपितु समस्त सहृदयों ने एक स्वर से इसे काव्य का प्राण या

आत्मा निःसंकोच मान लिया। यहाँ तक कि कुन्तक, महिमभट्ट आदि ने ध्वनितत्त्व को दूषित करने की जो निरर्थक चेष्टा की उससे स्वयं ही ध्वनिकार के भेदोपभेदों पर ही निर्भर रहने के कारण नये तत्त्व के उद्भावन के विना वह प्रतिष्ठा नहीं पा सके जो ध्वनिकार को प्राप्त हुई।

नवीं किरण

वक्रोक्तिवाद

उक्ति वैचित्र्य शब्द का एक व्यापार है। वक्रोक्ति में इसी शब्द मूलक व्यापार की विशेषता रहती है। वक्रोक्ति को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करनेवाले आचार्य कुन्तक हैं और उनके सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है 'वक्रोक्तिजीवित'।

वक्रोक्ति के सर्व प्रथम विवेचक हैं आचार्य भामह। ये कहने के निराले ढंग को ही वक्रोक्ति मानते हैं। इन्होंने अलंकार मात्र में वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार की है। और इसके विना अलङ्कार को मानते नहीं। उनके मत से सभी अलङ्कार वक्रोक्ति के एक प्रकार ही है। इसीसे ये स्वभावोक्ति को न तो अलङ्कार मानते हैं और न काव्य स्वाभाविक रूप से किसी घटना को यथातथ्य वर्णन करने में वक्रता की विचित्रता नहीं रहती। अतः सूर्य अस्त हुआ, चाँद उगा, चिड़ियाँ उड़ती हैं, ऐसे वाक्य काव्य नहीं हो सकते। यदि साहित्य शास्त्रकार का या अलंकारिक स्वभावोक्ति को अलंकार मानें तो उनके लिए अलङ्कार्य कुछ रह ही नहीं जाता। भावार्थ यह कि शब्दार्थमय वाक्य तभी काव्य हो सकता है जब कि वाक्य में विचित्र विन्यास हो या वक्रव्यार्थ भणिति भङ्गी से आत्म प्रकाश करता है।

दण्डी ने वक्रोक्ति को एक प्रकार से अतिशयोक्ति को पर्याय माना है और वे इस अतिशयोक्ति को प्रत्येक अलङ्कार का मूल मानते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वभावोक्ति को छोड़कर सभी

अलङ्कार वक्रोक्ति मूलक है। यही कारण है कि दण्डी ने वाङ्मय के स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के नाम से दो भाग किये हैं और वक्रोक्ति को श्लेष से शोभाशाली होने की बात कही है; किन्तु वामन ने इसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार ही माना है।

आनन्दवर्द्धनाचार्य कहते हैं कि कवि प्रतिभा द्वारा जिस अलङ्कार में अतिशयोक्ति का अवतार होता है वही अपनी चारुता से चमत्कारक होता है। शेष अलङ्कार कहने भर के ही अलङ्कार है। इसमें संन्देह नहीं कि काव्य में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति के विना अनूठापन लाना असंभव ही है यह सभी सहृदयों को मान्य है।

केवल शब्द काव्य नहीं हो सकता। जो कहते हैं कि कवि के कमनीय शब्द माला से कलित रचना ही काव्य है वे मरीचिका को जीवन समझ रहे हैं। कुन्तक का कहना है कि प्रतिभा के अभाव में जो शब्द सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं वे काव्य के सुखदायक सम्पत्ति से बहुत दूर हैं। यह कवित्त अपनी शब्दच्छटा के माधुर्य से श्रोता के कानों को भले ही तृप्त कर दे, सहृदयों के हृदय नहीं छू सकता।

गौअन चरिन्दे संग गावे सुरनन्दे तीर
निविड़ निकुंजे जँह गुंजत मलिन्दे रे।
कूदि के कलिन्दे हृदे मथि के फनिन्दे मद
कर ले नगिन्दे जिन गंज्यो मद हन्दे रे॥
कंस ही निकन्दे करि जगहि अनन्दे करि
वृन्दारक वृन्दन के काटे बहु फन्दे रे
ए रे मतिमन्दे सब छाड़ि फरफन्दे
अब नन्द के सुनन्दे व्रजचन्दे क्यों न वन्दे रे।

ऐसे ही रचना-वैचित्र्य से चमत्कारक अर्थ को भी काव्य मानना भ्रान्ति है। केवल अर्थ चातुर्य से रचना में काव्यत्व पैदा नहीं किया जा सकता। कविवर बिहारी विरहिणी की विरह कृशता और दीर्घोच्छ्वास की बहुलता का वर्णन करते हैं—

इत आवत चलि जात उत चली छ सातिक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे से रहै लगी उसासनि साथ।

साँस छोड़ने के समय छ-सात हाथ आगे की ओर और साँस लेने के समय छ-सात हाथ पीछे की ओर चली जाती है। कुसाँसों के

झोंके के साथ-साथ आती जाती ऐसी जान पड़ती है जैसे हिंडोले पर भूल रही है।

इसे कल्पना की कलाबाजी के सिवा दूसरा क्या कहा जा सकता है। इसमें शब्द की आह्लादकता नहीं है। शब्द विन्यास में वैचित्र्य नहीं केवल शुष्क अर्थ का विवरण है। यहाँ दोनों का साहित्य नहीं। हम इसकी अर्थ विच्छित्ति को मानते हैं यह बिहारी की रस्साकशी अपूर्व है। क्योंकि इसमें एक ही साँस दो दलों का काम करती है।

अतः कुन्तक भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' को लेकर कहते हैं कि मन के उदित भाव वक्र वाक्यों द्वारा जब प्रकाशित होकर सहृदयों के हृदयाकर्षण करते हैं, तभी उनमें काव्यत्व आता है। इससे शब्द और अर्थ दोनों में—आह्लादकत्व है जो दोनों के साहित्य से सुन्दर संयोग से उत्पन्न होता है।

एक शब्दार्थ वैचित्र्य का उदाहरण लें—

इंदु पर, उस इंदु मुख पर, साथ ही ये पड़े मेरे नयन जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को पूर्व था पर वह द्वितीय अपूर्व था।

—पंत

यहाँ इंदु और इंदु मुख एक उदय से और दूसरा लाज से लाल हुए थे। पूर्व को अर्थात् इंदु को पूर्व ही था पूर्व दिशा ही थी पर द्वितीय इन्दु मुख अपूर्व था। पंक्तियों में क्रम का सुन्दर निर्वाह है। जब पूर्व को पूर्व कहकर अपूर्व आते हैं तब पूर्व की विपरीत दिशा पश्चिम का भान होता है पर अपूर्व के द्वितीय अर्थ अद्वितीय अद्भुत के अर्थ पर पहुँचते हैं तब हृदय गद्‌गद् हो जाता है। यहाँ अर्थ की चारुता और चमत्कृति के संपादन में शब्द और अर्थ दोनों की आह्लादकता सम्मिलित है, यथार्थ साहित्य है।

कुन्तक का यह भी कहना है कि एक ही बात को यदि भिन्न-भिन्न भावभङ्गी से कहा जाय तो उसकी काव्य सम्पत्ति बढ़ती है।

मोदि दियो मेरो भयो रहत जु मिल जिय साथ।
सो मन बाँधि न दीजिये पिय सौतिन के हाथ॥

— कवि चिन्तन

इसी बात को बिहारी कहते हैं—

दियौ हरखि हित सौ हियौ लेत न फेर लजात।
आन हात प्रीतम सुअब क्यों कर सौंप्यौ जात॥

विक्रम के दोहे में वह लोच लचक नहीं, वह चारु चमत्कार नहीं और न शब्दार्थ का साहित्य ही है। जो बिहारी के दोहे में है।

कुन्तक के कहने का अभिप्राय यह कि शब्दार्थ के सदा सहित होने पर भी काव्य होने के लिए शब्दार्थ साहित्य की एक विशेषता होनी चाहिये यहाँ ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलने में अर्थ के साथ अर्थ मिलने में जो दोनों की परस्पर स्पर्द्धिनी चारुता उत्पन्न होगी उसका पारस्परिक सामञ्जस्य ही साहित्य है। अभिप्राय यह कि एक पद का वाक्य दूसरे पद वाक्य के साथ विचित्र विन्यास से विन्यस्त होने पर ध्वनि-सौन्दर्य से जैसे माधुर्य की सृष्टि होती है वैसे ही तद्गत अर्थ की पारस्परिक सहयोग से चामत्कारिक सृष्टि होनी चाहिये। एक उदाहरण लें—

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर शशिकला-सी एक बाला व्यग्र हो!
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल, सदय, भीरु, अधीर चिन्तित दृष्टि से।

—पंत

नायिका जल से निकाले गये नायक को स्वस्थ करने के उपचार में लगी हुइ है तब उसके मन में भावों का भंडार भरा हुआ है। कहना चाहिये कि उसके मन में भावों का द्वन्द्व युद्ध छिड़ा हुआ है। सिनेमा के चित्र पट पर पड़ते हुए छाया-चित्रों के समान एक भाव का उदय होता है और साथ ही दूसरा भाव उसका स्थान ग्रहण कर लेता है। कवि एक भाव को एक शब्द से व्यक्त करता है पर उससे उस सन्तोष नहीं होता और भावान्तर से अपने मनोगत को व्यक्त करना चाहता है। एक-एक नूतन भाव प्रकाशित करनेवाले एक-एक शब्द परस्पर प्रतिस्पर्द्धी होकर काव्य-सम्पत्त को समृद्ध कर रहे हैं। जब विमूर्च्छित नींद से नायक जगा तब उसको जो अनुभव हुआ, वही उपयुक्त पद्य में व्यक्त है।

कवि ने नायिका को व्यग्र कहा; क्योंकि इस बात के लिए वह छटपट में थी कि यह तरुण जीवित है या मृत, जीवित है तो उसकी ये साँसें क्या अन्तिम हैं? यदि हाँ तो इसके मर जाने पर? यद्यपि

कामिनी की यह कामना नहीं है, तथापि 'स्नेहः पापमाशङ्कते' इस न्याय से उसकी ऐसी संभावना न्यायोचित ही है, मेरी क्या दशा होगी। क्योंकि 'मधुपबाला का मधुर मधु-मुग्ध-राग पद्मदल में सम्पुटित था हो चुका'। यदि उसके ये निःश्वास अन्तिम नहीं, तो कैसे पुनर्जीवन द सकूँगी, आदि। जब ऐसे व्यापक विशेषण से कवि को सन्तोष नहीं हुआ और अपने वक्तव्य को अधिक यथार्थ बनाने को विवश हुआ, तब नायिका को छोड़ कर उसके एक अङ्ग को अपनाया, जब कि मूक भाषा में अपने भावों को पिरो रहा था।

वह ऐसी दृष्टि से देख रही थी, जिसमें चिन्ता थी। इस विशेषण से व्यग्र विशेषण व्यर्थ-सा हो जाता है; तथापि यह कहा जा सकता है कि उस व्यग्रता में उसके सर्वाङ्ग सम्मिलित थे और सर्वाङ्ग से ही व्यग्रता फूटी पड़ती थी। यद्यपि जाँघ पर नायक का सिर रक्खा हुआ था और शारीरिक व्यग्रता से नायक के आराम को विघ्न पहुँच सकता था; तथापि सकारण शून्य शरीर की उस समय जो व्यग्रता-व्यञ्जक अवस्था हो सकती है, वह सहृदय संवेद्य ही है। इतना होने पर भी आँख की चिन्तित अवस्था निराली हो सकती है। मुख की अपेक्षा आँख की मर्मभेदिनी दृष्टि भावों की बारीकी विशेषतः व्यक्त करती है। आँखों को चिन्ता है, पहले यह कैसा मुखड़ा होगा और अब कैसा हो गया है। रंग मुरझा गया है। विलीन होती हुई यौवनकालीन मनोरथों, उमंगों, उल्लासों तथा कवि की वाणी में सोई हुई हृदय की लहरियों की शून्यता मुख पर अङ्कित है। जब इस दशा में इनका मुखड़ा देख इन पर निछावर हो गयी, तब जीवित दशा की कौन बात कहे।

चिन्तित है इसी से दृष्टि चपल है। न जाने किस क्षण क्या हो जाय और क्या करना पड़े! हो सकता है कि उसकी मुख-छवि ऐसी हो जो दृष्टि हटाने का मन ही नहीं करता हो। केवल चपल ही नहीं, सदय भी है। उसमें करुणा की गङ्गा है। उस दृष्टि से यह झलकता है कि बेचारा कैसे हैं जी जाता! नहीं तो पिता का लाडला लुट जायगा, मा की गोद सूनी हो जायगी। कहीं ज्यादा न हो! ऐसा हुआ तो उसकी दुनिया ही उजड़ जायगी! भला ऐसा क्यों होने लगा! नहीं, उसकी दृष्टि स्वार्थिनी नहीं है। उसमें अमंगल होने का भय भी भरा हुआ है इसीसे यह भीरु है। उसका हृदय स्नेहमयी

इसी सहृदयहृदयाह्लादकारी अर्थ और विवक्षितार्थैकवाचक शब्द, इन दोनों अलङ्कार्यों को अलंकृत करनेवाले अलङ्कार को वक्रोक्ति कहते हैं। इसको भणितिभङ्गि अर्थात् कविकौशलपूर्ण आह्लाददायक कहने की एक विशेषप्रणाली भी कह सकते है। अभिप्राय यह कि वक्तव्य विषय का साधारण रूप से वर्णन न करके कुछ ऐसी विदग्धता से वर्णन न करे कि उसमें कुछ विच्छित्तिक विशेषता आ जाय।

विमाता बन गयी आँधी भयावह हुआ चंचल न फिर भी श्याम घन।
पिता को देख तापित भूमितल सा बरसने लग गया वह वाष्प जल।

—गुप्तजी

इसमें श्यामघन ऐसा शब्द है जो बदला नहीं जा सकता। यहाँ श्यामघन केवल काले मेघ का अर्थ नहीं देता। ऐसा होता तो 'वारिधर' से भी काम चल जा सकता, पर नहीं। यहाँ श्यामघन यदि नहीं रहे तो राम का बोध हो ही नहीं सकता। इसके बिना सारा कवित्व ही नष्ट हो जाता। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों का सहयोग है जिससे साहित्य है। कहना चाहिये कि विशिष्ट जातीय शब्द और विशिष्ट जातीय अर्थ का साहित्य ही यथार्थ काव्य है।

कुन्तक ने ध्वनिकार के ध्वनि मत को बड़े सुन्दर ढंग से अपनाया है। बात वही है पर कहने का ढंग निराला है। वे कहते हैं कि पहले तो बिना अर्थ समझे सुनते ही वाह्य सौन्दर्य की सम्पत्ति से अर्थात् कवि कौशलपूर्ण शब्द विन्यास के सौन्दर्य और माधुर्य से जो गीत के सुनाने से हृदय गद्गद् हो जाता है और अर्थ विचारने पर शब्दार्थ से भिन्न जो एक अतिरिक्त आनन्ददायक अर्थ प्रतीत होता है वही काव्य-कलेवर को जीवनदान देता है। इस काव्य स्वरूप को काव्य रस रसिक ही जान सकते हैं।

एक अंग्रेज विद्वान भी प्रायः यही कहता है कि मैं कविता दो बार सुनना चाहता हूँ। पहले तो संगीत के लिए अर्थात् छन्दध्वनि के माधुर्य के लिए और दूसरी बार अर्थ के लिए। आनन्दवर्द्धन के समान कुन्तक भी कहते हैं कि काव्य में जो शोभा सौन्दर्य (aesthetic quality) है उसी से उत्पन्न होने पर भी उससे भिन्न एक आह्लादकार्य उत्पन्न होता है।

सौन्दर्याधायक धर्म को उन्होंनेदो भागों में विभक्त किया है। एक का नाम सौभाग्य और दूसरे का नाम लावण्य रखा है। एक बहिरंग है और दूसरा अन्तरंग। इन्हें बाह्यार्थ निरूपक (subjective aesthetic quality) और अन्तर्वृत्तिनिरूपक (objective aesthetic quality) कह सकते हैं। प्रतिभा प्रसाद से प्राप्त एक विशेष प्रकार का जो चेतन चमत्कार है वह तो सौभाग्य है और बाहरी विन्यास विशेष लावण्य है।

रीति के सम्बन्ध में कुन्तक की राय है कि देश विशेष के नाम पर रीति का नाम रखना अस्वाभाविक है। रीति की विभिन्नता में कवि स्वभाव ही प्रधान है नकि देश विशेष का कोई धर्म। इस दृष्टि से रीति तीन प्रकार की हो सकती है। सुकुमार, विचित्र और मध्यम। सुकुमार को वैदर्भी कहते हैं। इस रीति का यह स्वभाव है कि अनायास ही कवि के कलम से ऐसे वाक्य निकलते हैं जो काव्य गुणों से ओतप्रोत रहते हैं और पाठकों के चित्त को बरबस वशीभूत कर लेते हैं। इसमें समास की बहुलता नहीं रहती सहज ही अर्थ समझ में आ जाने से मन रस से सराबोर हो जाता है। इस सरल और मधुर भाव - प्रकाशन की रीति में ही प्रसादगुण रहता है।

दूसरी रीति है विचित्र। इस रीति में लिखना बहुत कठिन है। यदि वक्रता व्यापक समान भाव से शब्द और अर्थ में स्फुटित न हो तब तक इसमें लिखना संभव नहीं। विना प्रयत्न के ही यदि शब्द और अर्थ के यथायोग्य संयोग से सौन्दर्य का विकास न हो तो वह विचित्र रीति का काव्य नहीं हो सकता।

वचनों से ही तृप्त हो गये हम सखे,
करो हमारे लिये न अब कुछ श्रम सखे,
वन का व्रत हम आज छोड़ सकते कहीं।
तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं।—गुप्तजी

इस कसक को मिटाने के लिए उससे भाई का सम्बन्ध जोड़ते हैं। इससे गुह के साथ राम की अत्यन्त आत्मीयता प्रकट होती है। भाभी की भेंट होने से तो उसमें मधुरता और सरसता का प्रचुर संचार हो जाता है। यहाँ काव्य के मुख्यार्थ को पारकर एक व्यंग्य-भूत अतिरिक्त अर्थ उद्भूत होता है। यह शब्दार्थ के सुन्दर संयोग और उसकी वक्रता ही है जो इतना इस पद्य को रमणीय बना देता है।

जहाँ इस अर्थान्तर को प्रतीयमान या व्यंग्यभूत कहा है वहाँ इस बात के समझने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होती है कि जिसे ध्वनिकार ने ध्वनि काव्य कहा है उसे विचित्र रीति का काव्य कहने में कौन-सी विचित्रता है।

जिस कविता में सुकुमार और विचित्र रीतियों का सम्मिश्रण हो वह मध्यम रीति है।

साधारणतः पन्त, महादेवी और इनकी जैसी कविता करनेवाले कवि सुकुमार रीति के, प्रसाद, निराला और इनकी जैसी कवितावाले अन्य कवि विचित्र रीति के और भारतीय आत्मा तथा इनके जैसे कवि मध्यम रीति के अन्तर्भूत माने जा सकते हैं; पर यह बात विवेचकों पर ही निर्भर है।

कुन्तक ने यह बात बड़े मार्के की कही है कि कवि की शक्ति, रुचि, शिक्षा, स्वभाव के कारण उनकी लिखन-प्रणाली का भेद होना चाहिये; पर लिखन-प्रणाली की अनेकता के कारण इनका व्याप्त्यतिव्याप्तिशून्य भेद करना असंभव है।

साधारणतः सभी उत्तम काव्यों में विशेषतः दो गुण लक्षित होते हैं। एक औचित्य और दूसरा सौभाग्य। जहाँ कविकल्पना में या कवि-निबद्धपात्र—वक्ता या श्रोता की प्रकृति से वर्णनीय विषय के स्वरूप का उत्कर्ष साधित हो उसी को औचित्य कहते हैं;

यह सुधि कोल किरातन पाई, हरषे जनु नवनिधि घर आई।
कन्द मूल फल भरि भरि दोना, चले रंक जनु लूटन सोना।—तुलसी

यह वर्णन सभी दृष्टियों से औचित्यपूर्ण है। जंगल में जहाँ कोल, किरात रहते हैं वहाँ यत्र-तत्र ऋषि मुनियों को छोड़ और कौन रह सकता है या जा ही सकता है। वहाँ राजकुमारों का पहुँचना, उसमें भी ऋषिमुनियों के आदरणीय, अलौकिक शक्ति-सम्पन्न राज-

इनके पद विशेष की आलोचना करते समय 'काव्यरूपी कनक के लिए (अपने को) कसौटी मानने वाले' विशेषण द्वारा इनका स्मरण [1] किया है। कुन्तक ने यह सिद्ध किया है कि पुरानी से पुरानी वस्तु भी यदि उक्ति वैचित्र्य (वक्रोक्ति) से सुसज्जित की जाय तो वह परम शोभनीय हो जाती [2] है। वक्रोक्ति पर उनका इतना अगाध विश्वास है कि उन्होंने उसके विषय में कहा है—

सरस्वती रूपी लता की पद (सुप्तिङन्त) रूपी पल्लवों वाली जो वक्रतारूपी एक सरसतायुक्त उज्ज्वल शोभा है, उसको विदग्ध रूपी भ्रमरवृन्द जान लें और उसके वाक्यरूपी कुसुमों में रहने वाले सुरभित मकरन्द का उत्कंठा पूर्वक पान करें ।

आज कल का अभिव्यञ्जनावाद प्रायः वक्रोक्ति से मिलता-जुलता है। सब प्रकार से विचार करने पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कुन्तक वक्रोक्ति नामक एक पृथक् काव्य सम्प्रदाय स्थापित करने में सर्वथा समर्थ हुए थे।

वक्रोक्ति के कुछ उदाहरण

ऊधो मन न भयो दस बीस
एक हु तो सो गयो स्याम संग को अवराधे ईस। —सूर

गोपी सीधे यह नहीं कहती कि मेरा मन कृष्ण में रमा हुआ है। पर इसी बात को घुमा-फिरा कर कहती है।

पूछहुँ मोंहि कि रहहुं कँह मैं पूछत सकुचाऊँ।
जहँ न होहु तँह देहु कहिं तुमहि दिखावौं ठाऊँ। —तुलसी

राम तुम सर्वव्यापी हो यह न कह कर मुनि ने इस रूप में कह कर उत्तर दिया।

इन दुखिया अँखियान कौं सुख सिरजो ही नाँहि ।
देखे बनै न देखते अनदेखे अकुलाहि ।—बिहारी

प्रेमिका की प्रेमपिपासा का वर्णन बड़ा ही अनोखा है। जैसा ही चमत्कार है वैसा ही उक्तिवैचित्र्य । यह रचना वक्रोक्तिपूर्ण है।

यह भी एक विशाल मोतियों की लड़ी।
स्वर्ग कंठ से छूट धरा पर गिर पड़ी॥
सह न सकी भवताप अचानक गल गयी।
हिम होकर भी द्रवित रही कल जलमयी।—गुप्तजी

ओस बिन्दुओं के वर्णन में वक्रोक्ति से चारु चमत्कार की पराकाष्ठा कर दी है।

विकसित सरसिज वन वैभव मधु ऊषा के अँचल में।
उपहास करावे अपना जो हँसी देख ले पल में।

रक्ताधरों पर उज्ज्वल हासच्छटा का वक्रोक्ति विशद वर्णन है।

'एक पल, मेरे प्रिया के दृगपलक थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
देखने से दोनों का अनुराग हो गया, इसे सीधे न कह वक्रोक्ति से कहा।

हो उठी प्रतिमा सजग सजीव
प्रस्तरी द्युति में माया श्वास।
बोलने लगे स्वप्न निर्जीव
सिहरने लगे प्रकृति के भाव।—दिनकर

कवि नारी के रूप वर्णन का इच्छुक हो उठा, इसको कैसी वक्रोक्ति से—निराले ढंग से कहा। आज कल के कलाकारों की अधिकतर उक्तियाँ लक्षणा पर ही निर्भर करती हैं।

वक्रोक्ति कल्पना से अछूती नहीं रह सकती जैसा कि उदाहरणों से स्पष्ट है।

वाद के विषय में प्रसादजी का मत है कि "उसकी विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है।" जोला ने भी यथार्थवाद की परिभाषा 'कल्पना का निषेध और आदर्श का बहिष्कार' ही की है।

बेंटले और मिलेट का मत है कि "वैज्ञानिक की भाँति यथार्थवादी के लिए न सिर्फ संपूर्ण जगत् बल्कि मनुष्य भी एक यान्त्रिक गठन मात्र है। उसकी दृष्टि में उसका व्यक्तित्व वंशानुक्रम और इर्द-गिर्द पायी जानेवाली परिस्थिति की शक्तियों की अनिवार्य उपज है; उसका शरीर एक भौतिक-मानसिक यन्त्र गठन है और उसका आचरण उसके चरित्र और स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का परिणाम नहीं, बल्कि कुछ ऐसे रासायनिक और भौतिक क्रियाओं का परिणाम है जिनपर उसका कोई नियन्त्रण नहीं।......जो यथार्थवादी इस सिद्धान्त को, उसके तार्किक परिणाम तक मानता है, उसे नैतिकता से कोई सरोकार नहीं।"

भारतेन्दु के समय यथार्थवाद की ओर आकृष्ट होने का एक आकर्षक वातावरण तैयार हो गया था। सदियों से पूर्व के महान् चरित्रों के गाथा-गायन में वर्तमान जीवन का व्यक्तित्व पिस रहा था। दैवी शक्तियों के महत्त्व घट रहे थे, फलतः मानवता जाग रही थी। निपीड़ित मानवता की साँस हुँकार होकर प्रकट होना चाह रही थी; किन्तु इस वातावरण में आत्म प्रकाश करनेवाली यथार्थवादिता मानवी विवशता, वेदना और अभावों को मार्मिक रूप में व्यक्त करनेवाली होती है। जीवन में आलोक-अंधकार का विचित्र समन्वय है, उत्थान-पतन का समावेश है, मानवी दुर्बलतायें हैं; किन्तु इन बातों के बावजूद यथार्थवादिता हमें जीवन के संघर्ष से विमुख नहीं बनाती। वास्तव में यथार्थवादी साहित्य का उद्देश्य यह होना चाहिये कि उसकी सहायता से हम जनसाधारण के अभावों का पीड़ा, उसकी वास्तविक स्थिति के मूल में पहुँच सकें। यथार्थ का आदर्श से कहीं विरोध नहीं।

प्रेमचन्द जी का कहना है कि यथार्थवाद का यह आशय नहीं है कि हम अपनी दृष्टि को अंधकार की ओर ही केन्द्रित कर दें।

अंधकार में मनुष्य को अंधकार के सिवा सूझ ही क्या सकता है। साहित्य के लिए इस वाद का विशेष मूल्य है; किन्तु वर्तमान में जिस यथार्थवादिता की उपासना की जा रही है, यह सर्वथा अनपेक्षित है। वास्तव में साहित्य के क्षेत्र में यथार्थ और आदर्श का संबंध अन्योन्याश्रय है। साहित्य के लिए दोनों का समान मूल्य है। एक पाँव टूट जाने पर आदमी किसी तरह चल तो सकता है, पर अंग-भंग हो जाने से उसकी गति कम होगी, चलने में उसे असुविधा होगी और सर्वोपरि यह कि वह लँगड़ा हो जायगा। साहित्य की हालत भी इन दोनों में से एक को परित्याग कर ठीक ऐसी ही होगी। साहित्य उस अवस्था की प्रतिक्रिया है, जो वस्तुजगत् और कवि-हृदय के संयोग से होती है। कवि-मन के दर्पण में यथार्थ जगत् का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस मन की सजीवता से सरस होकर जो वाणी कवि-कंठ से निःसृत होती है, वही साहित्य है। इस तरह साहित्य न तो यथार्थ की प्रतिच्छवि रह जाता है, न उसका विरोधी।

अब विचारणीय यह रहा कि साहित्य का सच्चा उद्देश्य क्या है। साहित्य एक कला है, क्योंकि कवि के मन की सजीवता से वह सतत अनुप्राणित है और वह स्थूल के आधारभूत होकर भी सूक्ष्म भावों को मंदाकिनी है। फलतः इसका कोई उद्देश्य होना चाहिये। विलायत के विश्वविख्यात यथार्थवादी कलाकार ऑस्कर वाइल्ड के अनुयायी ख्यातनामा नाटककार बर्नार्ड शा की राय है—"सुन्दरता, संगीत तथा स्वच्छता की ओर कला हममें सुरुचि उत्पन्न करे, हमारे चरित्र और व्यवहार को समुन्नत करे, हमारे भीतर न्याय, सहानुभूति और आत्म-दर्शन की भावना उत्पन्न करे। हमारे अन्तर में विवेक, आत्म-निर्भरता संयम की दृढ़ता का समावेश करे। वह हमारी क्रूरता, नीचता, अन्याय-भावना, भौतिक आत्मप्रशता और आलसता के प्रति घृणा का संचार करे। सच्चा कलाकार तो वही है, जो मानव-मन में मानसिक और नैतिक भावनायें जाग्रत करने में समर्थ है।"

साहित्य के उद्देश्य के विषय में टाल्सटाय, रवीन्द्रनाथ, प्रसाद, प्रेमचन्द, लगभग सभी की यही राय है। ये साहित्यिक ऐसे रहे हैं, जिनकी कृतियों में यथार्थवाद और आदर्शवाद, दो में से किसी भी वाद का विरोध नहीं किया गया। इन्होंने मंज़िल यथार्थवाद की खड़ी की; किन्तु उसके शिखर पर आदर्श का झंडा फहराया। आदर्श

विना यथार्थ के रूप नहीं पा सकता और विना आदर्श के यथार्थ मुकुटहीन राजा है। यथार्थ की मूल बात है—यह जीवन है और आदर्श की आत्मकथा है—जीवन को ऐसा होना चाहिए। जीवन में दो अंश हैं—एक आकार, दूसरी आत्मा। मनुष्य के शरीर का कोई अस्तित्व न हो, यदि उसके अन्दर चेतन आत्मा की अवस्थिति न हो। यथार्थ साहित्य की हड्डी-पसली है, आत्मा वाणी। यथार्थ फूल है, आदर्श खुशबू। यथार्थ रूप है, आदर्श वाणी।

यथार्थ ही साहित्य की एक आधार-वस्तु नहीं हो सकता। जीवन का जो सत्य है, वही काव्य का सत्य नहीं। काव्य के सत्य की एक खास बात है कि उसमें जीवन का रूप कुछ परिष्कृत होकर स्थान पाता है। उसे परिष्कृत करने का कार्य, उत्तरदायित्व कवि का है। जीवन में जितनी घटनायें घटती हैं, साहित्य में वे सबकी सब न तो समा सकती हैं और न साहित्य में उन सबका ही कोई मूल्य है। कवि का अनुभूति प्रवण हृदय उन्हें काट-छाँट कर उपयोगी अंश भर को ही ग्रहण करता है। जिन बातों या घटनाओं से साहित्य को अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में मदद मिलती हैं, वे ही घटनायें उसमें स्थान पा सकती हैं। साहित्य की दुनिया में जो वस्तु जादू की लकड़ी का काम करता है, वह है कवि-कल्पना। कल्पना वास्तव में सोने का 'पान' चढ़ा देती है और अपने वास्तव तथा वास्तव को मार्मिक बना देती है। यथार्थ जगत् को हम नित्य आँखों से देखते हैं; किन्तु उनसे हम स्वभावतया मुग्ध और प्रभावित नहीं होते। साहित्य में मुग्धकरी शक्ति रस और प्रभाव प्राणों की सजीवता के आरोपित होने से आता है। इन दोनों में कवि-कल्पना और उसकी आत्मानुभूति काम करती है। कवि यथार्थ का ग्रहण करता है पर उसे यथार्थ के रूप में ही अविकल नहीं परोस देता, उसमें मन और भावों की छवि मिला देता है। इसलिए साहित्य यथार्थ की नकल तो कदापि नहीं और न वह सर्वथा कल्पना-प्रसूत अलौकिक ही है। उनमें दोनों का आदर्श समन्वय है।

कई लोग कहते हैं, जो प्रत्यक्ष है, वही सत्य है और जो आदर्श है, वह स्वप्न यानी अप्राप्य है। किन्तु अगर प्रत्यक्ष भर ही सत्य होता तो सृष्टि में यह गतिशीलता ही नहीं होती। महाकवि शेक्सपीयर ने लिखा है, Three are mone things horatio between

है। यही साहित्य का आदर्शवाद है, जिस पर मानवता का विकास अवलंबित है। केवल यथार्थ में पड़े रहने का अर्थ तस्वीर के एक ही रूख से परिचित होना है। जो वर्तमान में उलझकर भविष्य की चिन्ता नहीं करते, वे दूरदर्शी तो नहीं ही हैं उन्हें सच्चा मानव भी नहीं कहा जा सकता। जो जीवन निर्माण की ओर अनुक्षण अग्रसर नहीं होता, वह जीवन क्या। इसी प्रकार यथार्थमात्र का परिचय देकर आदर्श-जीवन का निर्देश न करनेवाला साहित्य निर्जीव है, साहित्य ही नहीं है।

पाश्चात्य देशों में साहित्य का उद्देश्य सिर्फ विशुद्ध मनोविनोद मान लिया गया है, और वहीं की हवा हमारे यहाँ भी आ पहुँची है। और विषयों में जिस प्रकार हम परमुखापेक्षी हैं, साहित्य के क्षेत्र में हमारी उस दीनता का व्यतिक्रम नहीं; किन्तु भारतीय परंपरा में साहित्य के दो प्रधान उद्देश्य मनोनीत हुए हैं—रस-सृष्टि और मानसिक वृत्तियों का नियमन। साहित्य में जीवन की विफलता के वजाय सफलता का निरूपण होता है। साहित्य मानव हृदय की विभूति है, जिसके द्वारा जगत् स्वर्गीय सुषमा और दीप्ति से समुद्-भासित होता है। यथार्थ चित्रण में नग्नता ही सत्य समझा जाता है; किन्तु आदर्श नग्नता को सत्य का परिधान देता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि आदर्शवाद के अनुयायी मानवीय दुर्बलताओं को, उसके अंधकार को स्वीकार ही नहीं करता और कल्पना की सहायता से अलौकिक कुछ की सृष्टि करता है। आदर्शवादी साहित्य का काम वर्तमान जीवन की अनेक वीभत्स-ताओं, कड़वे अनुभवों और विफलताओं के सहारे उन सुखद क्षणों का स्वरूप उपस्थित करना है, जो आशातीत है और जिस उन्नत भविष्य की आशा पर जीवन हलकोरों के बीच भी कमल की तरह निर्लिप्त रह सकता है। वह पतन का मार्मिक चित्र उपस्थित करता है, लेकिन उस पतन की मूल स्थिति को भी नहीं भूलता और तदनुसार उसकी मुक्ति का, उत्थान का भी निर्देश करता है।

प्राचीनतावाद-नवीनतावाद, आदर्शवाद-यथार्थवाद, समष्टिवाद-व्यष्टिवाद, इस प्रकार के विरोधात्मक शब्द हम लोगों को बहुत प्रिय लगते हैं। परन्तु (इनके सम्बन्ध में) पूरी जानकारी प्राप्त कर लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विरोध मूलतः असत्य है। विचारों के विकास में इस प्रकार के तीव्र विरोध और विलगाव के लिए कोई स्थान नहीं है।[1]

दूसरी किरण

उपयोगितावाद

मनुष्य साधारणतया मन और तन, इन दोनों के संयोग से मनुष्य है। केवल मन या केवल तन मनुष्य का रूप नहीं। अतः तन, मन, दोनों ही का पुष्टि-साधन मनुष्य के लिए आवश्यक है। यही उसका कर्तव्य हो जाता है। तन की रक्षा और पुष्टि के लिए अन्न-वस्त्र है और मन की रक्षा एवं पोषण के लिए साहित्य। मन की जो आवश्यकता है, उसे हम साधारणतया इसलिये टाल देते हैं, कि वह सूक्ष्म है। जीवन की साधारण आवश्यकतायें मोटी हैं। अतएव हम उन्हें ही प्रधान मान लेते हैं; किन्तु दोनों ही हमारी आवश्यक आवश्यकतायें हैं और यह हमारा स्वभाव हो गया है कि दोनों के सामंजस्य का निर्वाह करते हुए हम आगे बढ़ते हैं। हम आनंद में उपयोग और उपयोग में आनंद ढूँढ़ने के आदी हो गये हैं। जो हमारे लिये सौंदर्य है, वही मंगलमय भी है और जो मंगल है, वही सौन्दर्यमय भी है।

काव्य के विषय में भी यह मतभेद बहुत पहले से चला आ रहा है। एक काव्य को शुद्ध सौंदर्य और दूसरा उसे उपयोगी देखने के लिए आपस में वाद-विवाद करते रहे हैं। चित्रकार रैफेल ने एक

---

1 "We love our antetheses; Classiesm-nomavticism; idealism-realism; collectivism-individualism But with fuller knowledge comes clearness that such antetheses are inhenently unneal, the evolution of thought (admits of ?) no such shart contnast; no such hard and fast lines."

The genesis of Romantic theory by Robrrtson.

स्थान पर कला-वस्तु के इस मतभेद पर बहुत ही सुंदर लिखा है कि जब सत्य की खोज में लोग मन्दिर में पहुँचे, तो पुजारिन ने उन्हें पीने के लिए एक तरह की मदिरा दी। वह मदिरा किसी को मीठी, किसी को कड़वी और किसी को तीती लगी। मदिरा एक थी; किंतु स्वाद भिन्न-भिन्न। इसी तरह कला की किसी भी वस्तु का मूल्य आँकने में मतभेद पाया जाता है।'

भारतीय काव्य-धारा में ऐसे मतभेद की गुंजाइश न थी। यहाँ तो शुरू से ही काव्य का धर्म और उद्देश्य महत् रहा है। पाश्चात्य समीक्षा के प्रभाव से ही यहाँ भी आजकल दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त चल पड़े हैं। मैथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की व्याख्या माना। उन्होंने यहाँ तक बताया कि जो काव्य सुनीति का विरोधी है, वह जीवन का विरोधी है, जो काव्य नैतिकता की ओर से उदासीन है, वह जीवन के प्रति उदासीन है। वर्ड्सवर्थ आदि कवियों ने भी सुनीति-साधित जीवन की प्रेरक शक्तियों को ही काव्य का प्रधान गुण माना। टालसटॉय, रिचर्ड्स आदि विद्वानों ने भी स्वीकार एवं प्रतिपादित किया कि सच्चा काव्य वही है, जो जीवन के आदर्श को शक्तिशाली ढंग से रूप देता हो एवं यह बताता हो कि कैसे जीना चाहिये। वाल्टर पेटर आर्नल्ड के समकालीन थे। उन्होंने इस उपयोगितावाद को मान्य नहीं समझा और शुद्ध सौन्दर्य उद्बोधन को ही काव्य का लक्ष्य माना। अब विचारणीय यह है कि काव्य में सौंदर्य चाहिये या उपयोगिता? हम तो कहेंगे दोनों ही। शुद्ध सौंदर्य न तो उपयोगिता से रहित है और न उपयोगिता सौंदर्य से। इसीलिये तो भारतीय काव्य-दृष्टि से काव्य का चरम लक्ष्य सत्य, शिव, सुंदर की प्रतिष्ठा है। ईश्वर को भी हमने उनके कार्यों के विचार से त्रिमूर्ति स्वीकार कर लिया है। उन्हें हम खंड-खंड करके नहीं देख सकते। उनके एक ही रूप का तीन परिचय है। काव्य के भी ये तीनों गुण—एक हैं। प्रत्येक एक में बाकी दो की अवस्थिति है।

उपयोगितावाद और-और देशों की तरह आज हमारे यहाँ भी आलोचना की वस्तु है। प्रेमचंद, प्रसाद, शुक्ल जी आदि विद्वान् काव्य के लिए उपयोगिता का स्थान सदा महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं। —धीन धारा में — ऐसे वि दि यों दिये — पा

हाँ, इसके अनंतर दो और बातें विचारणीय रह जाती हैं। कला नीति-प्रवण हो, या नीति-निरपेक्ष। ये दोनों बातें भी आज की प्रमुख समस्या हैं और इनका निराकरण नहीं हो सका है। कोई नीति के पुष्ट पोषक हैं और कोई विशुद्ध आनंद को सब कुछ मानते हैं। काव्य नीति ग्रंथ हो, यह तो हम भी नहीं मानेंगे; किन्तु नीति, तत्त्व और शिक्षा का काव्य में प्रवेश निषेध है, इसे भी हम मानने को तैयार नहीं। क्योंकि चाहे आदर्शवादी हो, चाहे यथार्थवादी, वह सुन्दर का साधक अवश्य होगा। और जो सुन्दर को चित्रित कर सकता है, वह अज्ञात रूप से ही बहुत कुछ दे जाता है। तुलसीदास ने रामायण की रचना को स्वांतः सुखाय तो कहा है; किन्तु ज्यों-ज्यों हम उनके पदों में डूबते हैं, तो पाते हैं कि उन्होंने जनता के लिए ही उसकी रचना की है। वास्तव में कला के विधान-काल में समुदाय को लक्ष्य बनाना कोई भी कलाकार नहीं भूलता। जो पशुता के एक नग्न चित्र को चरम रूप में चित्रित करता है, उसका भी ध्येय कभी यह नहीं होता कि वह लोगों को वैसी ही न नग्नता के लिए आमंत्रित करता हो। बल्कि उसकी ऐसी चेष्टा इसलिये होती है कि मनुष्य उस पाशविकता से परहेज करे। यह और बात है कि जयानी वह अपनी चेष्टा को लक्ष्य या सिद्धान्त के रूप में नहीं मानता हो।

रूस के ऋषि टालसटाय कला के लिए नीति को ही उद्देश्य मानते थे। उनकी राय थी, कला मानवता की एकता का साधन है। प्रेमचंद भी कला का आदर्श महान मानते थे। रवीन्द्र और महात्मा गाँधी ने भी लोक-कल्याण की कसौटी पर कला को कसा है। महात्मा जी ने लिखा है—"हममें जो सद्भाव सोये हैं, उन्हें जागृत करने की शक्ति जिसमें है, वही कवि है। सब कवियों का असर सबों पर एक-सा नहीं होता; क्योंकि सबमें सारी सद्भावनायें समान परिमाण में नहीं होतीं।'

रुचि व्यक्ति के हिसाब से भिन्न-भिन्न हुआ करती है। इसलिए यह कोई बात नहीं कि हर कविता हर किसी को रुचे। अपनी रुचि के अनुसार एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति को अच्छी बुरी लगती है। इसीलिये गेटे की कविता की निंदा करनेवाले कुछ लोगों को कार्लाइल ने कहा था—'आप उस आदमी की बात न भूल जायें, जिसने सूर्य को इसलिए भला-बुरा कहा था कि उससे उसकी सिगार

न जली।' इस स्वार्थ की संकीर्ण सीमा से बाहर कविता से मानवता के कल्याण की आशा तो की ही जा सकती है। काव्य की शक्ति यह है कि वह सांसारिक सत्य के प्रति हमारी संवेदना और प्रतीति को जगाती है। धर्म आदि कोई भी ऐसा विषय नहीं, जो समग्र मानवता को बिखरे हुए-से एक धागे में पिरो दे। मानव भावों की सीमा में एक है। भावों का क्षेत्र ही विश्व-मानव के मिलन का पवित्र तीर्थ है। वर्ड्सवर्थ ने इसीलिए कहा है—'जो वस्तु हृदय से निकलती है वह हृदय को छूती है।' काव्य की इस शक्ति और इस आदर्श को तो हमें मानना ही पड़ेगा।

चौथी किरण

दुःखवाद

आधुनिक हिन्दी कविता की आत्मा वेदना की करुण रागिणी से ध्वनित है! साहित्य के शुभ चिन्तकों की दृष्टि में काव्य पर दुःख का दारुण बोझ अनपेक्षित ही नहीं, हानिकर भी है। फलतः यह असंतोष धीरे-धीरे विद्रोह भावना में बदलने लगा है और लोग इस भावधारा के विरुद्ध तीखी आवाज भी उठाने लगे हैं।

तर्क की कसौटी पर इस बात को कसना कि वेदना ही कविता कि एकमात्र आधार वस्तु है, उपहासास्पद होगा; किन्तु यह कहना किसी भी दशा में असंगत न होगा कि कविता की अन्तश्चेतना वेदना की उपेक्षा कदापि नहीं कर सकती।

विश्व जीवन की वीणा में जो मूल सुर आदि काल से झंकृत है वह करुणा ही की रागिणी है। इसीलिये संसार के किसी भी देश और काल के कवि अपने को वेदना के वरदान से वंचित नहीं रख सके हैं। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य भी दुःखवाद से अभिभूत है। अधिकांश भारतीय दर्शन भी दुःखवाद ही पर प्रतिष्ठित है। पंत का कहना है कि कविता का जन्म वेदना से ही होता है—

वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आँखों से चुपचाप वही होगी कविता अनजान।—पंत

क्रौंच की वियोगव्यथा की मार्मिकता से ही आदि कवि वाल्मीकि के कंठ से वेदनाविद्ध हृदय की भावना छंद-बद्ध होकर सर्व प्रथम आविर्भूत हुई थी। मानव हृदय को वही कविता तीव्रता से छू सकती है जो वेदना भार से अवनत हो। काव्य में वेदना के गीत ही श्रेष्ठ हैं। वास्तव में विश्व जीवन का सर्वापेक्षासुर वेदना है। विश्व की अन्तश्चेतना की जागृति व्यथाविद्ध है, संसार में जो दुःख का साम्राज्य है, वह अपराजेय है। संसार का एक-एक क्षण, एक-एक कण दुःख की पीड़ा से, अभावों की ताड़ना से अनुप्राणित है। इसीलिये अभावों से अभिभूत इस सृष्टि का जीवन संगीत वेदना है। पंत ने लिखा है—

विश्व का काव्य अश्रुकरण।

दुःख का आध्यात्मिक पहलू बड़ा ही मार्मिक है। वेदना की अनुभूति जब तीव्र हो जाती है तब मनुष्य की अहं भावना लुप्त हो जाती है। फिर या तो वह सब का या अनादि पुरुष का हो जाता है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक कविता में लिखा है "आँखों में जैसे बरसात उतरती है, हमारे प्रियतम का रथ वैसे ही हृदय मंदिर के द्वार पर आ लगता है" अर्थात् हम वेदना की भावना में दीन होकर ईश्वर की शरण लेते हैं और वह हमारी खबर लेता है। कबीर ने भी इसीलिये सुख के बदले दुःख की यों कामना प्रकट की है—

सुख के माथे सिलि परै नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख की पल-पल नाम रटाय॥—कबीर

त्रिपाठी जी ने इसीसे ईश्वर की झाँकी—दर्शन की यों कल्पना की है—

न होती आह तो तेरी दया का क्या पता होता,
इसीसे दीनजन दिनरात हाहाकार करते हैं।
हमें तू सींचने दे आँसुओं से पंथ जीवन का,
जगत् के ताप का हम तो यही उपचार करते हैं।
तुझे हँसता हुआ देखें किसी दुखिया के मुखड़े पर,
इसीसे सत्पुरुष प्रत्येक का उपकार करते हैं।

रामनरेश त्रिपाठी

सुख दर्प और दंभ का देवता है और वेदना दीनता और नम्रता की देवी। दुःख ममत्वबोध का उत्पादक है। अतएव वेदना विश्व-एकता की आदि जननी है। सुख ईर्ष्या परायण होता है। फलस्वरूप वह हरी-भरी दुनिया एकाकी बना छोड़ देता है। वेदना की आत्म-चेतना बहुतों को अपनी छाया में अनायास ले लेती है। महादेवी वर्मा का कहना है "मनुष्य सुख को अकेले भोगने की इच्छा रखता है, दुःख को बाँटकर"। इसलिये दुःख में एक स्वाभाविक सुन्दरता और आकर्षण है। सुख वह राजा है, जिसके सम्मुख जाने की इच्छा रखते हुए भी उसका प्रताप हमें अपनी सीमा में नहीं आने देता। दुःख वह दीन भिखारी है, जो सब की समानुभूति की भीख अनायास ही पा लेता है और जिसका प्रेम सब के लिए सुलभ है।

साहित्य जीवन, जगत् और युग के प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। काव्य में वेदना की प्रधानता युग और जीवन की देन है। आज हम एक ऐसे युग से गुजर रहे हैं, जब जीवन का प्रत्येक क्षेत्र विपद् संकुल है। हमें अपनी पूर्वस्मृति है और वर्तमान की मानवीय विवशताओं से हम क्षुब्ध हैं। हमारा भविष्य एक प्रश्न चिह्न की तरह हमारी आँखों के आगे स्पष्ट हो उठा है। त्रस्त और निपीड़ित मानवता की मौनकातरता, दलित मनुष्य की दयनीय दशा, भूख और अभावों की ताड़ना, अर्थात् धर्म, समाज, आदर्श के हर पहलू में एक अतृप्त हाहाकार है, पीड़ा और निराशा है। काव्य की लता यथार्थ जगत् और कवि के अन्तःकरण, दोनों से ही रसग्रहण कर फूलती-फलती है। जैसे कि कोई पेड़ धरती की छाती से रस खींचता हो और शून्य के आँगन में साँस लेता हो। इस प्रकार बाहर-भीतर जगत् और कवि हृदय, पृष्ठभूमि तथा अन्तरात्मा, दोनों ओर हाहाकार है। फिर इस वातावरण में पलनेवाली कविता में वेदना की वीणा का बजना स्वाभाविक है। मातम के दिनों में आनन्द की भैरवी कहाँ गायी जा सकती है ? उस देश के कवि से, जिसके हर पहलू में दीनता खुल खेल रही हो, आनन्द और उल्लास के गीतों की ही आशा कैसे कर सकते हैं ?

एक साहित्यिक सहयोगी ने वर्तमान काव्य की वेदना के छः कारण निर्धारित किये हैं। जैसे, (१) अभिव्यक्ति की अपूर्णता

(२) प्रेम का असामञ्जस्य (३) कामनाओं की विफलता (४) सौन्दर्यबोध की अस्पष्टता (५) मानवीय दुर्बलताओं के प्रति संवेदनशीलता और (६) रहस्यात्मक वियोगव्यथा। काव्य की आत्मा के सूक्ष्म विश्लेपण से संभव है अन्य कारणों का भी पता चल सके; किन्तु वेदना का मूल कारण सृष्टि के मूल तत्त्व में वेदना का होना है। वेदना की आध्यात्मिकता का निरूपण बहुत प्रकार से किया गया है। महादेवी जी कहती हैं 'जीवन विरह का जलजात'। आत्मा परमात्मा की सत्ता से अलग होकर जन्म-मृत्यु के जंजीर में जकड़ गया है, फलस्वरूप मानव का छिन्न चेतन अंश उस सपूर्णता के लिए आकुल रहता है जिसमें आजीवन विरह की रागिणी बजती रहती है। इसीसे रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "आमार भीतरे जे आछे से गो कौन विरहिणी नारी।" इसीलिये मानव जीवन का मूल उद्देश्य अपूर्णता-से-पूर्णता की ओर मृत्यु से अमृत की ओर जाना है। यही कारण है कि मानवजीवन सदा एक स्वाभाविक अभाव, अपूर्णता और वियोग की व्यथा से अनुप्राणित रहता है।

ऊपर हम कह आये हैं कि वर्तमान युग ने एक विशेप वातावरण तैयार कर दिया है, जिसमें वेदना के आधारस्वरूप जीवन के दोनों ही पहलुओं को—भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को—आन्दोलित कर दिया है। अतः वेदना का प्रभाव और मार्मिक हो गया है। युग की एक खास माँग है—विच्छिन्न मानवता का एकीकरण, एक संपूर्ण समग्र मानवता का संगठन एकीकरण की अपूर्व शक्ति वेदना में हैं, सुख, सम्पत्ति और पराक्रम में नहीं। सुख मनुष्य की काम्य की वस्तु है और दुःख जीवन की साधना है। इसीलिये प्रिय के साथ ही वह कर्त्तव्य भी है। सुख साधना का धन है और वह धन दुःखों की साधना पर प्रतिष्ठित है। दुःख से ही सुख की मिठास है। दुःख है, इसीसे सुख का स्वरूप सौम्य है। जीवन सुख

बहुत कुछ लिखा जा चुका है; किन्तु किसी मत से इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि जीवन और जगत् के अनुभवों पर अपना अस्तित्व कायम करनेवाला साहित्य जीवन और जगत् को बहुत प्रभावित करता है। ऐसी दशा में वर्तमान काव्य का क्या प्रभाव पड़ता है, यह एक अब विवेच्य वस्तु बच जाती है।

एक पक्ष का कहना है कि यह दुःखवाद हमें निरन्तर अकर्मण्य बना रहा है। क्योंकि इसमें आशा और उल्लास की कोई भी किरण नहीं है। इससे निराशा और वैराग्य फैलता है। पलायन-प्रवृत्ति जाग्रत होती है। दूसरे पक्ष की यह सुदृढ़ उक्ति है कि बाधा ही जागृति और गति का कारण है। जो साहित्य हमारी दीनता, विवशता का मार्मिक स्वरूप दिखाता है वही हमें असन्तोष के कारण पूर्ण और आशामय जीवन की ओर अग्रसर होने का निर्देश करता है। वेदनावादी कविता,कविता की महत्ता को क्षुण्ण तथा निष्क्रिय नहीं करती। इस कोटि की कविता के द्वारा जगत् का एक महान् कार्य साधित होता है—समग्र मानव की एकता। वेदना की भावना मार्मिक और व्यापक है। इसलिये कि यह प्रत्येक हृदय की वस्तु है। मानव को समानुभूति के सूत्र में परस्पर बाँध देना वेदना ही का काम है। महादेवी वर्मा के शब्दों में "व्यक्तिगत सुख विश्ववेदना में घुल कर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है; किन्तु व्यक्तिगत दुःख विश्व के सुख में घुलकर जीवन को अमरत्व देता है।"

पाँचवीं किरण

निराशावाद

काव्य में दुःखवाद की भी प्रत्यक्ष दो प्रतिक्रियायें देखने में आती हैं—निराशावाद और आशावाद।

बहुत समय निराशावाद को भी हम दुःखवाद ही समझ लेते हैं। निराशावाद के बाद की सीढ़ी या दुःखवाद की एक शाखा है। दुःख में यह कोई आवश्यक नहीं कि जीवन के प्रति विराग हो। दुःख जीवन के आस्वाद को अधिक मधुर कर देता है और वह संपूर्ण

जगत् के साथ जीवन का एक अनुपम, मधुर संयोग स्थापित करते हुए जीवन काम्य की ओर अभिप्रेरित होता है।

उसमें मर्म छिपा जीवन का
एक तार अगणित कंपन का
एक सूत्र से सब बंधन का
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता !

—महादेवी

दुःख की दारुण पीड़ा जैसे नवजीवन का मंत्र है। उसमे जीने की ममता और भी मधुर हो उठती है। सुश्री वर्मा के शब्दों में—"मनुष्य का हृदय जितनी बार करुण से द्रवित होता है, उतनी ही बार अधिक सुंदर नवजीवन ग्रहण करता है। और, जब वह इतना संवेदनशील हो जाता है कि विश्व-संगीत के सारे स्वरों की प्रतिध्वनि उसमें उठने लगती है, तब वह एक प्रकार का जीवन-मुक्त ही कहा जा सकता है, करुणा की सीमा ही मनुष्यता की चरम सीमा होगी।"

किन्तु निराशावाद में जीवन और जगत् को सुंदर और उपभोग करने योग्य देखने की आँखें नहीं होतीं। जीवन फूँकने की जो शक्ति दुःख में होती है, निराशा में उसका सर्वथा अभाव होता है। तब कवि को जग असुंदर और जीवन भार-स्वरूप प्रतीत होने लगता है और वह इस जग से पार कहीं स्वप्नलोक में अपना नीड़ बनाना चाहता है। जैसे,

वृथा रे ये अरण्य चीत्कार
शान्ति सुख है उस पार—पंत

× × ×

हमें जाना है जग के पार—
जहाँ नयनों से नयन मिले,
ज्योति के रूप सहस्र खिले
सदा ही बहती नव रस धार—
वहीं जाना, इस जग के पार।—निराला

दुःख की ऐसी प्रतिक्रिया तब होती है, जब कवि जगत् और समग्र जीवन को दृष्टि पथ के अंतराल में रखकर अपने ही दुःख को सबसे बड़ा मान लेता है। वैयक्तिक निराशा के भार से निपीड़ित हो

व्यापक क्रियाशीलता समाप्त हो जाती है। फलस्वरूप उसे सारा जग ही असार दीखने लगता है। जैसे,

विकसते मुरझाने को फूल
उदय होता छिपने को चंद,
शून्य होने को भरते मेघ,
दीप जलता होने को मंद ;
यहाँ किसका अनंत यौवन !

किन्तु जिनकी निराशा व्यक्तिगत नहीं होती, उनमें यह निस्सार व्याकुलता की गुंजाइश भी नहीं होती। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "मैं इस सुंदर भवन में, जहाँ सुख-दुख का चिर-सम्मेलन है, मरना नहीं चाहता। जीवनों के बीच में नीड़ रचकर गान करते रहना चाहता हूँ।" इसीलिये कविवर पंत ने सुख-दुख की जीवन में साथ-साथ कामना की है।

"सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन ;
फिर घन में ओझल हो शशि
औ शशि में ओझल हो घन।"

अपने ही अभावों की दीनता, अपनी ही असफलता की विवशता जब कवि के आगे मुख्य हो उठती है, तो वह न केवल एक संकुचित सीमा में आबद्ध हो जाता है; बल्कि जीवन की उसकी साधना निष्फल जाती है। लेकिन वास्तव में जीवन में निराशा की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। निराशा की जो चरम सीमा होती है, उसी धरातल पर आशा का नवीन अंकुर उगता है। इस प्रकार जीवन कभी निष्क्रिय नहीं होता, जीने से कभी विरक्ति नहीं होती ; किन्तु हिन्दी की वर्तमान कविता में निराशा का यह रूप भी कभी-कभी देखने को मिल जाता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य जीवन के प्रति वितृष्णा का उन्मेष कराना है। जर्मन दार्शनिक शोपनहोर ने भी निराशा पर आशा की विजय को नियम माना है। उनकी राय में निराशा सर्वदा नवीन आशा की जननी है ; किन्तु हिन्दी में कुछ ऐसे भी निराशावादी कवि हैं, जिन्हें जीवन में कहीं भी आशा की मुस्कान नहीं दिखायी देती। सर्वत्र अंधकार ही अंधकार है, रोना ही रोना है, असारता ही है। अतएव वे इस संसार को भस्मीभूत

बनाकर संतोष करना चाहते हैं। वे प्रलयकामी है। यथा—

गगन पर घिरो मंडलाकार! अवनि पर गिरो वज्र सम आज!
गरज कर भरो रुद्र हुँकार, यहाँ पर करो नाश का साज!

दुःखवाद के नाम पर आलोचकों को अगर इस कोटि की कविता से असंतोष है, तो हमें कुछ नहीं कहना; क्योंकि ऐसी कविता से साहित्य के शन्य सिद्धान्तों की रक्षा चाहे होती हो, सत्य की हत्या तो अवश्य होती है। साहित्य सौंदर्य-सृष्टि है, रस-सृष्टि है। अत: जगत् को एकांत असुंदर और असार देखना तो साहित्य की आत्मा पर कुठाराघात करना है।

६ठी किरण

आशावाद

दुःख की दूसरी प्रतिक्रिया आशा की है। जीवन में दुःख है, निराशा है, अव्यवस्था है, वेदना—सब कुछ है; किन्तु सब प्रकार की विवशताओं के बावजूद हम आशा पर जीते हैं। कविता काल के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकती; किन्तु कविता में तीनों कालों का अपूर्व समावेश है। बीते की स्मृति, वर्तमान की व्यस्तता और भविष्य निर्माण की चिन्ता, यही काव्य का वास्तविक स्वरूप है।। इसीलिये काव्य को युगनिर्माण की शक्ति का जादूगर कहा गया है। काव्य में भूत की छाया, वर्तमान का यथार्थ स्वरूप और भविष्य निर्माण का संकेत होता है। यही संकेत आशावादी कविता की आत्मा है।

निराशावादी कवि अपने वर्तमान की विवशताओं के भार से दबकर वह दूर दृष्टि खो देता है, जिसमें आगे का आलोक आभासित होता है। आशावादी कवि वर्तमान के सभी दुःखभार को इसलिये हँसता हुआ ढोता चलता है कि दूर में आलोक की शिखा है। निराशावादी जीवन की ममता खो देते हैं, आशावादी प्रतिनियत नवजीवन की आशा से उद्बुद्ध होते हैं। वे दुख को इसलिये हँस-हँस कर आमंत्रित करते हैं, क्योंकि उसी में सुख का

आलोक है। दुख को वे जीवन की कसौटी मानते हैं, जिनकी आँच में तपकर जीवन का कंचन खरा होता है—

"दुख भी तो दान तुम्हारा है।
यह जीवन चंदन की लकड़ी
घिसकर ही गंध लुटाता है,
यह जीवन मिहदी की पत्ती
पिसकर ही रंग दिखाता है;

तुम जिसे शाप कह उठे सिहर, वह तो वरदान तुम्हारा है।

—हंसकुमार, तिवारी

कविवर पंत ने भी दुःख को जीवन की कसौटी माना है—

"दुख इस मानव आत्मा का रे नित का मधुमय भोजन;
दुख के तम को खा-खाकर भरता प्रकाश से वह मन।
अपनी डाली के काँटे हैं, नहीं बेधते अपना तन;
सोने से उज्ज्वल बनते तपता नित प्राणों का घन!"

संसार एक संग्राम स्थल है और मानव जीवन एक योद्धा। इस जीने के भीषण संघर्ष में जो वस्तु जीवन योद्धा को पीठ नहीं दिखाने देती, वह है आशा। इसी स्वर्गीय आशा के बल पर संसार टिका है, जीवन क्रियाशील है। दूसरे शब्दों में आशा को हम स्वर्गीय उपादान कह सकते हैं। इस संघर्ष का रूप कवि बच्चन के शब्दों में—

यह महान् दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु, स्वेद, रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ
अग्निपथ, अग्निपथ, अग्निपथ

इसी महान् संघर्ष में जीवन को उद्बुद्ध कर गतिशील करना कविता का काम है। जीवन कर्त्तव्य विमुख न हो, कदर्यता और विभिन्न असफलताओं में उसे अमृत की एक घूँट मिल सके, यही साहित्य की आदर्श उपयोगिता है। हर्ष की बात है, हिन्दी को ऐसे अनेक कवि मिले हैं, जिनकी वाणी में बल है, ज्योति है, जीवन है, उल्लास है। नवजीवन की शक्ति फूँकने और मुक्ति-मंत्र से नव-निर्माण का पथ परिष्कृत करने की उद्बोधन वाणी भी हिन्दी की वर्तमान काव्य-धारा में हैं। निराशावाद के धरातल पर जो नयी धारा बह चली है, वह आशावाद की है। इससे हमारा

कलाकारों की कला समान आनन्द नहीं दे सकती। यह उनकी अभिव्यक्ति की शैली के कारण होता है। बहुत-से ऐसे ग्रन्थों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो केवल रचनानैपुण्य के कारण ही लोकप्रिय हुए हैं। जैसे, कादम्बरी, नैषधचरित, प्रियप्रवास, यशोधरा, पंचवटी आदि। इनमें कथा-वस्तु को नहीं, अपितु अभिव्यंजना की प्रधानता है। रोम्याँ रोलाँ, रवीन्द्रनाथ आदि ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि अभिव्यंजना के भीतर ही कलाकार यथार्थ रूप से जीवित रहता है।

अभिव्यक्ति के सब कुछ होते हुए भी वस्तु का महत्त्व एकबारगी नष्ट नहीं हो जाता। अभिव्यंजना के लिए वस्तु का भी प्रयोजन है। स्वयं क्रोसे ने भी प्रसंगवश इसकी आवश्यकता महसूस की है। वास्तव में हम कभी वस्तु को महत्त्व देते हैं, तो कभी अभिव्यंजना को। अभिव्यंजना की सफलता ही सौंदर्य-सृष्टि है।

सातवीं किरण

अभिव्यंजनावाद

इटली के दार्शनिक बेनेडिटो क्रोचे (Benedetto croce) अभिव्यंजनावाद के मूल प्रवर्त्तक हैं। इस वाद का मूल सिद्धान्त है कि काव्य में अभिव्यंजना अथवा अभिव्यक्ति-विधान ही सब कुछ है, जिसकी अभिव्यंजना होती है, अर्थात् विषय-वस्तु का कोई मूल्य नहीं।

क्रोचे के अनुसार मानव ज्ञान के दो भाग हैं—एक कल्पना-जनित और दूसरा तर्क-जनित। पहले से सहजानुभूति (Intution) और दूसरे से विचार (Concept) का निर्माण होता है। सहजानुभूति ही काव्यसृष्टि की मूल प्रेरणा है। गो कि काव्य में विचार और विचार में कवित्व अनायास आ जाता है; किंतु विचार काव्य की मूल बात नहीं। सहजानुभूति काव्य का प्राण है। यह सहजानुभूति तब उपस्थित होती है, जब हम कल्पना द्वारा जगत् के विभिन्न रूपों और क्रियाओं के उन प्रभावों का, जिनका कि ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से हम अनुभव करते हैं, विशिष्ट भावों के अनुरूप अपने अन्तः करण में बिंब उपस्थित करते हैं। सहजानुभूति होते ही अभिव्यंजना हो जाती है। इसी-लिए क्रोचे ने आकार (form) को ही प्रधानता दी है; किंतु उसने वस्तु या सामग्री को एकबारगी बाद नहीं दिया है।

क्रोचे ने सफल अभिव्यक्ति को ही कला कहा है, सफल अभिव्यक्ति को ही सौंदर्य माना है। प्रातिभज्ञान प्रज्ञान (Intuition) और बौद्धिकज्ञान में अंतर है।

प्रातिभज्ञान में एक अपूर्व शक्ति होती है कि वह दृश्यमान जगत् के नाना दृश्यों को ग्रहण कर उसे रूप और आकार प्रदान करती है। अभिव्यक्ति वास्तव में आकार देने की ही क्रिया है; किन्तु यह क्रिया साधारणतः आन्तरिक हुआ करती है। वस्तु को हम आकार से बाद नहीं कर सकते; किंतु यह तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आकृति-विधान ही अभिव्यंजना की प्रधान बात है। एक ही वस्तु का आधार ग्रहण करने पर भी विभिन्न

कलाकारों की कला समान आनन्द नहीं दे सकती। यह उनकी अभिव्यक्ति की शैली के कारण होता है। बहुत-से ऐसे ग्रन्थों के उदाहरण दिये जा सकते हैं, जो केवल रचनानैपुण्य के कारण ही लोकप्रिय हुए हैं। जैसे, कादम्बरी, नैषधचरित, प्रियप्रवास, यशोधरा, पंचवटी आदि। इनमें कथा-वस्तु को नहीं, अपितु अभिव्यंजना की प्रधानता है। रोम्याँ रोलाँ, रवीन्द्रनाथ आदि ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि अभिव्यंजना के भीतर ही कलाकार यथार्थ रूप से जीवित रहता है।

अभिव्यक्ति के सब कुछ होते हुए भी वस्तु का महत्त्व एकबारगी नष्ट नहीं हो जाता। अभिव्यंजना के लिए वस्तु का भी प्रयोजन है। स्वयं क्रोसे ने भी प्रसंगवश इसकी आवश्यकता महसूस की है। वास्तव में हम कभी वस्तु को महत्त्व देते हैं, तो कभी अभिव्यंजना को। अभिव्यंजना की सफलता ही सौंदर्य-सृष्टि है।

क्रोसे के शब्दों में—We may define beauty as successful expression or better as expression because expression when it is not successful, is not expression.

हमारे प्रातिभज्ञान में विविधता वस्तु के कारण आती है। वस्तु ही इसमें मूर्त या वास्तविक रूप धारण कर सकती है। जिस प्रातिभज्ञान को क्रोसे ने अभिव्यंजना का मूल माना है, उसकी उत्पत्ति वस्तु के बिना हो नहीं सकती। मन पर जिसका प्रभाव पड़ता है, वह या तो वस्तु होती है या दृश्य। दृश्य या वस्तु के

वाग्वैचित्र्य से बहुत कुछ है। परन्तु एक मात्र वाग्वैचित्र्य ही उसका ध्येय नहीं हो सकता। सुधांशु जी ने लिखा है—

[1]"अभिव्यंजनावाद में वाग्वैचित्र्य को जितना स्थान मिला है, उससे अधिक कलाकारों ने उसके नाम पर वाग्विस्तार किया है। वाग्वैचित्र्य हृदय की गंभीर वृत्तियों से वस्तुतः संबंध नहीं रखता और इसी कारण यह चाहे भाव पक्ष या विभाव पक्ष हो, काव्य के नित्यस्वरूप के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। इससे केवल एक मनोवृत्ति का शमन होता है।"

इसी प्रकार वक्रोक्तिवाद ही अभिव्यंजनावाद नहीं। वक्रतापूर्ण उक्ति ही वक्रोक्तिवाद का प्रधान ध्येय है। उसमें स्वभावोक्ति का स्थान नहीं, अभिव्यंजनावाद में वक्रोक्ति के साथ स्वभावोक्तियों का भी स्थान है। वक्रोक्तिवाद की तरह इस वाद का वाह्यतः अलंकार के साथ कोई संबंध नहीं।

क्रोचे ने चूंकि कला को आंतरिक या मानसिक अभिव्यक्तिमात्र माना है, इसलिये उसके सौंदर्य-विधान में नीति और उपयोगिता-वाद की मुहर नहीं लगाई जा सकती। कला और नीति अथवा उपयोगिता का प्रश्न बड़ा जटिल है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि क्रोचे के अनुसार केवल 'आन्तरिक 'अभिव्यक्ति' ही पूर्ण नहीं, वाह्य अभिव्यक्ति का भी महत्त्व बहुत बड़ा है। श्री गुलाब राय के शब्दों में—"काव्य में जिस प्रकार सौन्दर्य और नीति का विच्छेद नहीं हो सकता, उसी प्रकार और विषय का भी नहीं। आकार खोखला है कोरी सामग्री सुन्दर शैली को ही पाकर निखरती है।"

श्री राधाकृष्णन ने एक स्थान पर लिखा है—कविता की जड़ तो इसी धरातल पर लगती है, लेकिन इसके फल-फूल अनंत में लगते हैं। कलाकार का प्रधान आधार कल्पना जरूर है; किंतु कल्पना सर्वथा निराधार नहीं होती। उसका भी आधार है और आधार है वस्तु जगत् में। कला की सार्थकता उसकी प्रेषणीयता (Impression) में है, प्रेषणीयता पूर्णता में आन्तरिक और वाह्य अंग के समन्वय से ही आ सकती है। स्वयं क्रोचे ने सिर्फ

---

१ काव्य में अभिव्यंजनावाद पृ० ४७

चमत्कारों से भरे वाक्यों को अर्थहीन माना है। He who has nothing to expxess may try to hide his internal emptiness with a flood os words............ although at bottom they convey nothing.

आठवीं किरण

अभिव्यक्तिवाद और सामञ्जस्यवाद

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

अपने को भूलकर, अपनी शरीर-यात्रा का मार्ग छोड़कर, जब मनुष्य किसी व्यक्ति या किसी वस्तु के सौन्दर्य पर प्रेम-मुग्ध होता है; किसी ऐसे के दुःख पर जिसके साथ अपना कोई खास सम्बन्ध नहीं, करुणा से व्याकुल होता है; दूसरे लोगों पर सामान्यतः घोर अत्याचार करनेवाले पर क्रोध से तिलमिलाता है; ऐसी वस्तु से घृणा का अनुभव करता है जिससे सब की रुचि को क्लेश पहुँचता है; ऐसी बात का भय करता है जिससे दूसरों को कष्ट या हानि पहुँचने की सम्भावना होती है; ऐसे कठिन और भयंकर कर्म के प्रति उत्साह से पूर्ण होता है जिसकी सिद्धि सबको वाँछित होती है तथा ऐसी बात पर हँसता या आश्चर्य करता है जिसे देख सुनकर सबको हँसी आती या आश्चर्य होता है ; तब उसके हृदय को सामान्य भावभूमि पर और उसकी अनुभूति को काव्यानुभूति के भीतर समझना चाहिए। इसलिए यह धारणा कि शब्द, रंग या पत्थर के द्वारा जो अनुभूति उत्पन्न की जाती है केवल वही काव्यानुभूति हो सकती है, ठीक नहीं है।

जिस अनुभूति की प्रेरणा से सच्चे कवि रचना करने बैठते हैं, वह भी काव्यानुभूति ही होती है। सत्काव्य और असत्काव्य में—काव्य और काव्याभास में—यही भीतरी या मार्मिक अन्तर होता है कि सच्चा काव्य सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नकल करता है। न जाने कितने भाँट-कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की खुशामद में अपनी समझ में वीर और रौद्ररस लबालब भर कर बड़ी-बड़ी पोथियाँ तैयार कीं, पर उनको लोक ने

न अपनाया। वे या तो नष्ट हो गईं या उन राजाओं के वंशधरों के घरों में बेठनों में लपेटी पड़ी हैं। वे पोथियाँ सच्ची काव्यानुभूति की प्रेरणा से नहीं लिखी गई थीं। उनके नायकों की वीरमूर्ति या रौद्र-मूर्ति राम-कृष्ण की, शिवा-प्रताप की, वीर रौद्र-मूर्ति कैसे हो सकती थी? उनके उत्साह और उनके क्रोध को लोक अपना उत्साह और अपना क्रोध कैसे बना सकता था!

अभिव्यक्ति केवल और निर्विशेष नहीं हो सकती। ब्रह्म अपनी व्यक्त सत्ता के भीतर अपने 'सत और 'आनन्द' स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए असत और क्लेश का अवस्थापन करता है—अपने मंगल रूप के प्रकाश के लिए अमंगल की छाया डालता है। मंगल-पक्ष में सौन्दर्य, हास-विकास, प्रफुल्लता, रक्षा और रंजन इत्यादि हैं; अमंगल-पक्ष में निरूपता, विलाप, क्लेश और ध्वंस इत्यादि हैं। इन दोनों पक्षों के द्वंद्व के बीच से ही मंगल की कला शक्ति के साथ फूटती दिखाई पड़ा करती है। अत्याचार, क्रन्दन, पीड़न, ध्वंस का सहन जगत् की साधना या तप है जो वह भगवान की मंगल-कला के दर्शन के लिए किया करता है। जीवन प्रयत्न-रूप है, अतः मंगल भी साध्य रहता है, सिद्ध नहीं। जो कविता मंगल को सिद्ध रूप में देखने के लिए किसी अज्ञात लोक की ओर ही इशारा किया करती है, वह आलस्य, अकर्मण्यता और नैराश्य की वाणी है। वह जगत् और जीवन के संघर्ष से कल्पना को भगाकर केवल मनोमोदक बाँधने और खयाली पुलाव पकाने में लगाती है। ऐसी कायर-कल्पना ही से सच्चे काव्य का काम नहीं चल सकता जो जगत् और जीवन से सौन्दर्य और मंगल की कुछ सामग्री ले भागे और अलग एक कोने में इकट्ठी करके उछला कूदा करे।

ब्रह्म की व्यक्त सत्ता सतत, क्रियमाण है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्थावर सौन्दर्य और स्थावर मंगल कहीं नहीं; जंगम सौन्दर्य और जंगम मंगल ही है; पर सौन्दर्य की गति भी नित्य और अनन्त है और मंगल की भी। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है। सौन्दर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं। कला पक्ष से देखने में जो सौन्दर्य है, वही धर्म पक्ष से देखने में मंगल है। जिस सामान्य काव्य भूमि पर प्राप्त होकर हमारे भाव एक साथ ही सुन्दर और मंगलमय हो जाते हैं उसकी व्याख्या पहले हो चुकी

है। कवि मंगल का नाम न लेकर सौन्दर्य्य ही का नाम लेता है और धार्मिक सौन्दर्य्य की चर्चा बचाकर मंगल ही का ज़िक्र किया करता है। टालसटाय इस प्रवृत्ति भेद को न पहचान कर काव्य क्षेत्र में लोक मंगल का एकान्त उद्देश्य रखकर चले। इससे उनकी समीक्षाएँ गिरजाघर के उपदेश के रूप में हो गईं। मनुष्य मनुष्य में प्रेम और भ्रातृभाव की प्रतिष्ठा ही काव्य का सीधा लक्ष्य ठहराने से उनकी दृष्टि बहुत संकुचित हो गई जैसा कि उनकी सबसे उत्तम ठहराई हुई पुस्तकों की विलक्षण सूची से विदित होगा। यदि टालसटाय की धर्म-भावना में व्यक्तिगत धर्म के अतिरिक्त लोक-धर्म का भी समावेश होता तो उनके कथन में शायद इतना असामंजस्य न घटित होता।

अब यहाँ यह बात फिर स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कविता का सम्बन्ध ब्रह्म की व्यक्तसत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं।[1] जगत् भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है। मनुष्य का ज्ञान देश और काल के बीच बहुत परिमित है। वह एक बार में अपने भावों के लिए बहुत कम सामग्री उपस्थित कर सकता है।

सदा और सर्वत्र किसी भाव के अनुकूल यह सामग्री उपलब्ध भी नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि सबकी कल्पना इतनी तत्पर नहीं होती कि जगत् की खुली विभूति से संचित रूपों और व्यापारों की वे, जब चाहें तब, ऐसी मर्मस्पर्शिनी योजना मन में कर सकें जो भावों को एकबारगी जाग्रत कर दे। इसी से सूक्ष्म दृष्टि, तीव्र अनुभूति और तत्पर कल्पनावाले कुछ लोग कवि-कर्म अपने हाथ में लेते हैं।

प्रत्येक देश में काव्य का प्रादुर्भाव इसी जगत् रूपी अभिव्यक्ति को लेकर हुआ। इस अभिव्यक्ति के सम्मुख मनुष्य कहीं प्रेमलुब्ध हुआ, कहीं दुखी हुआ, कहीं क्रुद्ध हुआ, कहीं डरा, कहीं विस्मित हुआ और कहीं भक्ति और श्रद्धा से उसने सिर झुकाया। जब सब एक दूसरे को ऐसा ही करते दिखाई पड़े तब सामान्य आलंबनों

---

१ रहस्यवादी इससे सहमत नहीं ? ग्रंथकार

शक्ति उस क्षमा और अनुग्रह के सौन्दर्य को बढ़ाती दिखाई पड़ेगी। यदि सौन्दर्य को लें तो वह केवल व्याधि के रूप का प्रेम उभारता न दिखाई पड़ेगा ; बल्कि शक्ति-शील के योग में भक्ति, आशा और उत्साह का संचार करेगा।

न तो अन्तः प्रकृति में एक ही प्रकार के भावों या वृत्तियों का विधान है और न बाह्य प्रकृति में एक ही प्रकार के रूपों या व्यापारों का। भीतरी और बाहरी दोनों विधानों में घोर जटिलता है। इन्हीं जटिलताओं का, इन्हीं परस्पर सम्बद्ध विविध वृत्तियों का, सामंजस्य काव्य का परम उत्कर्ष और सबसे बड़ा मूल्य है। सामञ्जस्य काव्य और जीवन दोनों की सफलता का मूल मंत्र है। काव्य का जो स्वरूप महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त प्राचीन काल में तमसा के किनारे प्रतिष्ठित किया था, आज ईसा की बीसवीं शताब्दी में इंगलैंड के अत्यन्त निर्मल दृष्टि समालोचक रिचर्ड्स योरोपीय समीक्षा-क्षेत्र का बहुत-सा निरर्थक शब्दजाल और कूड़ा-करकट पार करते हुए, उसी स्वरूप तक पहुँचे हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' से

नवीं किरण

चमत्कारवाद

(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

काव्य के सम्बन्ध में 'चमत्कार' 'अनूठापन' आदि शब्द बहुत दिनों से लाये जाते हैं। चमत्कार मनोरंजन की सामग्री है, इसमें सन्देह नहीं। इससे जो लोग मनोरंजन को ही काव्य का लक्ष्य समझते हैं वे यदि कविता में चमत्कार ही ढूँढ़ा करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पर जो लोग इससे ऊँचा और गंभीर लक्ष्य समझते हैं वे चमत्कार मात्र को काव्य नहीं मान सकते। 'चमत्कार' से हमारा अभिप्राय यहाँ प्रस्तुत वस्तु के अद्भुतत्व या वैलक्षण्य से नहीं जो अद्भुत रस के आलम्बन में होता है। 'चमत्कार' से हमारा तात्पर्य उक्ति के चमत्कार से है जिसके अन्तर्गत वर्ण-विन्यास की विशेषता (जैसे, अनुप्रास में), शब्दों की क्रीड़ा (जैसे श्लेष, यमक आदि में) वाक्य की वक्रता या वचन भंगी (जैसे, काव्यार्थापत्ति, परिसंख्या, विरोधाभास, असंगति इत्यादि में) तथा अप्रस्तुत

वस्तुओं का अनूठापन अथवा प्रस्तुत वस्तुओं के साथ उनके सादृश्य या सम्बन्ध की अनहोनी या दूरारूढ़ कल्पना (जैसे उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति आदि में, इत्यादि बातें आती हैं।

चमत्कार का प्रयोग भावुक कवि भी करते हैं, पर किसी भाव की अनुभूति को तीव्र करने के लिए। जिस रूप या जिस मात्रा में भाव की स्थिति है उसी रूप और मात्रा में उसकी व्यंजना के लिए प्रायः कवियों को व्यंजना का कुछ असामान्य ढंग पकड़ना पड़ता है। बातचीत में भी देखा जाता है कि कभी-कभी हम किसी को मूर्ख न कहकर 'बैल' कह देते हैं। इसका मतलब यही है कि उसकी मूर्खता की जितनी गहरी भावना मन में है वह 'मूर्ख' शब्द से नहीं व्यक्त होती। इसी बात को देख कर कुछ लोगों ने यह निश्चय किया कि यही चमत्कार या उक्ति वैचित्र्य ही काव्य का नित्य लक्षण है। इस निश्चय के अनुसार कोई वाक्य, चाहे वह कितना ही मर्मस्पर्शी हो, यदि उक्तिवैचित्र्यशून्य है तो काव्य अन्तर्गत न होगा और कोई वाक्य जिसमें किसी भाव या मर्म-विकार की व्यंजना कुछ भी न हो पर उक्ति वैचित्र्य हो, वह खासा काव्य कहा जायगा। उदाहरण के लिए पद्माकर का यह सीधा-सादा वाक्य लीजिये—

नैनन चाय कही मुसकाय 'लला फिर आइयो खेलन होरी'।"

अथवा मंडन का यह सवैया लीजिये—

अलि! हौं तौ गई जमुना जल को,
सो कहा कहौं, बीर! बिपत्ति परी।
घहरात कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागर सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नन्द को बारो अरी,
गहि बाँह गरीब ने ठाढ़ी करी॥

इसी प्रकार ठाकुर की यह अत्यन्त स्वाभाविक चित्तव्यंजना देखिये—

वा निर मोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वै है।
बारहिबार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वै है॥

रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
देव जियै मिलिवेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गयी, जल तत्त्व सारा आँसुओं ही आँसुओं में ढल गया तेज भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कान्ति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया, अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेर कर ताका है और मन्द-मन्द हँसकर उसके मन को हर लिया है उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देव जी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकालने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है। पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गयी है।

—चिन्तामणि से

क्या कोई भावुक इन उक्तियों को शुद्ध काव्य कह सकता है?

क्या ये उसके मर्म का स्पर्श कर सकती हैं?

ऊपर दिये अवतरणों में हम स्पष्ट देखते हैं कि किसी उक्ति की तह में उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अन्तर्वृत्ति छिपी है तो चाहे वैचित्र्य हो या न हो, काव्य की सरसता बराबर पायी जायगी। पर यदि कोरा वैचित्र्य या चमत्कार ही चमत्कार है तो थोड़ी देर के लिए कुछ कुतूहल या मनबहलाव चाहे हो जाय पर काव्य को लीन करनेवाली सरसता न पायी जायगी। केवल कुतूहल तो बालवृत्ति है। कविता सुनना और तमाशा देखना एक ही बात नहीं है। यदि सब प्रकार की कविता में केवल आश्चर्य या कुतूहल का ही संचार मानें तब तो अलग-अलग स्थायी भावों की रस रूप में अनुभूति और भिन्न-भिन्न भावों के आश्रयों के साथ तादात्म्य का कहीं प्रयोजन ही नहीं रह जाता।

यह बात ठीक है कि हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, उसके मर्म का जो स्पर्श होता है, वह उक्ति के ही द्वारा। पर उक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सदा विचित्र, अद्भुत या लोकोत्तर हो—ऐसी हो जो सुनने में नहीं आया करती या जिसमें बड़ी दूर की सूझ होती है। ऐसी उक्ति जिसे सुनते ही मन किसी भाव या मार्मिक भावना (जैसे प्रस्तुत वस्तु का सौन्दर्य आदि) में लीन न होकर एक बारगी कथन के अनूठे ढंग, वर्ण-विन्यास या पद प्रयोग की विशेषता, दूर की सूझ कवि की चातुरी या निपुणता इत्यादि का विचार करने लगे, वह काव्य नहीं सूक्ति है। बहुत से लोग काव्य और सूक्ति को एक ही समझा करते हैं। पर इन दोनों का भेद सदा ध्यान में रहना चाहिए। जो उक्ति हृदय में कोई भाव जागरित कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य। जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति।

यदि किसी उक्ति में रसात्मकता और चमत्कार दोनों हों तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति में अनूठापन अधिक मात्रा में होने पर भी उसकी तह में

रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

> साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
> देव जियै मिलिवेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
> जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गयी, जल तत्त्व सारा आँसुओं ही आँसुओं में ढल गया तेज भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कान्ति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया, अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेर कर ताका है और मन्द-मन्द हँसकर उसके मन को हर लिया है उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देव जी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकालने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है। पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गयी है।

—चिन्तामणि से

रहनेवाला भाव आच्छन्न नहीं हो जाता, वहाँ भी काव्य ही माना जायगा। जैसे, देव का यह सवैया लीजिए—

> साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
> तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तन की तनुता करि॥
> देव जियै मिलिवेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
> जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जो लियो हरि जू हरि॥

सवैये का अर्थ यह है कि वियोग में उस नायिका के शरीर को संघटित करने वाले पंचभूत धीरे-धीरे निकलते जा रहे हैं। वायु दीर्घ निःश्वासों के द्वारा निकल गयी, जल तत्त्व सारा आँसुओं ही आँसुओं में ढल गया तेज भी न रह गया—शरीर की सारी दीप्ति या कान्ति जाती रही, पार्थिव तत्त्व के निकल जाने से शरीर भी क्षीण हो गया, अब तो उसके चारों ओर आकाश ही आकाश रह गया है—चारों ओर शून्य दिखाई पड़ रहा है। जिस दिन से श्रीकृष्ण ने उसकी ओर मुँह फेर कर ताका है और मन्द-मन्द हँसकर उसके मन को हर लिया है उसी दिन से उसकी यह दशा है।

इस वर्णन में देव जी ने विरह की भिन्न-भिन्न दशाओं में चार भूतों के निकालने की बड़ी सटीक उद्भावना की है। आकाश का अस्तित्व भी बड़ी निपुणता से चरितार्थ किया है। यमक अनुप्रास आदि भी है। सारांश यह कि उनकी उक्ति में एक पूरी सावयव कल्पना है, मजमून की पूरी बन्दिश है। पूरा चमत्कार या अनूठापन है। पर इस चमत्कार के बीच में भी विरह-वेदना स्पष्ट झलक रही है, उसकी चकाचौंध में अदृश्य नहीं हो गयी है।

—चिन्तामणि से

दसवीं किरण

स्वच्छन्दतावाद

जब कविता की भावधारा परम्परागत रूढ़ियों में जकड़ जाती है, और जब उसके प्राण घुटने लगते हैं, तब वह उन्मुक्त होने की चेष्टा करती है। यही चेष्टा 'स्वच्छन्दतावाद' है।

प्राचीन कविता इनेगिने छन्दों में एक सीमा बद्ध हो जाती है, जैसे कि रीतिकाल की कवित्त, सवैया और दोहे में बँधी हुई नायिका भेद और अलंकार। शृंगारिक नायिका भेद और अलंकार प्रपंच तथा कहने के लिए ऋतु-वर्णन अपनी सीमा से बाहर होते तो स्वच्छन्दतावाद को जन्म लेने का अवसर न मिलता।

स्वच्छन्दतावाद का अभिप्राय सब बातों में स्वतन्त्रता है। क्या छन्द, क्या वर्णन, क्या विषय, क्या भाव सब में पृथक्-पृथक् अपने-अपने व्यक्तित्व का बीज बोना, अपने मन के अनुकूल बनाना ही स्वतन्त्रता है। स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में अनाप-शनाप बेढंगी बातें भर दी जायँ। स्वतन्त्रता सुरुचि का परिचायक और कला प्रियता का आदर्श होना ही श्रेयस्कर माना गया है। कलाप्रियता में ये बातें होनी चाहिये। इसमें एकान्तरूप से आत्माभिव्यंजन, अन्तः चेतना की जागरुकता और भाषा, अर्थ तथा नाद व्यंजना की सहायता से कल्पना के दृश्यरूपों का चित्रण होना चाहिए। काव्य-रूप का परिवर्त्तन होना आवश्यक है। इसीसे स्वच्छन्दतावादी कवि प्रार्थना करता है।

> नव गति नव लय ताल छन्द नव
> नवल कंठ नव जलद मंद्र रव
> नव वाग के नव विहग वृन्द को
> नव पर नव स्वर दे।

स्वछन्दतावाद प्राचीन परम्पराओं और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और नूतनता के प्रति आग्रह पैदा करता है। फिर कवि प्रत्येक क्षेत्र में बधन मुक्त पक्षी की तरह कल्पना में उड़ान भरने लगता है और उसकी काव्य-धारा अबाध गति से रूढ़ियों और परम्पराओं को ध्वस्त करती हुई आगे बढ़ने लगती है। स्वच्छंदतावाद जीवन

को एक नूतन साँचे में ढाल देता है। उसके क्षुद्र और निस्सार वस्तुओं को भी महत्त्वपूर्ण बना देता है और हमारी दृष्टि उस पर मुग्ध होकर अटक जाती है। नीचे की कविता पर ध्यान दीजिए।

वह तोड़ती पत्थर
देखा मैंने उसे इलाहाबाद के पथ पर, वह तोड़ती पत्थर।
कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्यामतन, भर बँधा यौवन,
नतनयन, प्रिय कर्म-रत-मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार-बार प्रहार—
सामने तरु मालिका, अट्टालिका, प्राकार

—निराला

इस स्वच्छन्दतावाद का परिणाम यह हुआ है कि छन्द में बंधन छिन्न-भिन्न हो गये है। अनुप्रास का बंधन शिथिल हो गया है और भाव जहाँ संकुचित सीमा में आवद्ध रहता था वहाँ से उन्मुक्त होकर छोटी-बड़ी पंक्तियों में अपना प्रसार करने लगा। काव्य का प्रवाह मंथर गति से नहीं द्रुतगति से बहने लगा है और उसमें पहले से कहीं अधिक स्वाभाविकता आ गयी है। इस प्रकार काव्य-सृष्टि में निरन्तर अभिवृद्धि होने लगी है।

इस स्वछन्दतावाद का दोष वहाँ स्पष्ट रूप से दीख पड़ने लगता है, जब कि अनधिकारी अपनी पंक्तियाँ लिखता है और उसमें ऐसी अस्वाभाविक अटपटी बातें रहती हैं कि पाठकों के मन में एक उलझन पैदा हो जाती है और उसको कविता कहने में हिचक

ग्यारहवीं किरण

पलायनवाद

पलायनवाद का वहाँ जन्म होता है, जहाँ संसार की विषमताओं और दुख दुर्दशाओं से ऊबकर और उसकी मर्मकृंतक व्यथाओं से छटपटाकर सुदूर स्वप्नलोक अपना आश्रय ग्रहण करने को उन्मुख होता है। यह आश्रय ग्रहण यथार्थता से अयथार्थता की ओर ही होता है।

इसकी अयथार्थता वस्तुतः अवास्तव के रूप में है फिर भी वह उसे अपनी मानसिक भावनाओं से अनेक रंग-रूपों से सुन्दर सजाकर उसमें अपने को विभोर करना चाहता है। यह तभी होता है जब वह अपनी आशा-तृष्णा को इस पृथ्वी पर तिलांजलि दे देता है।

अयथार्थ उसके सामने दो रूपों में आता है। एक तो किसी अतीत के मधुर स्मृति के रूप में जो उसके हृदय में जागरूक रहती है और वह उसी में अपने को जकड़ देना चाहता है—जैसे,

देव दुखद है वर्त्तमान की यह असीम पीड़ा सहना।
कहीं सुखद इससे संस्मृति में है अतीत की रचना।—दिनकर

दूसरा, रंगीन कल्पना की दुनिया में की रंगरेलियां में यथार्थता को एकदम भूल जाना। जैसे—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि मुझे भी अपने मीठे गान
कुसुम से चुने कटोरों से करा दो ना कुछ मधुपान। —पंत

यथार्थ से बचकर कल्पना की ओर अग्रसर होने की प्रवृति भी आजकल के कलाकारों में पायी जाती है। जैसे—

ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी, अम्बर के कानों में गहरी
निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनीरे।—प्रसाद

पलायनवाद का उद्देश्य यह है कि हृदय में जो हाहाकार मचा हुआ है, उसे भुलाकर विश्रान्ति को पाना। क्यों कि मानव एकान्ततः आशा-निराशा, दुख-दैन्य में ही अपने को डुबो देना नहीं चाहता। वह शान्ति का भी है। पलायनवाद उसकी इस अभिलाषा को पूरा करता है।

बारहवीं किरण

रहस्यवाद

"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।"—रहस्यवाद की यह परिभाषा स्वर्गीय "प्रसाद" जी की है। उसी निबन्ध में (रहस्यवाद) आप अन्त में कहते हैं—'इसमें (रहस्यवाद में) अपरोक्ष अनुभूति, समरसता, तथा प्राकृतिक सौंदर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।'

यह भी रहस्यवाद की परिभाषा मानी जाती है—'जड़ में चेतन का आरोप कर मानवीकरण द्वारा विश्व प्राण का महा प्राण में मिलने का प्रयास।'

वास्तव में रहस्यवाद अलौकिक अभिव्यक्ति है। सीधे शब्दों में कहें, तो यह छायावाद से एक कदम आगे की चीज है। छायावाद लौकिक अभिव्यक्ति है। वह प्रकृति के साथ हमारी आत्मीयता को, उसके साथ हमारे रागात्मक संबन्ध को परिपुष्ट करता है। छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर तो बहुत बड़ा है पर दोनों के बीच की विभाजक रेखा इतनी क्षीण, इतनी धुँधली है कि बहुत लोग दोनों को एक ही वस्तु समझ लेने की गलती कर बैठते हैं। छायावाद में हम प्राकृतिक वस्तुओं में अपनी जैसी सप्राणता का अनुभव करते हैं। छायावाद की अभिव्यक्ति एक जीवन से दूसरे जीवन की अथवा आत्मा से आत्मा की होती है। जैसे—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसंत-रजनी ?

तारकमय नववेणी - बन्धन ;
शीश फूल कर शशि का नूतन ;
रश्मि-वलयसित घन-अवगुंठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी !—महादेवी

उपर्युक्त पद्य में कवियित्री ने वसंत-रजनी को केवल एक रूप नहीं दिया, उसमें जान भी फूँक दी। यह वसंत-रजनी उतनी ही सप्राण है, जितने हम।

रहस्यवाद में जिस संबन्ध की अभिव्यक्ति होती है, वह संबन्ध आत्मा से परमात्मा का होता है। छायावाद में जिस प्राकृतिक वस्तु में हम आत्मीयता का सप्राणता का आरोप करते हैं, रहस्यवाद में उसी में हम उस परम चेतन का, जो समग्र विश्व में व्याप्त है, आभास पाते हैं।' उपनिषद् के अनुसार—'आनन्दरूपममृतम् यद्विभाति'। अर्थात् जो कुछ प्रकाशित है. सब उसी का आनन्दरूप. अमृत रूप है। और इसीलिये पंतजी कहते हैं—

मृण्मय प्रदीप में दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुपम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल
ज्योतित जिनसे जग का आँगन।

रहस्यवाद को अंग्रेजी में 'मिस्टीसीज्म' कहते हैं। इसमें एक ऐसा संकेत होता है, जो एकदम स्पष्ट नहीं होता। इसके यह माने नहीं कि उसमें अस्पष्टता का दोष होता है। इसमें जिस विश्व व्याप्त चेतना का विकास पाया जाता है, उसे स्पष्ट करना शायद संभव हो, लेकिन उपयुक्त तो नहीं हो सकता। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन ने एक स्थान पर लिखा है—'रहस्य की स्थिति में ही हम जगत् से अपने संबन्ध को ठीक-ठीक जान सकते हैं।'

हिन्दी के लिये रहस्यवाद कोई नई चीज नहीं। हिन्दी के संत कवियों की वाणी में रहस्यवाद भरा है। संध्याभाषा और उलटवाँसियाँ हिन्दी में रहस्यवाद की साधना के अच्छे खासे उदाहरण हैं। आज जो रहस्यवाद आधुनिक हिन्दी कविता में विकसित है, उसे कुछ लोग बाहरी प्रभाव मानते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी लिखते हैं—"हिन्दी में छायावाद तथा रहस्यवाद की सृष्टि कुछ साहित्यिक उपादानों से भी हुई है—प्रथम तो अँग्रेजी अथवा यूरोपीय साहित्य के भाव-प्रभाव से, दूसरे बंगाली छायावाद के आकर्षण से, तीसरे कबीर की वाणी के पुनरुत्थान से।" विदेशी और बँगला के प्रभाव से हमें इनकार नहीं। अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा से प्रभावित होकर बंगाली साहित्य-साधकों ने साहित्य की एक नयी रूप रेखा खड़ी की। हिन्दी में रवीन्द्रनाथ का प्रभाव अमिट और विशेष है; किन्तु रवीन्द्रनाथ ने भारतीयता की रक्षा की है और उन पर उपनिषद् का रंग चढ़ाया है। इसलिये हिन्दी रहस्यवाद

में भारतीयता की ही छाप है। इतना जरूर है कि रहस्यवाद की अभिव्यक्ति जिस शैली में हो रही है, यह सर्वथा नवीन है। संत कवियों की साधना सगुण और निर्गुण उपासना की रही। वर्तमान रहस्यवाद में ध्येय तो वही परम चेतन सत्ता है, परन्तु अभिव्यक्ति की शैली धर्ममूलक न होकर कला प्रधान हो गयी है। वर्तमान दुःखवाद में वियोग की जो वेदना और पीड़ा है, वह भी मिलन का ही साधन है। इससे भारतीयता का क्षेत्र नहीं जाता। 'प्रसाद' जी कहते हैं—"वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें सन्देह नहीं।"

कुछ विचारक रहस्यवाद को भारत की निजीवस्तु नहीं मानते। उनकी राय में इसका मूल उद्गम सेमेटिक धर्म-भावना है; किन्तु सेमेटिक धर्म में ईश्वर की समता महान् पाप माना गया है। महात्मा ईसा को ईश्वर का पुत्र कहने पर भी उन्होंने शूली पर चढ़वा दिया था। यहूदी धर्म से प्रभावित मुसलमानों ने 'अनलहक' वाले मंसूर को सूली पर चढ़ाया था।

रहस्यवाद की धारा दो कुलों में बँधकर बहती है—धर्म और प्रेम। यह धर्म और प्रेम का मिश्रण बहुतों की राय में वैबिलोन के वाल, ईस्टर आदि देवों के मन्दिरों में रहनेवाली देव दासियों द्वारा हुआ। वैष्णवों का धार्मिक प्रेम अनुकरण है; किन्तु विद्वानों ने यह साबित कर दिखाया है कि यह भारत में ऋग्वेद के युग में मान्य हो चुका था, जिसकी महत्ता बारहवीं सदी के सूफी इब्न अरबी ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार की है। देवदासियों का प्रचार भी भारत में दक्षिण के मन्दिरों में ईस्वी सन् से सैकड़ों वर्ष पहले से था ईरान की सूफी रूबिया से बहुत पहले ही देवदासी अंदल हो चुकी थी। और प्रसाद जी तो यहाँ तक कहते हैं कि कृष्ण-प्रेम का गीत अंदल ने ही पहले-पहले नहीं गाया था, बल्कि उसके बहुत पहले ही इसका श्री गणेश हो चुका था। सबसे बड़ी बात तो ध्यान देने की यह है कि एकेश्वरवाद और आत्मवाद की प्रतिष्ठा वैदिक युग में ही हुई। खैर, यहाँ इस धारा के विकास का पूर्णतया उल्लेख किया जा सके, यह न तो संभव है, न अभीष्ट ही। इतना निर्विवाद सत्य है कि रहस्यवाद सर्वांशतः भारत की निजस्व वस्तु है।

आधुनिक हिन्दी-कविता में रहस्यवाद की सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति

हो रही है और सुन्दर रूप में इसका विकास हो रहा है। स्वर्गीय प्रसाद जी ने इसकी साधना की। अभी महादेवी, निराला, पंत आदि हिन्दी में रहस्यवाद के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी कविताओं में रहस्यवाद के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं।

तेरहवीं सदी

प्रतीकवाद

कहते हैं कि यथार्थवाद ही अपने अनर्गल और निस्सार वर्णन को सारवान बनाने के लिए प्रतीकवाद में परिणत हो गया। प्रतीकवादी अपने वर्णन से वही तात्पर्य नहीं रखता। वह उससे किसी रहस्य की ओर संकेत करता है।

प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्य में विशेषतः काव्य में अनेक वस्तुओं का उपमान के रूप में व्यवहार होता चला आ रहा है। आज इन्हें ही प्रतीक (Symbols) कहते हैं। यह व्यवहार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति आदि अलङ्कारों के अन्तगत ही हुआ है। किन्तु प्रतीक और उपमान में अन्तर है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि उपमान में सादृश्य और साधर्म्य ही अलङ्कार के उपकारक हैं पर प्रतीक भावना के जाग्रत करने में समर्थ होते हैं।

चन्द्रवदनि मृग शावक लोचनि

वदन को चन्द्र कहने से उसकी स्निग्धता, आह्लादकता, मनोहरता, शीतलता, उज्ज्वलता आदि की भावना मन में जाग्रत होती है। 'मृग शावक लोचनि' विशेषण बतलाता है कि हरिणशावक की बड़ी-बड़ी आँखों की सी सीता की आँखें हैं। इनमें पहला प्रतीक और दूसरा उपमान है। पर प्राचीन पंथी दोनों को उपमान ही कहेंगे।

सियमुख ससि भये नयन चकोरा

मुखससि और नयन चकोरा दोनों, प्रतीक हैं और प्रेमी के प्रेम की गम्भीरता प्रकट करते हैं। चकोर चन्द्रमा का प्रेमी है। इसको आप प्रतीक कहें या कवि समय ख्याति की आख्या दें।

कविगण चाहते हैं कि हमारी कविता में कम से कम शब्दों का प्रयोग हो और उससे अधिक से अधिक अर्थ निकले। वाचक शब्दों

शूलों का दंशन भी हो कलियों का चुम्बन भी हो।
सूखे पल्लव फिरते हों कहने जब करुण कहानी।
मारुत परिमल का आसन नभ दे नयनों का पानी।
जब अलिकुल का क्रन्दन हो पिक का कल कूजन भी हो।—महादेवी

इनमें शूलों का दंशन और अलिकुल का क्रन्दन दुःख के तथा कलियों का चुम्बन और पिक का कल कूजन सुख के प्रतीक माने गये हैं। इनसे सुख दुख की भावना भी बड़े सुन्दर और मार्मिक ढंग से हुई है। पर इनको सार्वभौमिकता प्राप्त नहीं है।

क्या गोचर और क्या अगोचर, दोनों प्रकार के प्रतीक होते हैं। गोचर प्रतीक काव्य में अनेक प्रयोजन सिद्ध करते हैं। जैसे—

कभी तो अब तक पावन प्रेम नहीं कहलाया पापाचार।
हुई मुझको ही मदिरा आज हाय क्या गङ्गाजल की धार।—पन्त

यहाँ गंगाजल पवित्रता का और मदिरा अपवित्रता के प्रतीक हैं। ऐसे ही कमल माधुर्यमण्डित मृदुल सौन्दर्य के, कुमुदिनी उज्ज्वल हास के, आकाश उच्चता, असीमता, व्यापकता आदि के, समुद्र गम्भीरता, अगाधता विशालता, क्षारता आदि के, स्वर्णदीप्ति तथा कान्ति के, हंस निष्पक्षता, विवेकिता आदि के प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

जब हम कहते हैं कि—

'याचक हित तुम कल्पवृक्ष सम भूप भूमि पर'

तब राजा की दानशीलता का जो रूप सामने आता है वह किसी अन्य प्रकार से संभव नहीं, क्योंकि अपनी संस्कृति के कारण कल्पवृक्ष के नाममात्र से एक ऐसी वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है जो सदा सभी कुछ माँगने पर देने को तैयार रहती है। ऐसा ही कामधेनु शब्द भी है। ये दोनों प्रतीक गोचर नहीं अगोचर हैं। फिर भी हमारे भावों को उत्तेजना देते हैं। ऐसे ही महावीर नाम वीरता के, गणेश नाम विघ्न विनाशकता तथा मङ्गलदायकता के प्रतीक हैं। इसी प्रकार अन्य देवताओं के प्रतीक सामने आने पर उनके स्वरूप और उनकी विभूति की भावना मन में जाग जाती है। ये देवगण गोचर नहीं अगोचर हैं।

नवीन कलाकार प्राचीन प्रतीकों से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे नये-नये प्रतीकों की उद्भावना कर रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे कविता

की विभूति ही बढ़ती है, रमणीयता भी चरम सीमा को प्राप्त कर जाती है और प्रेषणीयता का भी पारावार नहीं रहता।

झंझा झकझोर गर्जन था, बिजली थी नीरदमाला,
पाकर इस शून्य हृदय को सबने था डेरा डाला।—प्रसाद

इसमें हृदय के गम्भीर क्षोभ के लिए झंझाझकोर का प्रतीक आया है। हृदय में भावों के संघर्ष के लिए भी यह प्रतीक हो सकता है। वेदना की अनुभूति के लिए बिजली प्रतीकरूप में आया है। आँसुओं का प्रवाह नीरदमाला है। बादल जीवन दाता है, इससे यह आनन्दातिरेक का भी प्रतीक हो सकता है। इसमें देशगत प्रतीक ही काम में लाये गये हैं। क्योंकि भारत में ही नीरदमाला जीवनदायिनी है और योरप में विपत्तिदायिनी। अतः देश विशेष के कारण ही एक ही वस्तु दो प्रतीकों का काम देती है।

वहाँ नयनों में केवल प्रात चन्द्रज्योत्स्ना ही केवल गात।
रेणु छाये ही रहते पात मंद ही बहती सदा बयार।
हमें जाना इस जग के पार। —निराला

यह स्फूर्ति, जागृति तथा चेतना का प्रतीक प्राप्त है। चन्द्रज्योत्स्ना आह्लादकता तथा शान्ति और रेणु शीतलता तथा सुखदायकता के प्रतीक हैं।

ऐसे ही नये कलाकार, विशेषतः प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी वर्मा ने बड़ी सहृदयता के साथ प्रतीकों की निर्वाचन किया है। नवीन कवि स्फूर्ति तथा जीवन जाग्रति के लिए उषा को, जीवन के अवसाद और दुःख के लिए संध्या को, सुख और आनन्द के लिये प्रकाश को और शोक तथा खिन्नता के लिये अंधकार को प्रतीक मानते हैं। प्रकाश और अंधकार आशा और निराशा के भी प्रतीक हैं। मधुर भावनाओं के लिए मुरली और वाणी वा विद्या के लिये वीणा, हृदय के भावों के लिये वीणा के तार, संसार के लिये सागर, जीवन के लिये तरी, साहस के लिये पतवार, कुवासनाओं के

भरत कमल कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धरि।
वचन अमिय जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि। —तुलसी

अमृत को किसी ने देखा नहीं। पुराणों की पोथियों में लिखे रहने के सिवा उसका कोई गोचर रूप नहीं है। पर पुराणों की कथा से अमृत के सम्बन्ध में जो हमारी धारणा है, उसकी अलौकिक शक्ति की ओर जो हमारा आकर्षण है उससे हमारी भावनाओं को व्यञ्जित करने में बल प्राप्त होता है। इससे अमृत को प्रतीक बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। यहाँ वचन के माधुर्य, अलौकिकत्व और अमृतत्व व्यक्त करने के लिए अमिय का प्रतीक है।

रत्नसेन के मरने पर जायसी ने लिखा—

सूरज छपा रैनि होइ गई, पूरब ससि सो अमावस भई।

इसमें अंधेरी रात शोक उदासी के लिए प्रतीक रूप में आया है। इसमें सूरज भी रत्नसेन का प्रतीक ही प्रतीत होता है जिससे उसकी तेजस्विता व्यक्त होती है।

प्रतीक के दो भेद होते हैं—एक भावोत्पादक (Emotional symbols) और दूसरा विचारोत्पादक (Intellectual symbols)

तरल मोती से नयन भरे
मानस से ले, उठे स्नेह घन कसक विधु पुलकों के हिमकण,
सुधि स्वाती की छाँह पलक की सीपी में उतरे। —महादेवी

इसमें आँसुओं का प्रतीक मोती है। यह प्रतीक आँसुओं की अमूल्यता प्रतीत कराता है जिससे वेदना का भाव जाग्रत होता है।

तेरी आभा का कण नभ को देता अगणित दीपकदान।
दिन को कनक राशि पहनाता विधु को चाँदी का परिधान। —महादेवी

इसमें दिवालोक का प्रतीक कनक राशि और चन्द्रालोक का प्रतीक चाँदी का परिधान है। इनसे विचार ही उद्बुद्ध होते हैं।

यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि ये उदाहरण विशुद्ध विचार के या विशुद्ध भाव के ही हैं; क्योंकि विचारमूलक प्रतीकों में भाव का अभाव नहीं रहता और भावमूलक प्रतीकों में विचार मिला रहता है। एक में दूसरे की स्थिति रहती है, फिर यह भेद मुख्यता को लेकर ही किया गया है। पहले के उदाहरण में भाव

प्रधान और विचार गौण है और दूसरे में विचार प्रधान और भाव गौण। हमारे हिन्दी साहित्य में मोती आँसू के प्रतीक का काम सदा से करता आया है जिससे हम कह सकते हैं कि इस पर दीर्घ काल से हमारी सांस्कृतिक वासना का प्रभाव पड़ा है पर दूसरे उदाहरण के प्रतीकों में यह बात नहीं। फिर भी उनमें व्यञ्जना की सामर्थ्य अद्भुत है।

आज जो प्रतीक रूप से हंस, चातक, मोर, पतंग आदि काव्य में अजर-अमर हैं, उसका कारण सहृदय कवियों की परख ही है। जिन्होंने अप्रस्तुत या उपमान के रूप में इन्हें चुन रक्खा है। इन प्रतीकों से वस्तु के सौन्दर्य की उत्कर्षता प्राप्त होती है। प्रतीकत्व की विशेषता के कारण इन पर की अन्योक्तियाँ हृदय पर चोट करनेवाली हुई है। इनके नाम मात्र से हमारी परम्परागत भावना उद्बुद्ध हो उठती है। जैसे—

> करत न बक बक धरत न बक ध्यान
> चाल सो चलत जैसी चलत सदा से हैं।
> भूलत न बान नीर क्षीर बिलगावन की
> निज कुल कीरति के रहत उपासे हैं।
> मानसर तालवारे मोती के चुगन हारे
> 'पूरन' जहान जस जिनके प्रकासे हैं।
> झीलन में झाँकि झख मारत न जाय भूलि
> जदपि मरत हंस भूखे औ' पियासे हैं।

इस अन्योक्ति का तात्पर्य यही है कि जो कुलीन और प्रतिष्ठित हैं वे ढोंगी नहीं होते, अपनी चाल नहीं बदलते, विवेक नहीं खोते, अपने सुयश में धब्बा नहीं लगने देते और जिनका जीवन सुख से बीता है वे विपद्ग्रस्त होने पर भी अनुचित और अयोग्य कार्य नहीं करते।

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यही काल।
> अली कली ही में फँस्यो आगे कौन हवाल। —बिहारी

इस अन्योक्ति के प्रभाव की यह किंवदन्ति सभी को विदित है कि जयपुराधीश जो एक कुमारी पर आसक्त थे और राजकाज से विमुख हो गये थे, इस अन्योक्ति को समझ पूर्ववत् हो गये थे।

इन अन्योक्तियों के हंस और अली प्रतिष्ठित व्यक्ति और राजा की समता नहीं करते और न इनमें कुछ सादृश्य ही है। ये प्रतीक स्वत:सादृश्य की सामर्थ्य रखते हैं जिससे अन्योक्ति के श्रवण मात्र से अप्रस्तुत का प्रस्तुत पर आरोप हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो इनका अन्योक्ति नाम सार्थक ही नहीं हो सकता। जहाँ सादृश्यमूलक उपमानोपमेय रहता है वहाँ उपमालंकार होता है और जहाँ प्रतीक के बल पर प्रस्तुत का विधान होता है वहाँ अन्योक्ति अलंकार होता है। यद्यपि प्रतीक भी एक प्रकार के उपमान ही हैं, फिर भी इनमें यही भेद किया जा सकता है कि उपमान सादृश्य रखते हैं और प्रतीक बद्धमूल धारणा के कारण दोनों में साम्य की स्थापना कर लेते हैं। ऐसी व्यापक-भावना प्रतीक में ही हैं। अन्यत्र संभव नहीं।

वर्तमान कविता में लाक्षणिकता के बल पर ऐसे उपमानों के प्रयोग हो रहे हैं जो पूर्णतः गुणसाम्य न रखने पर भी प्रतीक का काम देते हैं। ऐसे प्रयोगों में यह लक्ष्य रखना आवश्यक है कि जिस धर्म या गुण के जिस वस्तु या प्रतीक का उल्लेख किया जाय वह उसी धर्म के गुण वा लिए सिद्ध हो। ऐसा न होने से न तो गुणधर्म की विशेषता ही प्रगट होगी और न काव्य ही चमत्कृत होगा।

शिशु का हृदय देव आवास हासचंद्रिका चारु विलास
श्रुति में मधु टपकाते बोल इसका होवे कैसे मोल ?

बच्चों का हृदय निर्विकार होता है, यह न कह कर देव आवास कह दिया; क्योंकि छल प्रपंच की जगह देवभाव का होना असंभव है। हास निर्मल होता है, इसके लिए चारु चन्द्रिका का विलास कह दिया। जैसी आह्लादिकता चारु चन्द्रिका में होती है वैसी शिशु के हास में भी वर्तमान रहती है। इनमें धर्म के स्थान में धर्मी का प्रयोग किया गया है।

धर्म के लिए धर्मी के प्रयोग में जो मनोवृत्ति काम करती है वही धर्मी के लिए धर्म के प्रयोग में भी।

बंद हुए हैं आज जेल में पुण्य हमारे पर्व।
सत्य, अहिंसा, देश भक्ति औ' भारत गौरव गर्व।

सहसा सार्वजनिक कार्यकर्ताओं और गण्यमान्य नेताओं के नजरबंद होने पर यह उक्ति है। यहाँ सत्यवादी, अहिंसक, देशभक्त, पवित्र पवसमान, गौरवशाली, गर्वस्वरूप धर्मियों के लिए सत्य, अहिंसा, धर्म आदि का ही प्रयोग किया गया है। इन प्रतीकों में लक्षणा का ही प्रभाव लक्षित है।

करुण भौंहों में था आकाश हास में शैशव का संसार।
तुम्हारी आँखों में कर बास प्रेम ने पाया था आकार।—पंत

करुण भौंहों में उच्चता का आभास था, इसके स्थान पर आकाश ही कह दिया। हास निर्विकार था, इसके लिए शैशव का संसार रख दिया, इनमें आकाश शुद्ध प्रतीक है और दूसरा लाक्षणिक प्रतीक है।

वर्तमान कवियों को पुराने बँधे-बँधाये कवि समय सिद्ध प्रतीकों से उनकी काव्य-रचना की साध पूरी नहीं होती। वे अपनी कविता में चारु चमत्कार और मनोरम रमणीयता लाने को लालायित रहते हैं और उन्होंने नये-नये प्रतीकों के उद्भावन से अपनी कविता को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है। नमूने के कुछ पद्य ये हैं—

१ जब शान्त मिलन सन्ध्या को हम हेमजाल पहनाते।
काली चादर की तह का खुलना न देखने पाते।—प्रसाद
२ कनक छाया में जब कि सकाल खोलती कलिका उर के द्वार।
सुरभिपीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार।—पंत
३ मेरे जीवन की उलझन बिखरी थीं उनकी अलकें।
पीली मधु मदिरा किसने थीं बंद हमारी पलकें।—प्रसाद
४ अरुण कलियों से कोमल घाव कभी खुल पड़ते हैं असहाय।—पंत
५ मैं तो महा अग्नि बन भभका पर तुम ना पिघलीं पाषाणी।—नि०
६ मेरे पथ पर फूल नहीं तो काँटे ही बिखराती जावो।—नीलकण्ठ तिवारी

महादेवी वर्मा ने सबसे अधिक प्रतीकों की उद्भावना की है उन्होंने अपनी कविता में जहाँ-जहाँ 'तारे' वा 'तारक' को प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया है वहाँ उनसे लौकिक भावों को ग्रहण किया है। जैसे,

इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला।
पीड़ा का सार मिलाकर प्राणों का आसव ढाला।

देवीजी ने आँसुओं का भाव मोती और ओसकण से ग्रहण किया है। जैसे,

> विश्व के शतदल पर अज्ञात
> ढुलक जो पड़ी ओस की बूँद तरल मोती सा ले मृदु गात
> नाम से जीवन से अनजान
> कहो क्या परिचय दे अनजान

देवीजी ने आत्मा के लिए प्रधानतः दीपक को प्रतीक माना है। जैसे,

> क्या न तुमने दीप बाला ?
> यह न झंझा से बुझेगा बन मिटेगा मिट बनेगा।
> भय इसे है हो न जावे प्रिय तुम्हारा पन्थ काला।

वे जीवन का अर्थ केवल तरी से ही नहीं ग्रहण करतीं उसके प्रतीक बसन्त, प्याली और लहर को भी बनाती हैं। ऐसे ही वे एक-एक वर्णनीय विषय के लिए अनेक प्रतीकों को खड़ा करती हैं। जिनका अर्थ लगाना प्रसंग पर बहुत निर्भर करता है। ऐसा करना भले ही दोष न समझा जाय पर भाव ग्रहण में भ्रान्ति होना असंभव नहीं। अर्थ ग्रहण की कठिनता तो बनी ही रहती है।

कुछ ऐसे भी उपमान होते हैं जिनमे प्रतीकत्व भी रहता है और वे सादृश्य से कविता को जितनी रमणीय नहीं बनाते उतनी अपने प्रतीकत्व से भावोत्तेजना करते हैं। जैसे,

> मुख कमल समीप सजे थे दो किसलय से पुर इनके।
> जलबिंदु सदृश ठहरे कब इन कानों में दुख किनके।—प्रसाद

सदृश शब्द साम्य का सूचक है पर उसका प्रभाव उतना नहीं है जितना किसलय जलबिन्दु के प्रतीकत्व से। यह प्रतीक वेदान्तियों का है और ब्रह्म आत्मा से निर्लेप है, इसका निर्देश करता है। यहाँ का प्रतीकत्व ही अनसुनी करने के भाव को प्रबल बनाता है।

> नयन नीलिमा के लघु नभ में अलि ! किस सुषमा का संसार
> विरल इन्द्र धनुषी बादल सा बदल रहा निजरूप अपार।—पंत

यहाँ सादृश्य का उतना प्रभाव नहीं, जितना इन्द्र धनुष का प्रतीकत्व सुषमा संसार पर रंग चढ़ा देता है।

प्रतीकवाद का दार्शनिक रूप शुक्लजी के शब्दों में निम्नलिखित है—

"यह कायदे की बात है कि कोई बात 'वाद' के रूप में किसी सम्प्रदाय विशेष के भीतर ग्रहण की जाती है तब वह बहुत दूर तक घसीटी जाती है—इतनी दूर तक कि वह सब के काम की नहीं रह जाती—और उसे कुछ विलक्षणता प्रदान की जाती है। रहस्यवाद को लेकर जो 'प्रतीकवादी' सम्प्रदाय यूरोप में खड़ा हुआ उसने परोक्षवाद (Occultism) का सहारा लिया। प्रतीक के रूप में गृहीत वस्तुओं में भावों के उद्बोधन की शक्ति कैसे संचित हुई, इसका वैज्ञानिक उत्तर यही होगा कि कुछ तो उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से, कुछ चिर परिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ परंपरा के प्रभाव से। पर रहस्यवादी इसका उत्तर दूसरे ढंग से देंगे। वे कहेंगे कि हमारे मन का विस्तार घटता बढ़ता रहता है और कभी-कभी कई एक मन संचरित होकर एक दूसरे में मिल जाते हैं और इस प्रकार एक मन या एक शक्ति का उद्घाटन करते हैं। हमारी स्मृति का विस्तार भी ऐसे ही घटता-बढ़ता रहता है और उस महास्मृति का प्रकृति की स्मृति का, एक अंग है। इस महामन और महास्मृति का आह्वान प्रतीकों द्वारा उसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार तांत्रिकों के विविध चक्रों या यत्नों द्वारा देवताओं का। इस प्रवृत्ति के अनुसार वे रचना में प्रवृत्त करनेवाली कवियों की प्रतिभा के जगाने को वही दशा कहते हैं जिसे सूफी 'हाल आना' कहते हैं; जिसमें कुछ घड़ियों के लिए कवि की अन्तःसत्ता ईश्वरीय सारसत्ता (Divine Essence) में मिल जाती है।"

इस धारणा के अनुसार काव्य का लक्ष्य इस जगत् और जीवन से अलग हो जाता है। प्रकृति के जिन रूपों और व्यापारों का कवि सन्निवेश करेगा। वे प्रतीक मात्र होंगे। कवि की दृष्टि वास्तव में उन प्रतीकों की प्रति न मानी जाकर उन अज्ञात और परोक्ष शक्तियों या सत्ताओं के प्रति मानी जायगी। जिनके वे प्रतीक होंगे यदि वे प्रकृति का वर्णन करें तो उनका अनुराग प्रकृति पर न समझना चाहिये; प्रकृति के नाना रूपों के भीतर छिपी हुई अज्ञात

और अव्यक्त सत्ता के प्रति समझना चाहिये वे भरसक इस बात का प्रदर्शन करेंगे कि उनके भावोद्गार और उनके वर्णन व्यक्त और पार्थिव के सम्बन्ध में नहीं हैं, अव्यक्त और अपार्थिव के सम्बन्ध में हैं। समझनेवाले चाहे जो समझें।

इस विवरण के अनुकूल यह उदाहरण हो सकता है—

शलभ मैं शापमय वर हूँ ;
किसी का दीप निष्ठुर हूँ।
शूल मेरा जन्म था अवसान है मुझको सवेरा
प्राण आकुल के लिये संगी मिला केवल अँधेरा
मिलन का मत नाम ले मैं स्वर में चिर हूँ।
नयन में रह किन्तु जलती पुतलियाँ आगार होंगी
प्राण मैं कैसे बसाऊँ कठिन अग्नि समाधि होगी।
फिर कहाँ पालूँ तुम्हें मैं मृत्यु मंदिर हूँ।—महादेवी

इसमें दीपक आत्मा का प्रतीक है। शलभ आदर्श प्रेमी का प्रतीक है पर देवीजी ने यहाँ शलभ को मोहमय लौकिक आकर्षण का प्रतीक माना है।

इस बात को सदा ध्यान रखना चाहिये कि प्रतीक का आधार साधर्म्य या सादृश्य, चाहे वह रूप सादृश्य हो वा गुण सादृश्य, नहीं है बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति। प्रतीकस्वरूप उपमान काव्य को बड़ा मार्मिक बना देते हैं। इस बात को भी नहीं भूलना चाहिये कि जिन प्रतीकों का उद्भावन चराचर जगत् से, किया जाय वे ऐसे हों कि भावबोध नहीं, भावोत्तेजन में समर्थ है। इसके लिए कवियों को मार्मिक और अन्तर्दृष्टि चाहिये। जो कवि ऐसी शक्ति नहीं रखते उनके प्रती को उद्भावन की चेष्टा व्यर्थ है।

चौदहवीं किरण

वस्तुवाद

कविता वस्तुजगत् और अन्तर्जगत् के पारस्परिक समन्वय की सुन्दर सृष्टि है। शरीर की अपेक्षा जिस प्रकार मन का महत्त्व अधिक है, वस्तुजगत् की अपेक्षा उसी प्रकार भावजगत् का मूल्य अधिक है; क्योंकि हमारा अदृश्य अन्तर्जगत् अपनी अनुभूतियों द्वारा ही रस-स्रोत में प्रवाहित होता है। मन का कोई स्थूल रूप नहीं कि उसे हम टटोल कर पा सकें, उसकी कोई छवि नहीं कि आँखों में हम उसे बसा लें; किन्तु, फिर भी हम मन को पा लेते हैं, उसकी भावनाओं के रूपों में। कविता उस निर्झर की तरह कठोर पर्वत के तरल मन की परिचायिका है। मानव-हृदय में भावनाओं की कमी नहीं और वे भावनाएँ एक अद्भुत आवेग से आत्म-प्रकाश करती हैं। यही है कविता। कविता आत्म-प्रकाश है, हृदय का आवेग-प्रवाह है, जिसमें हमारे भीतर का 'हम' गतिशील होकर बहता रहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कविता भावों की वस्तु है; किन्तु वह वस्तु की उपेक्षा नहीं कर सकती। क्योंकि कविता की प्राण-अनुभूति वस्तुगत होती है। काव्य-प्राण सहजानुभूति (Intuition) की मूलतया तीन प्रक्रियायें हैं—वस्तु, आकृति और अभिव्यंजना। क्रोसे ने वस्तु की अपेक्षा आकृति को प्रधानता दी है। उनकी राय में हमारे हृदय में किसी वस्तु का प्रभाव उसके रूप-बिंब के अनुरूप होता है। परन्तु सच तो यह है कि आकृति की मूलाधार वस्तु है। वस्तु के अतिरिक्त आकृति कोई वस्तु नहीं। काया के बिना छाया जैसी ही वह अनहोनी है। अभिव्यंजना वाद के प्रवर्त्तक क्रोसे ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि मानव के संपूर्ण ज्ञान के दो स्वरूप हैं—सहजानुभूति (Intuition) और विचार (Concept.)। पहले का आधार कल्पना और दूसरे का तर्क है। कल्पना भाव की जननी है, तर्क विचार का जनक। इस प्रकार हमारी कल्पना वस्तुजगत् को भाव रूप में ग्रहण करती है और तर्क विचार रूप में। लाक, बर्कले, अरिस्टॉटल

आदि मनीषियों ने इस सिद्धान्त को कुछ अपने-अपने ढंग से काट-छाँटकर ग्रहण किया है।

जो भी हो, वस्तुजगत् से कवि का अभिन्न सम्बन्ध है; किन्तु अपनी-अपनी विशेषता के अनुसार यह सम्बन्ध दो प्रकार का होता है। जब कवि की चेतना तर्क प्रधान होती है तो यह यथार्थ जगत् से विचार ग्रहण करती है और जब कवि की चेतना कल्पना से उद्बुद्ध होती है, तो वह सृष्टि से रस संग्रह करती है। इस विभेद के कारण ही कविताओं में हम एक सूक्ष्म भेद पाते हैं। वह भेद है वस्तु प्रधान और भाव प्रधान। वस्तु प्रधान कविताओं में मस्तिष्क वस्तु-जगत् में विहार करता है और भाव-प्रधान कविता में कल्पना की कोयल हृदय के उपवन में कूजती है। किन्तु, दोनों में ही वस्तु-जगत् का अपना महत्त्व है। हृदय या मस्तिष्क, कोई भी वस्तु-जगत् की उपेक्षा नहीं कर सकता। अन्तर इतना ही है कि एक उसे विचार की चलनी में छानता है, दूसरा उसे हृदय के दर्पण में विंबित करता है।

वस्तुवादी कवितायें सूक्ति प्रधान हो जाती हैं। उनमें हम अन्तरात्मा की चेतनामयी स्फूर्ति और जीवन का स्पन्दन नहीं पाते हैं। पाते हैं वस्तु का बाह्य रूप-रंग। वस्तुवादी कवि में वह क्षमता नहीं होती कि वह जड़ और चेतन को प्राणों की चेतना से अनुप्राणित कर दे। उसकी कविता तो भौतिक भार से दबकर निष्प्राण हो जाती है और, ऐसी कविताओं में ऐसा प्रभाव नहीं होता, जिसका हमारे पास स्थायी मूल्य हो। विज्ञान का आविष्कार जिस प्रकार हमारे स्थूल जीवन की क्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाता, वस्तुवादी कवितायें भी उसी तरह एक चमत्कार उपस्थित कर मौन हो जाती हैं। यहीं वे उच्चकोटि की कविताओं के आदर्श से गिर जाती हैं! सच्ची कविता वास्तव में वह होती है, जिसका सुर शाश्वत है, चिरंतन है। जो चिरनवीन, चिरपुरातन है। जिसका युग-युग एक-सा प्रभाव रहता है। ऐसी कवितायें भाव-प्रधान ही हो सकती हैं। इसलिए कविता को मानवी भावना का सुन्दर, सुघर रूप कहा गया है। वह भावों की पावन मंदाकिनी है। अमर प्रभाव, स्थायी आनन्ददान की शक्ति ही कविता की एकमात्र कसौटी है। चिरस्थायी

प्रभाव के लिए यह अनिवार्य है कि कविता हृदय-प्रधान हो, क्योंकि हृदय को हृदय के भावों की ही तलाश होती है।

वस्तुवाद और छायावाद में बहुत अधिक नहीं होते हुए भी बहुत अधिक अन्तर है। वस्तुवाद में वस्तु प्रधान है, भाव अप्रधान और छायावाद में भाव प्रधान है, वस्तु गौण। इस मानी में वस्तुवाद और छायावाद में केवल एक सीढ़ी का अन्तर है अर्थात् वस्तुवाद से छायावाद एक सीढ़ा ऊँचा है। वस्तुवादी कविताओं का आधार स्थूल होता है, छायावादी कविताओं का सूक्ष्म। एक वस्तु-उपजीवी, दूसरी भावोपजीवी है। छायावाद में स्थूलता सूक्ष्मता में और संकीर्णता विस्तृति में लय हो जाती है। एक पर सिर्फ एक विन्दु बढ़ा देने से संख्या दसगुनी हो जाती है। बहुत कुछ इसी तरह वस्तुवादी कविता से छायावाद में आसमान जमीन का अन्तर हो जाता है। छायावादो कविता में साधारणतया व्यंजना की व्यापकता आध्यात्मिक ध्वनि की प्रधानता और कल्पना की सूक्ष्मता पायी जाती है। उदाहरण के लिए वस्तुवादी रचना शरीर है, जो सुन्दर सुगठित आकार का होते हुए भी प्राणमय नहीं है, इसलिये निष्क्रिय भी है। वास्तव में आत्मचेतना ही शरीर का सौन्दर्य और जीवन है। जड़ में चेतना का आनन्द-मय विकास करना ही कवि-धर्म है। वस्तुजगत् में कवि की अपनी आत्मचेतना से ही यथार्थ में ध्वनि, रूप, रस और गंध का सन्निवेश होता है।

संक्षेप में छायावाद कवि का स्वगत कथन है और वस्तुवाद लोकगत। छायावादी कवि जब आत्मलीन होकर पूर्ण क्षणों के चिंतन में लगते हैं, तो वाणी रूप में कविता बह निकलती है। कवि पंत ने लिखा है, "कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश, ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद ही में बहने लगता, उसमें एक प्रकार की संपूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है।" वस्तुवादी कवि दृश्यजगत् के उस प्रतिविंब को ही सहृदयों के सामने रखते हैं, जो उनके हृदय की आरसी पर पड़ता है। फलतः उसमें जीवन की चेतना नहीं मिलती।

वस्तुवादी और छायावादी, दोनों ही कोटि के कवि अपने-अपने ढंग पर प्रकृति या दृश्यजगत् पर एक सजीव व्यक्तित्व का आरोप रखा करते हैं। प्रकृति में सजीवता का आरोहण साहित्य में आज कोई नयी बात नहीं, युग-युग से चली आती है। वस्तुवादी प्रकृति को पार्थिव व्यक्तित्व दान करता है और छायावादी एक व्यापक व्यक्तित्व। वस्तुवादी कविता पार्थिव स्थूलता के भार से लदी और छायावादी सूक्ष्म और सजीवता से अनुप्राणित। निम्नोक्त दो उदाहरणों द्वारा हम इस पार्थक्य को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

"री सजनि, वनराजि की शृंगार!
मुग्ध मस्तों के हृदय के मुँदे तत्व अगाध,
चपल अलि की परम संचित गूँजने की साध,
बाग की बागी हवा की मानिनी खिलवाड़,
पहन कर तेरा मुकुट इठला रहा है झाड़।
खोल मत निज पंखड़ियों का द्वार,
री सजनि वनराजि की शृंगार!'

और

"तारकमय नव वेणी बंधन
शीश फूलकर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित धन अवगुंठन
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।
विहँसती आ वसंत रजनी!

उपर्युक्त दोनों ही कवितायें एक रूप-चित्र हैं, जिनमें कवि ने प्रकृति में चेतना और सजीवता का समन्वय किया है। पहले में फूल को चेतनामय बनाकर भी कवि उसे व्यापक न बना सका। उसमें स्थूलता और संकीर्णता रह ही गयी, गोकि कवि ने कलिका को सजनि का रूप दिया। और दूसरे में वसंत-रजनी के वर्णन में यद्यपि कवि ने उसके नारी-सुलभ रूप और आभरणों का ही उल्लेख किया है, तथापि उसमें संकीर्ण मानवीय सीमा पार हो गयी है। यह रजनी सामान्य नारी नहीं रह जाती, इसमें एक अलौकिकता का आभास है। कलिका के सजनि रूप में व्यंजना की व्यापकता नहीं। उसे हम

उपवन में लहरानेवाली कली के सिवाय, जो हवा की अठखेलियों की साधन, मधुकर के दुलार, झाड़ की संपत्ति है, अधिक कुछ नहीं देख सकते। पर वसंतरजनी लौकिक रूपकों द्वारा ही अलौकिक हो गयी है। उससे हमारी सूक्ष्म चेतना सजग होती है। वस्तुवादी कविता सीमा और स्थूलता के बंधन में बँधी होती है। उसमें हमें उन्मुक्ति के सुदूर प्रसारित आनंद का अनुभव नहीं होता।

पन्द्रहवीं किरण

छायावाद

प्रसाद जी ने लिखा है—"पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के वाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।" अर्थात् जब वाह्य सौंदर्य की अपेक्षा कवियों ने अंतर्जगत की चेतना को साकार किया, तो छायावाद का आविर्भाव हुआ।

यह छायावाद कुछ आज की उपज नहीं। समय-समय पर इसकी साधना कवियों द्वारा होती रही है। कविता जब-जब भौतिक भार से दब कर अपनी आत्म-प्रतिष्ठा खोती रही है, तब-तब अंतर्जगत के कवियों ने उसे नवजीवन दान किया है। वीर-गाथाकाल में जब कविता केवल पराक्रम और शौर्य के पीछे ही डूब गयी, तो उस प्रलयपयोधि जल से आत्म-चेतना के नवीन गायकों ने नारायण की तरह उसका उद्धार किया। यह युग भक्ति का रहा, जब कवि ने अंतश्चेतना की जागरूक छवि के नंदन की सृष्टि की और भाव की मंदाकिनी में काव्य-प्रेमियों को निमज्जित किया। युग ने फिर पलटा खाया और रीति कालीन कवियों ने शरीर सौंदर्य की साधना की। नखशिख की रूप-माधुरी की वेदी पर ही उन्होंने काव्य के फूल चढ़ाये; किन्तु पुनर्वार युग ने पलटा खाया। कवियों ने अंतरात्मा की सुधा-धारा से रूपमयी प्रतिमा को संजीवित कर दिया। फलतः रूप और प्राण, यही छायावाद का मूल मंत्र

है। छायावादियों ने रीतिकाल के शृंगार की अवहेलना न की, बल्कि मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा, यह छायावाद की निजी विशेषता रही।

छायावादी कवि प्रकृति की सप्राणता में अपनी आत्मचेतना का संयोग करते हैं। इस प्रकार की काव्यानुभूति समग्र विश्व के साथ कवि के हृदय को एक अविच्छिन्न संबंध से एकात्म कर देती है। प्रकृति के साथ हमारे जीवन के वर्तमान का ही संबंध नहीं, युग-युग का संबंध है। कवि रूमी ने दिखलाया है, सृष्टि के पहले मैं शून्य में था, फिर पानी में रहा, पानी से मिट्टी, फिर वनस्पति और इस तरह जाने कब तक रहने के बाद मैं इस रूप में आया। अतः प्रकृति से हमारी आत्मीयता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ने भी 'वसुंधरा', 'समुद्रेर प्रति' आदि कई कविताओं में इस संबंध का मार्मिक उल्लेख किया है। इसीलिये मनुष्य के रूप-सौन्दर्य की तुलना हम प्राकृतिक सुषमाओं से देने के आदी हैं। अगर प्रकृति से हमारी आत्मीयता, युग-युग का गहरा संबंध न रहा होता, तो गौण वस्तु से मुख्य की तुलना देने का कोई अर्थ ही न होता।

छायावादी कवि प्रकृति के मर्म का मर्मी होता है। वह विज्ञान की बाह्य-सौन्दर्य-साधना की तह में जो आंतरिक जीवन का आनंद उत्स है, उसी का मर्मोद्धार करता है। जिस प्रकार जीवों में एक ही प्राण की अनंत लहर लहराती है, ठीक उसी प्रकार समग्र प्रकृति में प्राण का एक ही आवेग व्याप्त है। मानव-प्राण और प्राकृतिक सुषमा की जीवन-धारा एक ही है। छायावादी कवि इसी संगम स्थल का सजीव गायक है, इसी प्राणमयी सुषमा का साधक है। यहाँ वह केवल अपना नहीं रह जाता, इस दिशा में उसका उसका ससीम मानवत्व असीम विश्व के साथ एक हो जाता है।

उसे प्रकृति के प्रत्येक कण में प्राणों का आलोड़न दिखायी पड़ता है, विश्व-प्राण और कवि का प्राण काव्य की इस सीमा में एकतार हो जाता है। यही छायावाद की अपनी विशेषता है कि उसने प्रकृति के साथ मानव को एक अविच्छिन्न योग-सूत्र में जोड़ दिया। श्रीमती महादेवी वर्मा ने लिखा है—"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस संबंध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था। और, जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास और सुख में पुलकित जान

पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गयी; अतः अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथ्वी के ओस-बिंदुओं का एक ही कारण, एक ही मूल्य है।"

इससे हमारा यह तात्पर्य नहीं कि छायावादी के अतिरिक्त अन्यकोटि के कवियों ने प्रकृति को छुआ ही नहीं। घाव पर मलहम लगाना और घाव के मर्मद्वार को छूना, दोनों एक ही बात नहीं। जो आँखों के आँसू पोंछता है, वह हितू अवश्य है। पर, जो आँसू के उत्स को ही बाँध कर बंद कर देता हो, वह अपना है। प्रकृति साहित्य की सहचरी सदा रही। लेकिन साहित्य में उसका सन्निवेश मात्र पृष्ठभूमि की तरह होता रहा। कवियों ने उसे दूर से देखा और ग्रहण किया उसके आवरण को; किन्तु छायावाद में कवि और प्रकृति का संबंध दृश्य और द्रष्टा का नहीं रहा। अब प्रकृति अपनी हो गयी, मन की सहचरी। कवि ने उसमें अपने व्यापक प्राणों का आरोप किया। फलतः कविता हो गयी प्रकृति से रूपमयी, जीवनमयी।

बहुत पहले भी प्रकृति में अपनी प्रेयसी का आरोप होता था। उर्वशी जब पुरुरवा के पास से चली गयी, तो उसने फूलों में उसके अधरों की लाली, नदी में उसकी चाल, सुरभि में उसकी साँस और पिक में उसकी बोली का आभास पाया। मानव और मानवेतर जीवन में एकात्म बोध की भावना भी वास्तव में पुरानी है। इसलिये छायावाद को भी हम उसी लकीर को पीटना नहीं कह सकते।

पार्थिव व्यक्तित्व और चेतन व्यापक व्यक्तित्व दोनों ही एक नहीं हो सकते। छायावाद में जिस व्यक्तित्व का आरोप पाया जाता है, वह व्यापक और आत्मचेतना से उद्दीप्त होता है। पार्थिव व्यक्तित्व आरोपण ज्ञान-विज्ञान के समीप होता है, और उसका संबंध मस्तिष्क से होने के कारण उसमें जीवन स्पर्शिता नहीं होती। जीवन स्पर्शिता तो भाव-लोक की सृष्टि में ही आ सकती है, जिसके लिए इतिवृत्तात्मकता के बजाय वस्तु में हृदय या आत्मा का संयोग आवश्यक है। जिस कविता में आत्मा की चेतना नहीं, वह कविता तो हो ही नहीं सकती। अमरीकी कवि वाल्ट ह्विटमैन ने कहा है—"उसका जन्म-स्थान आत्मा से है; अतः जिस रचना का

सर्वस्व आत्मा नहीं, कविता नहीं। कवि न तो सदुपदेश देता है और न लेता है। वह अपनी आत्मा को जानता है। इसी में वह अपना आत्मगौरव समझता है। इस आत्मगौरव के साथ उसकी सहानुभूति अनंत है। इसी भाव के कारण वह विश्व को अपने में और अपने को विश्व में देखता है।"

जग-जीवन के मर्म में प्रवेश कर अपनी आत्मा के प्रकाश से अंतर्जीवन का मार्मिक चित्र उपस्थित करना ही छायावाद का मुख्य उद्देश्य है। वाह्य सौंदर्य और स्थूल शरीर के बजाय छायावाद का संबंध अंतर्जगत • रूप और सूक्ष्म आत्मा से है। छायावादी कवि सौंदर्य का सर्वांगपूर्ण वर्णन नहीं, प्राणमय चित्र उपस्थित करता है। और उससे अपनी आत्मीयता का योग स्थापित करता है।

इस वाद की सफलता मूलतया अनुभूति और अभिव्यक्ति के ढंग पर निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, सुन्दर प्रतीक विधान, लाक्षणिकता, उपचार वक्रता आदि छायावाद का खास बातें हैं। हाँ, इन बातों की विकृति स्वानुभुतिमयी होनी चाहिये। क्योंकि प्रकृति के साथ आत्मीयता का संबंध स्थापित करना ही इसका उद्देश्य है, यह हम ऊपर कह आये हैं। जब मानव अपनी सीमा की कारा को तोड़ समग्र विश्व में अपनी ही सप्राणता का रूप देखने लगता है, तो ऐसी अवस्था उपस्थित होती है कि न तो समत्व की आत्मीयता अलग अपनी हस्ती रखती है और न मानव की वह संबंध निर्द्धारिणी चेतना का ही अपना अस्तित्व होता है। दोनों सब प्रकार से एक हो जाते हैं। इस अवस्था में जो कविता कवि-कंठ से स्वतः भावावेग से निःसृत होती है, वह छाया लिये होती है। एक उदाहरण देकर हम अपने आशय को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने घन के अश्रुमय जीवन में अपने जीवन का रूप देखा है, टूटी-स्वर-लहरी के कंपन में जीवन की समता देखी है और अपने को जगत् की धूलभरी गोद में गिरा हुआ स्वर्ग का फूल माना है। यही एकात्म रूपता छायावाद की जान है।

हिन्दी में छायावाद के प्रवर्त्तक श्री जयशंकर प्रसाद जी हैं, लेकिन साथ ही हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि पाठकों की दुनिया में यह रुचि श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी द्वारा उत्पन्न की गयी। आधुनिक छायावाद अँग्रेजी और बँगला साहित्य के प्रभाव से प्रसूत हुआ और आज भी इन दोनों साहित्यों का प्रभाव इस पर स्पष्ट है। कविता को सर्वसाधारण के बीच में लाने का सारा श्रेय काँग्रेस को दिया जायगा; किन्तु काँग्रेस के सिद्धान्त में अंतश्चेतना से कविता को प्रबुद्ध करने की क्षमता न थी। गाँधीजी ने जनता के जीवन का रूप लाया; किन्तु अंतरात्मा की पुकार सुनी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने। इसलिये, कविता के जिस नये युग की सृष्टि हुई, उसका ढाँचा गाँधी ने तैयार किया, प्राण फूँककर संजीवित किया रवीन्द्रनाथ ने।

साहित्य में भी एक के बाद दूसरा युग आता रहा है। काव्य के चारों चरण जब युगों की तरह समाप्त हुए, तो भारतेन्दुजी ने भाषा और साहित्य का संस्कार किया एवं खड़ी बोली के प्रचार द्वारा गद्य-पद्य की धारा में उसके लिए बढ़ने का नया रास्ता बनाया। द्विवेदी युग में भाषा और साहित्य का रूप कुछ और संस्कृत हुआ। भारतेन्दु युग ने रीतिकालीन पद्धति के खिलाफ एकबारगी जेहाद नहीं किया, बल्कि उससे पुष्टि का साधन ग्रहण करते हुए ही राष्ट्रीय चेतना की दीप्ति से उसे उद्बुद्ध किया। द्विवेदी युग ने रीतिकाल का लगभग वहिष्कार ही कर दिया और भक्तिकाल की भावना के लिए हृदय में जगह बनायी; किन्तु इसी युग में एक नवीन चेतना की आलोक-किरण साहित्याकाश में धीरे-धीरे उगती आ रही थी, जिसमें न पूरी शृंगारिकता थी, न भक्तिमूलक भावना का ही प्राबल्य था। इस किरण में रीति और भक्तिकाल का सुन्दर समन्वय था। यह था छायावाद का सूत्रपात। इसीलिये इस काल में दो कोटि के कवियों का अभ्युदय हुआ, एक वाह्यचेतना के कवि, दूसरी अन्तश्चेतना के।

एक ने राष्ट्रीय काव्य-साधना की, दूसरे ने छायावादी कविता की। कई कवि ऐसे भी हुए, जिनमें दोनों ही भावनाओं का समन्वय हो गया और वे राष्ट्रीय कवि होते हुए भी छायावादी कहलाये। जैसे, माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन।

छाया युग के कवियों में प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, माखनलाल आदि मुख्य हैं। यह युग कवियों की साधना से खूब विकसित हुआ। कई लोगों के विचार से हिन्दी-साहित्य के उस युग का अन्त हो गया। इस बात में कहाँ तक सत्यता है, नहीं कहा जा सकता। आज भी अनेक कवि शुद्ध छायावाद की कविता कर रहे हैं। सच तो यह है कि यह प्रयोग का युग है। युग का यथार्थ रूप अभी निर्मित नहीं हो सका है। इसलिए, इस समय 'वादों' के विवाद से ही वायुमंडल गर्म है। वह भी दिन आयगा, जब साहित्य की गंगा में एक प्रशान्त वेग और निर्मलता आ जायगी। कविता का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उसमें हम एक ही रूप देखने की आशा नहीं कर सकते। इस छायावाद के अन्तर्गत ही कितनी प्रवृत्तियाँ रूप पा रही हैं, जिन्हें हम विभिन्न नामों से पुकारने लगे हैं। प्रेम, वेदना, प्रकृति और सौन्दर्य, छायावाद के मुख्य विषय हैं। किसी भी श्रेष्ठ कविता के लिए ये आवश्यक गुण हैं। जो लोग, छायावाद को साहित्यिक अराजकता समझते हैं, वे यथार्थ में काव्य के प्रति बहुत ही संकीर्ण मनोवृत्ति रखते हैं। जिस कविता के आधारभूत विषय मानवीय उपादान हों, जिसमें सूक्ष्म अनुभूतियों की ही प्रधानता हो, वैसी कविता मानव-समाज के लिये कभी भी अहित का कारण नहीं हो सकती। छायावाद के नाम पर कुछ लोगों ने ऐसी-वैसी कवितायें भी की हैं, किन्तु उन्हीं के बल पर उसकी मूल प्रवृत्ति पर, जो वास्तव में शुद्ध-सुन्दर है दोषारोपण नहीं किया जा सकता। छायावाद की कविता जीवन से दूर नहीं।

छायावाद का ही नाम कुछ लोगों ने अस्पष्टतावाद रख दिया है। उनकी दृष्टि में छायावाद की परिभाषा है, जो धुंधला हो, स्पष्ट न हो और जिसमें वास्तविकता का अंश न हो। छायावाद का स्वरूप ऐसा कदापि नहीं हो सकता है, जहाँ कवि की अनुभूति पूरी तरह से तादात्म्य नहीं लाभ कर सकती वहाँ

उसकी अभिव्यक्ति पूर्णरूपेण स्पष्ट नहीं हो सकती। कहीं-कहीं कवि के हृदय का योग नहीं होने से भी ऐसा होता है। तब कविता भाव की अपेक्षा विचार अर्थात् मस्तिष्क के अधिक निकट हो जाती है। भावों की अभिव्यक्ति में शब्दों का निर्वाचन भी आवश्यक है। हिन्दी के छायावादी कवियों को शुरू-शुरू में इस काम में बहुत दिक्कत उठानी पड़ी है। उन्हें अनुरूप शब्द, प्रयोग के अनुसार शब्दों के अनुरूप अर्थ और छन्दों की सृष्टि भी करनी पड़ी है। अब छायावाद के लिए उपयोगी एक सुन्दर वातावरण यहाँ खड़ा हो गया है। केवल प्रकृति को यह मानकर कि यह विश्वात्मा की छाया है, काव्य में लाने का नाम भी छायावाद नहीं। उसमें आत्मा की तदाकारता और चेतन अनुभूति की अभिव्यक्ति की अपनी भंगिमा ही कविता को उसके सन्निकट ले जा सकती है।

सोलहवीं किरण

हालावाद

उमरखय्याम जैसे फारसी के कवि ने हाला, प्याला, साकी को लेकर अपनी यह विश्वविदित रुबाइयों की रचना की जिनके जोड़ की रचना फारसी या अन्य किसी भाषा में नहीं हुई। उसकी कविता की ओर लोग इतने लुब्ध-मुग्ध हुए कि अन्य कई भाषाओं में उसकी अवतारणा की, हिन्दी में भी उसके कई कई अनुवाद हुए।

हिन्दी में उमरखय्याम की रचनाओं से सबसे अधिक प्रभावित कवि बच्चन हुए, जिन्होंने रुबाइयों के अनुवाद तो किये ही साथ ही कई स्वतन्त्र मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश इत्यादि पुस्तकें लिखीं। यहीं से हिन्दी में हालावाद की चर्चा आरम्भ हुई जिसमें साकी, मधुशाला, प्याला और सुरा मुख्य वर्णनीय विषय हैं। दुखी मानव अपनी अन्तः पीड़ा के दमन-शमन में अपने को तन्मय बनाकर संसार की तिल-तिल कर दग्ध करनेवाली चिन्ताओं को भुला देता है; यही एक उसका मुख्य उद्देश्य है। जब प्याला-प्रेमियों से पूछा जाता है तो प्रायः यही यही उत्तर मिलता है कि गम गलत कर रहे हैं।

इसी बात को जब हम नाना रूपों में सामने लाते हैं तो हाला की एक फिलासफी बन जाती है और यहीं यह 'वाद' का कुछ रूप ग्रहण करता है।

हालावादी कवि हाला प्रेमियों के इसी क्षणिक सुख को लेकर अपनी कल्पना के उड़ान में ताना-बाना बुनता है और झूम-झूम कर उसका आनन्द लेता है। एक-दो उदाहरण—

प्रिये मदिरा से देना सींच
अधर मेरे होते मृत-म्लान
मरूँ तब मदिरा से ही प्राण
कराना मेरे शव को स्नान

× × ×

पिलाकर प्यारी मदिरा आज
नशे में कर दो इतना चूर
भविष्यत के भय जायँ भाग
भूत के दारुण दुख हो दूर

प्याला-प्रेम का परिणाम है कि पृथ्वी पर ही स्वर्ग का आनन्द लूटना, सौन्दर्य पर आकर्षित होना, अपने को निछावर करना, प्रेम में पागल होना, सम्राट् और साम्राज्य को भी अपने सामने कुछ न समझना, संसार की अपार सुखराशि पर प्याले को निछावर कर देना।

गाँधीजी के विचार और प्रचार के कारण हालावाद की कमर ही नहीं टूट गयी है भारत से उसकी कूच की भी तैयारी है। हाला-वाद केवल स्मृतिरूप में ही रह जायगा।

सत्रहवीं किरण

गाँधीवाद

गाँधीवाद सब वादों का सिरमौर है। इसका क्षेत्र और प्रसार विश्वव्यापी है। गाँधीवाद एक प्रकार का राजनीतिकवाद है, जिसके भीतर अन्तरात्माकी पुकार सुनना, कर्त्तव्यपालन का दृढ़ निश्चय, व्यावहारिक आदर्शवाद, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य अस्तेय, अक्रोध सद्वृतियों का प्राधान्य आदि बातें सम्मिलित हैं। विश्व-साहित्य पर गाँधीवाद का व्यापक प्रभाव पड़ा है, जिससे सर्वत्र सत्य-अहिंसा आदि की साहित्य में चर्चा हो रही है।

एक ओर साहित्यिक क्षेत्र में जैसे प्रगतिवाद, समाजवाद प्रभृति की चर्चा नये ढंग से हो रही है, वैसे ही गाँधीवाद की भी चर्चा जोर पकड़ रही है। पराधीनता की चक्की में पिसता हुआ भारत गाँधीजी के सत्य-अहिंसा द्वारा ही स्वतन्त्र हो सका है और उसके आगे शत्रुओं के शस्त्र कुंठित से खिलौने बन गये। इस सत्य-अहिंसाके दार्शनिक रूप को आधुनिक कलाकार कैसे भूल सकते हैं। समाज इस रक्तहीन क्रान्ति को कैसे भुला सकता है। हिन्दी के अनेकानेक कवियों ने अपनी सरस कविताओं द्वारा गाँधीवाद को पल्लवित, मुकुलित पुष्पित और फलित किया।

समाज को अहिंसक बनाकर अपना कार्य सिद्धकरना गाँधीवाद का ही काम था। हिंसा के विरुद्ध गाँधीवाद का दृष्टिकोण देखिये—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल,
जो सबका है वही हमारा भी है मंगल;
मिला हमें चिर सत्य आज यह नूतन होकर,
हिंसा का है एक अहिंसा ही प्रत्युत्तर। —सियारामशरण गुप्त

अहिंसा पर कविवर नैपाली की उक्ति सुनिये—

है अपूर्व यह युद्ध हमारा
हिंसा की न लड़ाई है,
नंगी छाती की तोपों के
ऊपर विकट चढ़ाई है।

तलवारों की धार मोड़ने
गरदन आगे आयी है;
सिर की मारों से डण्डों की
होती यहाँ सफाई है।

गाँधीवाद का राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व्यावहारिक, औद्योगिक आदि पहलू भिन्न-भिन्न हैं, जिनका हमारी साहित्यिक चर्चा से उतना गहरा संबंध नहीं। यहाँ हम गाँधीवाद के साहित्यिक रूपका ही दिग्दर्शन करायेंगे।

गाँधीवाद में कितनी ऐसी वस्तुएँ हैं, जिन्होंने प्रतीक का रूप धारण कर लिया है। जैसे चर्खा, तिरंगा झंडा, खादी, गाँधी टोपी आदि। आहिंसा के साथ असहयोग भी गाँधीवाद का एक सक्रिय रूप है, जिसने समय पर अपना वह कमाल दिखाया, जिससे अंग्रेजी शासन की जड़ हिल गयी। उसपर भी बोल चाल की भाषा में बहुत साहित्य प्रस्तुत हुआ था।

असहयोग की तरह चर्खा ने भी सुदर्शन चक्र का रूप धारण कर लिया था। जिसकी घरघराहट से मैनेचेस्टर और लंकाशायर की मिलें तलमला उठी थीं। सुनिए, एक कवि गाँधीवाद के शान्त, स्निग्ध और अहिंसात्मक प्रतीक झंडे और चर्खे के बारे में क्या कहता है—

ले कृपक सन्देश कर बलि बन्दना
ध्वज तिरंगे की करो सब अर्चना।
घूमता चरखा लिये गिरि पर चढ़ो
ले अहिंसा अस्त्र आगे ही बढ़ो।—माखनलाल चतु०

चर्खे का प्रचार यद्यपि अब कुछ शिथिल पड़ गया है, पर पहिले कौन सा ऐसा घर नहीं था जहाँ श्रद्धा और भक्ति से चर्खा न काता गया हो। देश की आर्थिक स्थिति सुधारने में चर्खा-प्रचार ने बड़ा बल दिया था। उस समय कवि ने निम्न पंक्तियाँ लिखी थीं—

खादी के धागे-धागे में
अपनेपन का अभिमान भरा,
माता का इसमें मान भरा
अन्यायी का अपमान भरा।—सोहनलाल द्विवेदी

महात्माजी का आत्मत्याग और बलिदान ही जीवन का ध्येय था, जिसका प्रभाव हिन्दी के कवियों पर भी पर्याप्त पड़ा। सुभद्राकुमारी सिनहा की एक कविता देखें—

न होने दूँगी अत्याचार,
चलो मैं हो जाऊँ बलिदान।
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान।

आगे फिर वह लिखती हैं—

वह चली तोप गल चले टैंक,
बन्दूकें पिघली जाती हैं।
सुनते ही मंत्र अहिंसा का,
अपने में आप समाती हैं।

कविवर पंत ने गाँधीवाद के सिद्धान्तों और विचारों को इन पंक्तियों में यों व्यक्त किया है—

पशुबल की कारा से जग को
दिखलायी आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष-घृणा से लड़ने को
सिखलायी दुर्जय प्रेम-युक्ति।
जड़ता-हिंसा-स्पर्धा में भर
चेतना-अहिंसा-नम्र-ओज
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज।

स्वर्गीय श्री हरिऔधजी ने तो अपनी एक कविता में गाँधीवाद की सारी मान्यताओं का ही वर्णन कर दिया है—

नाना कार्य विधायिनी, निपुणता नीतिज्ञता विज्ञता,
न्यारी जाति हितैषिता सबलता निर्भीकता दक्षता :

अलौकिक महान् पुरुष से नहीं की जा सकती। दो पंक्तियाँ इस महापुरुष के संबंध में सुनिये जो कैसी बेजोड़ हैं!

गातपे लँगोटी एक बोटी भर माँस लिये,
पैंतीस करोड़ भारतीयता की थाती है;
भारत के भाग्यभानु कर्मवीर गाँधी तेरे,
तीन हाथ गातमें हजार हाथ छाती है।

कविवर पंतजी ने तो उनके बारे में यहाँ तक लिख दिया—

अब तक तुम मानव थे केवल
अब युग के भगवान बन गये,
राष्ट्र-देवता वर दे दे तुम
आज स्वयं वरदान बन गये।

हिन्दी कलाकारों ने ऐसे महापुरुष के सिद्धान्तों के संबंध में जो कलम चलायी है, वह कम नहीं है और अब भी अनेक कृतियाँ प्रस्तुत हो रही हैं, जिससे गाँधीवाद की पुष्टि हो रही है।

भौतिकता के इस युग में जिसमें वासना, अविश्वास, अविनय, और हिंसात्मक क्रान्ति का ही सर्वत्र बोलबाला है, गाँधीवाद की साधना एक मौलिक और विशिष्ट महत्त्व रखती है।

अठारहवीं किरण

प्रगतिवाद

रूपरेखा

प्रगति का अर्थ आगे की ओर बढ़ना है। साहित्य में इसकी प्रवृत्ति आधुनिक नहीं कही जा सकती। कई कवियों का कहना यह है कि प्रगतिवाद कोई वाद नहीं, प्रगति तो स्वभावतः समयानुसार होती ही रहती है।

रीति काल के बाद हरिश्चन्द्र का समय आया। उस समय भी रीति का ही बोलबाला था; किन्तु उन्होंने कविता को एक नयी दिशा दी, एक नयी गति दी। उन्होंने 'भारत दुर्दशा' में जो कुछ लिखा, वह नया था। वर्णन में, विचार में, भाव में नयापन ही नयापन था। उस समय से कविता राष्ट्रीयता का रूप धारण करने लगी।

यह प्रगति रुकी नहीं इसके अनन्तर कविता ने एक नया रूप धारण किया जिसको इतिवृत्तात्मक कहते हैं। इससे भाव से भूखे कवियों को सन्तोष नहीं हुआ। इसका प्रतिकार हुआ छायावाद। छायावाद का कुछ समय तक बोलबाला रहा और उसके साथ रहस्यवाद भी लिपटा रहा।

इसके बाद कविता ने जन समाज के सुख-दुख को लेकर अपने को गतिशील बनाया। इसी समय प्रगतिवाद का नाम सुना जाने लगा। साहित्यिकों ने प्रगतिवाद कहना इसलिए शुरू किया कि उन्होंने जनता के अभाव-अभियोगों को वाणी दी; किन्तु जो प्रगतिवाद को प्रगतिवाद कहना नहीं चाहते, वे कहते हैं कि यह प्रगति तो साहित्य में परम्परा से चली आ रही है। उसी का यह प्रभाव है कि कविता ने अपना कलेवर इस प्रकार बदला। कविता की यह प्रगति तो स्वाभाविक ही थी। समयानुसार इसमें भी प्रगति आ सकती है और उसका रंग-रूप बदल जा सकता है। लेकिन प्रगतिवादियों का कहना है कि इसका एक सैद्धान्तिक रूप है और तदनुसार जो इसकी गति है उसी का नाम प्रगतिवाद है। उनके मत से प्रगतिवाद की परिभाषा यह है।—"प्रगतिवाद साहित्य की वह धारा है जो पूंजीवाद के अंतिम काल में उत्पन्न होती है, जो पूंजीवादी साहित्य और कला की सारी कामयावियों और सजीव परम्पराओं को ग्रहण कर, एक नये जनसाहित्य का निर्माण करती है। साहित्यिक विचार धारा के रूप में प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार विरोधजन्य गतिशील भौतिकवाद—वैज्ञानिक भौतिकवाद है।"

एक दूसरे कवि का कहना है कि जिस प्रकार सामाजवाद का अर्थ है मनुष्य के जीवन का सामाजिक या सामूहिक तरीका, वैसे ही प्रगतिवाद का अर्थ है साहित्य का समाजीकरण या साहित्य को केवल व्यक्ति के सुख-दुख, जन्म-मरण, आशा-आकांक्षा और उल्लास वेदना की अभिव्यक्ति का साधन न बनाकर समाज की पीड़ा, ग्लानि, उतार-चढ़ाव, हर्ष-उद्वेग, उमंग और कुतूहल सृजन को वाणी देना।

अभिप्राय यह कि पूँजीपतियों द्वारा जन[illegible] का शोषण

चालू है, प्रगतिवाद उसका विद्रोह करता है। जैसे—

लेके इक चंगेज के हाथों से खंजर तोड़ दूँ,
ताज पर उसके दमकता है जो पत्थर तोड़ दूँ।
कोई तोड़े या न तोड़े मैं ही बढ़कर तोड़ दूँ,
ऐ गमे दिल क्या करूँ या वहसते दिल क्या करूँ।

—मजाज

दूसरी बात यथार्थता का चित्रण। जैसे—

वे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे, मानों वे मोरी के कीड़े
वे निपट घिनौने महापतित बौने कुरूप टेढ़े-मेढ़े

जागृति की दुंदभी फूँकना। जैसे—

तुम्हें नहीं क्या ज्ञात तुम्हारे बल पर चलते हैं शासन?
तुम्हें नहीं क्या ज्ञात तुम्हारे धन पर निर्भर सिंहासन।

समाज के लिए न्याय की सतत् चेष्टा। जैसे—

फेंकता हूँ मैं तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुर! वीन के तार
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख
फूँकता हूँ भैरव हुँकार
नहीं जीते जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल
वेदना मधु का भी कर पान
आज उगलूँगा गरल कराल—पंत

आर्थिक विषमता का उन्मूलन। जैसे—

वे ही यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में दूध-दूध चिल्लाते हैं।—दिनकर

इन उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से यह सिद्ध होता है कि प्रगतिवाद में मार्क्सवाद का ही बोलबाला है। यदि मार्क्स के विचारों को प्रगतिवाद में न लिया जाय तो प्रगतिवाद कुछ रह ही नहीं जाता। इसमें मार्क्सवाद की ही तूती बोलती है। प्रगतिवाद में कला का लक्ष्य नयी प्राण-प्रतिष्ठा, नये टेकनीक, नूतन छन्द, नवीन भाषा, और नयी भावाभिव्यक्ति ही है। जहाँ इसका सच्चा स्वरूप मिले वहाँ प्रगतिवाद अपनी प्राण प्रतिष्ठा कर सकता है। प्रगतिशील

साहित्यकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मानवात्मा को अजेय, मानव हृदय को अक्षय, उत्साहपूर्ण और मानवमस्तिष्क को सतत् जागरूक, मंथनशील और संघर्षशील बनाने की चेष्टा करे। उसका एक सामाजिक कर्त्तव्य भी है। जैसे, वह मानव को क्रियाशील, उन्नत और आत्मविश्वासी बनाने को सचेष्ट रहता है, वैसे ही समाज के दुखदैन्यों, दुर्दशाओं के उन्मूलन में भी उसका वरदहस्त रहता है। सारांश यह कि प्रगतिवाद व्यक्ति और समष्टि रूप में मानव और समाज में क्रान्ति पैदा करता है और उनको सतत् समुन्नतशील बनाने का प्रयत्न करता है। उसके मुख्यवर्ग हैं सर्वहारा शोषित और निर्पीड़ित जनता, श्रमिक वर्ग आदि, जिनको लेकर वह अपने को प्रतिष्ठित करता है।

प्रगतिवाद का इतना सीमित क्षेत्र है कि उसपर लिखी गयी पंक्तियाँ एक दूसरे से टक्कर खा जाती हैं और बार-बार वही सर्वहारा वर्ग अनेक रंगरूपों में आता है पर नवीनता का उसमें अभाव-सा खलता है। बड़ा-बड़ा प्रतिभाशाली कवि एक बार किसान और श्रमिक पर कलम चला देता है तो दूसरी बार फिर कलम उसका चलाना पिष्टपेषण हो जाता है। नवीन कवि इन पर अपनी कविता में भले नूतनता लावे; किन्तु दुबारा वह भी उसपर कलम चलाने में शायद ही सफल हो। यह बात भुलाने की नहीं कि इतने संकुचित क्षेत्र में काम करना और यथार्थता ही यथार्थता लाना शुष्कता की पराकाष्ठा है। सर्वहारा दल की यथार्थता, नग्नता को ही लेकर कलम घिसघिस किया जाय तो वह सहृदयों को आकर्पित नहीं कर सकता। इसलिए आवश्यकता है कि किसान और श्रमिकवर्ग के आन्तरिक दुखदैन्यों का करुण, वीर आदि रसों से ओत-प्रोत करके उनका चित्रण किया जाय तो प्रगतिवाद की सार्थकता होगी। प्रगतिवाद के विरोधी इन्हीं सब बातों को छानबीन करके प्रगतिवाद को 'वाद' ही नहीं मानते।

प्रगतिवाद की यह रूपरेखा है। प्रगतिवाद पर जितना साहित्य तैयार हो चुका है उतना अन्य किसी 'वाद' पर नहीं लिखा गया। तत्त्वत: प्रगतिवाद साहित्य का एक वाद हो सकता है जब कि आजकल की कलमतोड़ कवियों से प्रगति की दुर्गति न करायी जाय।

कहना न होगा कि आजकल के तथा कथित प्रगतिवादी प्रगति के नामपर कविता की प्रगति कर रहे हैं।

प्रगतिवाद

सामान्य परिचय

हिंदी काव्य-क्षेत्र में भी प्रगतिशीलता का आंदोलन जोर पकड़ने लगा है। मूलतः इस आंदोलन में कोई सार-सत्य निहित नहीं। साहित्य का शाश्वत स्वरूप ही गतिशील है, प्रगतिशीलता साहित्य का सनातन धर्म है। साहित्य को देश-काल की सीमित परिधि में कभी बाँधकर नहीं देखा जा सकता। उसका स्रोत सनातन है, चिरकालीन है।

बाह्यतः मानव का वस्तुतः कोई मोल नहीं है, मानव मानव बना है अपनी आत्मा से, जो शाश्वत है, साहित्य आत्मा का प्रकाश है। अतः इसका भी स्वरूप शाश्वत है। युग बदलते रहते हैं, युग के अनुरूप मनुष्य के सामाजिक जीवन का स्वरूप और उसकी भावनायें जो नये साँचे में ढलती हैं; किन्तु शाश्वत आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। बाह्य परिवर्तनों के प्रभाव से वह सदा अछूती रहती है। जैसे,वर्षा,धूप, शीत,के विभिन्न प्रभावों से शारीरिक-स्वस्थता के बचाव के भिन्न-भिन्न उपाय करते हुए भी आत्मिक स्वरूप में कोई हेर-फेर नहीं होता, वैसे ही युग विशेप की समस्याओं से गुजरती हुई भी साहित्य की धारा अविच्छिन्न है। जैसे—

> तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त अस्थि—
> निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
> तुम धन्य! तुम्हारा निःस्व त्याग
> है विश्व भोग का वर साधन।
> इस भस्म काम तन की रज से
> जग पूर्ण काम नव जग जीवन
> बीनेगा सत्य अहिंसा के
> ताने बानों से मानव पन।—पंत

इन बाहरी परिवर्तनों का उसकी सनातनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक युग में साहित्य सृष्टि होती है, परन्तु उसका

उद्देश्य युग विशेष में ही समाप्त नहीं हो जाता। युग का होकर भी साहित्य युग-युग का है। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसी, कबीर, रवीन्द्र, होमर, दांते, मिल्टन आदि के काव्य इस बात के प्रमाण हैं। यही यथार्थ में साहित्य की प्रगतिशीलता है।

लेकिन आज जिस प्रगतिशीलता की माँग है, उसका दायरा बहुत ही छोटा है। ये प्रगति-पंथी साहित्य में मानव की मूल भावनाओं की कोई कीमत ही नहीं आँकते। इनकी दृष्टि में करुणा, प्रेम वेदना, आदि पर आश्रित मानव की मूल कृतियाँ, जो युग-युग से आदृत होती आ रही हैं, कौड़ी काम की नहीं। सुकुमार वेदना प्रेम की सूक्ष्म अनुभूति से सम्पन्न साहित्य की स्थायी कृतियाँ उनकी नजरों में केवल आत्म प्रवंचना है। मूलतः प्रगतिवाद से उनका मतलब वर्गवादी साहित्य है श्रेणी संघर्ष का साहित्य है, वास्तव में यह देशी रिकार्ड में विदेशी आवाज भरी गई है। जैसे—

साक्षी है इतिहास आज
होने को पुनः युगान्तर
श्रमिकों का शासन होगा
अब उत्पादन यन्त्रों पर—पंत

साहित्य को वर्गवाद के संकुचित दायरे में सर्वप्रथम फ्रांस की राज्य क्रांति के समय घसीटा गया था। सारे यूरोप में इस मनोवृत्ति की लोललपटें तीव्रता से फैल चुकी थीं ; किन्तु इसकी ज्वाला साहित्य-कला की आत्मा को जलानेवाली नहीं थी यूरोप की तत्कालीन साहित्यिक, उन्नति पर दृष्टिपात करने से आश्चर्य होता है। उस युग के साहित्य में जलते हुए उद्गारों के आवेग हैं, विद्रोह की भावना है। शोषितों और पीड़ितों का चित्रण है ; किन्तु साहित्य किसी वर्ग विशेष का नहीं बना दिया गया है। वह न साम्राज्यवादी है, न पूँजीवादी, न शोषकों का है, न शोषितों का। उसकी सीमा में सब समान हैं, सबके लिये वह समान है।

रूस में एक खास वर्ग के एकाधिपत्य की प्रतिष्ठा के लिए वर्तमान युग में लेनिन मार्क्स के साम्यवादी सिद्धांतों को काम में ले आये। सामयिक जन-जागृति की जो राजनीतिक जरूरत थी, किन्हीं अंशों में इस कार्य द्वारा उसकी पूर्ति हुई, यह बात कही जा सकती

है ; किंतु जानकारों से यह कहना फिजूल-सा होगा कि जब राजनीति स्थिर हुई, तो जनता वर्गवादी साहित्य से ऊबकर साहित्य के उस शाश्वत सुर के लिए तड़प उठी। एक बात यह भी विचारणीय है कि जिन शक्तिशाली साहित्यकारों की अमरकृतियों द्वारा रूस में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन साधित हुआ उनकी कृतियों में संकुचित मनोवृत्ति का लेश नहीं है। रूसी जन-जागरण के साहित्य नायक गोर्की को ही लीजिये, उनकी कृतियों में पीड़न है, पतितों और शोषितों के चित्र हैं, मगर उनके आभिजात्य का स्वर कहीं भी धीमा नहीं पड़ा।

जो सहृदयता से वंचित है, वह साहित्यकार नहीं हो सकता और जो सहृदय है वह युग के क्रंदन को वाणी देने से अपने को रोक नहीं सकता। इसलिये, यह सोचना ही गलत है कि साहित्य में युग नहीं बोलता यदि ऐसी बात नहीं होती तो दिनकर के मुँह से कभी ऐसा निकलता कि ··· ··· ···

समय ढूँढ़ की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये
आज खोजते उन्हें बुलाते वर्तमान के पल आये

यही तो पंत का भी कहना है—

ओ निष्ठुर परिवर्तन
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन
निखिल उत्थान पतन।

वास्तव में पीड़ित मानवता कि अवज्ञा कि नहीं जा सकती ; किंतु साहित्य में आँसू भी सुन्दर रूप में उपस्थित किये जाते हैं। सच तो यह है कि संसार के साथ मनुष्य के दो संबंध हैं, शरीर का, मन का, इसी के अनुसार मानव की मूल प्रवृत्तियाँ भी दो होती हैं—रागात्मक और इतिवृत्तात्मक। इतिवृत्तात्मक से संसार का व्यावहारिक ज्ञान होता है तथा रागात्मक से अलौकिक सृष्टि का। कला साहित्य सृजन में मनुष्य की रागात्मक प्रवृति ही काम करती है। कविता सत्य की संभावना बताने वाली कल्पना और कवि के व्यक्तित्व से अनुप्राणित होती है। कवि का व्यक्तित्व पारिपार्श्विक अवस्थाओं की अपेक्षा

करता है। इस तरह सब प्रकार से युग धर्म भी कवि कर्म में सम्मिलित है। तभी तो कवि कहता है।

नव गति नव लय ताल छन्द नव
नवल कंठ नव जलद मंद्र रव
नव बाग के नव विहग वृंद को
नव पर नव स्वर दे। —निराला

परन्तु युग धर्म और प्रगतिशीलता का यह उद्देश्य जो आजदिन जोर पकड़ रहा है एक नहीं है। अगर दोनों का मतलब एक ही होता तो आधुनिक हिंदी कविता के विरुद्ध ऐसी तीखी आवाज नहीं उठायी जाती। वर्तमान काल में भारत के या भारतवासियों के जो दुख-दर्द हैं,वे स्वभाविक रूप से कविता में स्थान पा रहे हैं। किसानों की भी बातें हैं, मजदूरों की भी। विलास-प्रियता की निंदा की जा रही है, सामाजिक कुसंस्कारों पर आघात पर आघात किये जा रहे हैं, मान-के उत्थान की अनुप्रेरणा कविता ओत-प्रोत है। जैसे—

कह दे माँ क्या देखूँ।
तुझमें उम्लान हँसी है
इसमें अजस्र आँसू जल,
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रंदन देखूँ।

उपर्युक्त पक्तियों में कवि ने पीड़ित मानवता के लिए ही संवेदन दिखाया है। यह प्रकृति और सताये हुये जीवन के वैषम्य का करुण चित्र ही तो है। क्या इसमें आज के जटिल युग के जर्जर जीवन के प्रति कोई ममत्व का भाव नहीं, उसके उत्थान के लिए कसक और अनुप्रेरणा नहीं होती ?

या 'निराला' जी की विधवा के लिए लिखी गयी पक्तियाँ—

'वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी'
वह दीप-शिखा-सी शांत भाव में लीन
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है।

इन पंक्तियों में क्या अंधे समाज के निर्मम अत्याचार के लिए दर्द नहीं। सभ्यता के इस विनाश-प्रहर में, जब जीवन एक दैवी अभिशाप दैन्य - दुख और विपन्नता में जल-जाल कर मर-जी रहा है, कवि सुखी जीवन का संदेश भी देता देता है। वह बागी का झंडा भी उठाता है, वह शांति का मंत्र भी पाठ करता है। वह इस विषमता के विष को समता के अमृत वारि से निस्तेज करना चाहता है, जग के इस विषम रूप का कारण वह जान गया है। कवि पंत कहता है—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित है अति सुख से
मानव जग में बँट जाये
दुख-सुख से औ सुख-दुख से"

फिर,

आशा और निराशा का है
उर क्रीड़ा कानन;
शान्ति और अशान्ति विकास ह्रास का
जग ही है आँगन।
सुख दुख आवर्तन
है अनन्त जीवन। —गो० श० सिंह

क्या ये कवितायें युग के पीछे हैं? इनसे क्या नवीन उज्ज्वल जीवन के सुखद स्वरूप की संभावना नहीं प्रकट होती? किंतु, आज जिस प्रगतिशीलता की पुकार है, वह कवि-धर्म को एक विशेष क्षेत्र में आबद्ध करना चाहती है। प्रगतिपंथी चाहते हैं कि केवल किसान और मजदूर पर ही कविता की जाय। जैसे,राजनीति में अलग-अलग गुटबंदियाँ हैं, ऐसे ही कविता को एक वर्ग विशेष के प्रचार का आधार बनाना ही उनका उद्देश्य है। यह हमारी अपनी अनैतिकता फल है। गतिशीलता साहित्य का धर्म है इस माने में कोई इस 'वाद' का विरोध नहीं कर सकता। किंतु जो प्रगतिवाद है, या जिसकी उपासना की वकालत की जा रही है, उसमें पार्थिव भूख और वासना के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। वर्तमान प्रगतिपंथियों ने वासनाओं के नग्न तांडव को ही साहित्य का उपादान माना है।

"यों भुज भर कर हिये लगाना
क्या है कोई पाप !
ललचाते अधरों का चुम्बन
क्यों है पाप कलाप" ?

प्रगतिवाद का अर्थ यह नहीं कि वह किसान मजदूर, वेश्या या ऐसे ही किसी खास वर्ग या व्यक्ति का फोटोग्राफ तैयार कर दे। किसी दूसरे दल के विरोध में नाग की तरह फन फैलाकर खड़ा होना भी प्रगति नहीं। इन स्थूल बातों पर ही साहित्य शक्ति नियोजित करना यथार्थ में प्रगतिवाद का ध्येय नहीं हो सकता। जीवन का दूसरा नाम गतिशीलता है। विनाश और विकास इन्हीं दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष में जीवन की गति है। नाश में हमारी हार है, विकास में जीत; किन्तु विनाश इतना प्रबल है कि हम उसे पराभूत नहीं कर सकते। जो साहित्य इन्हीं दो के संघष के बीच से जीवन को विकास की ओर उन्मुख, विकास की ओर अग्रसर करता है। प्रगतिशील साहित्य हम उसे ही कहेंगे। सम्पूर्ण मानवता को अखंड प्रेम और समता की भावनाओं से भरकर एक बनाना ही जीवित साहित्य है। जो केवल समस्या, वर्ग विशेष के आदर्श को ही वाणी देता है, वह साहित्य युग के साथ ही मर जाता है। आनेवाला युग लाश की तरह उसे दफना देता है। जैसे—

पीछे है पशुता का खडंहर
दानवता का सामने नगर
मानव का कृश कंकाल लिये
चरमर-चरमर चू चररमरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी —भ०च०वर्मा

हमारे यहाँ प्राचीन साहित्य में राम, रावण, कौरव, पांडव, विश्वा-वशिष्ठ आदि चरित्रों में सत्य और असत्य, विषमता और प्रेम दानवता और मानवता का द्वंद ही दिखाया गया है और सत्य और प्रेम के उज्ज्वल आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है। संसार के किसी भी देश के साहित्य में वही कृति आज तक अमर है, जो मानवीय प्रवृत्तियों के धरातल पर ऊँचा आदर्श लेकर प्रतिष्ठित हुई है। यही साहित्य की प्रगतिशीलता है।

जिस विदेशी अनुकरण पर हम आज प्रगतिशीलता की ऊँची उपासना करने लगे हैं, हमें उसके परिणाम का भी ध्यान होना चाहिये। जिस रूस ने कभी इस वाद के परिवर्तन द्वारा साहित्य के राजनीतिक हथियार बनाया, उसी रूस की जनता की रुचि का कंठ प्यास से सूख गया है। अब उन्हें रोमान्टिक साहित्य की प्यास बढ़ रही है। मार्क्सवाद ने साहित्य को शुष्क और नीरस कर दिया। उससे भावों के भूखे मन को भोजन नहीं मिलता। हमें भी यह बात न भूलनी चाहिये कि साहित्य को हम सिद्धान्त न बनायें।

अपने मूल अर्थ में साहित्य सदा गतिशील है और इसकी सीमा में शोषक, शोषित, पीड़क, पीड़ित किसी भी वर्ग के लिये प्रवेश निषेध नहीं। हमें केवल इसके वाह्य उपादान पर ही नहीं जाना चाहिये, नहीं तो हम देखेंगे कि जिसे हम रस्सी कहकर पकड़े हुए थे, वह साँप निकला। इस वाद में उलटी गति है इसमें हम आगे आने के बजाय पीछे छूट जायँगे। तब साहित्यिक जिम्मेदारी और इमानदारी तो यही है कि हम दुर्बल मानवता को नवीन बल देकर प्रतिष्ठित करें युग के जटिल अंधकार पर सुख और आशा की संभावना की नयी किरण फेंके। जैसे—

> *कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ-जिससे उथल-पुथल मच जाये।*
> एक हिलोर इधर से आये एक हिलोर उधर से आये।
> प्राणों के लाले पड़ जायें त्राहि,त्राहि रव नभ में छाये
> *नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाये।*
> बरसे आग जलद जल जायें भस्म सात भू धर हो जायें।
> पाप पुण्य सदसंभावों की धूल उठे दायें-बायें।
> *नभ का वक्षस्थल फूट जाये तारे टूक टूक हो जायें।*
> करके कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जायें —नवीन
> जागो फिर एक बार।

> ओ अरुणाचल में रवि, आई भारती रति कवि कंठों में।
> 'पल-पल में परिवर्तित होते रहे प्रकृति पट। —निराला

षष्ठ प्रसार

काव्यालोचन

पहली किरण

काव्य और बुद्धियोग

पंचभूतों—क्षिति, अप्, तेज, मरुत् और व्योमों की गुण-समष्टि से अन्तः करण की उत्पत्ति बतायी जाती है। किसीने उसकी चार—मन, बुद्धि, चित्र और अहङ्कार, और किसी ने दो—मन और बुद्धि वृत्तियाँ मानी हैं। मन संशयात्मक होता है; क्योंकि उसमें संकल्प-विकल्प होता है। बुद्धि निश्ययात्मक होती है। क्योंकि उसका कार्य विवेक करना है, निश्चय करना है। हृदय को मन का स्थान भी कहा जाता है।

बुद्धि मन की चेतन शक्ति है और मानसिक व्यापारों में इसकी प्रधानता मानी जाती है। बुद्धि से ही सब प्रकार के ऐन्द्रिय ज्ञान होते हैं। मनोभावों का भी बोध होता है। जब हमारा मन बुद्धि द्वारा किसी ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तब उसके बारे में सोच विचार करता है। यह विचार भाव के रूप में ही होता है। मानसिक क्रियाओं की भिन्नता के कारण भाव भी भिन्न-भिन्न होते हैं। काव्य के लिये यही आवश्यक है।

साहित्य-निर्माता अच्छी रचना केवल रचना के लिए निर्माण नहीं करता; बलिक उसका उद्देश्य होता है जीवन के तत्त्व को प्रस्फुटित करना, क्योंकि साहित्यिक रचना को चिरंजीवी बनाने के लिए आवश्यक है कि उसकी भित्ति विचारों पर प्रतिष्ठित की जाय। विचार बुद्धियोग के विना संभव नहीं। साहित्य का ध्येय यदि श्रोता वा द्रष्टा के मनोवेगों को तरंगित करना है तो स्रष्टा की दृष्टि सत्य पर स्थिर रहेगी ही। इससे उसका लक्ष्य जीवन का आदर्श प्रस्तुत करना होगा, जिसका सहायक बुद्धियोग होगा।

तथ्य (facts) नये होते हैं पर सत्य (Truth) नहीं। तथ्यों की उत्पत्ति में कल्पना सहायक होती है इससे उसका नवीन होना अस्वाभाविक नहीं ; पर सत्य तो सदा एक रस होता है और उससे हमारा चिर परिचय रहता है। कवि की रचना में इसी सत्य को हम पाते हैं और उसीमें जीवन के आदर्श की झाँकी भी होती है। इसी आदर्श के उपस्थित करने में बुद्धि का वैभव दिखलायी पड़ता है।

मन जब किसी ऐसे विषय की ओर झुकता है जो मर्यादा के विरुद्ध है तब बुद्धि कान ऐंठती है कि सावधान! भूल कर भी ऐसा न करना। परायी बहू-बेटियाँ को आँख फाड़ कर देखनेवाले उच्छृङ्खल नवयुवक से छेड़-छाड़ की जाती है तब वे कहते हैं कि यह तो हमारा सौन्दर्य-प्रेम है। इसके भीतर कोई दुर्भाव नहीं Beauty must be admered! पर बुद्धि इस विचार को प्रश्रय नहीं देती। वह कहती है कि यह तुम्हारा सौन्दर्य-प्रेम नहीं। इसमें वासना की बू भरी हुई है। साहित्य में सौन्दर्य चाहिये और यह सबसे बड़ी असुन्दर बात है।

यदि साहित्य में विचारों की श्रेष्ठता प्रतिपादित नहीं की गयी तो वह साहित्य निकृष्ट निरूपयुक्त तथा हानिकारक होता है। साहित्य की केवल रागात्मकता ही अपेक्षित नहीं, उसमें उत्तम बुद्धि-योग होना भी आवश्यक है। एक दो उदाहरण लें :—

हरीश विवाहित होते हुए भी शैल के रूप की अग्निलपटों में समा जाता है, उससे एक रात प्रस्ताव करता है—'देखो शैल, (उसके स्वर में कम्प था) मैं कुछ भी न करूँगा······मैं केवल जानना चाहता हूँ, स्त्री कितनी सुन्दर है? मैं स्त्री के आकर्षण को पूर्णरूप से देखना चाहता हूँ।'

रोमांचित होकर शैल ने पूछा—कैसे?

श्वास के वेग के कारण अटकते हुए हरीश ने कहा—'तुम्हें बिना कपड़े के देखना चाहता हूँ।'

हम जानते हैं कि इन विचारों को नवयुवक पसन्द करेंगे। यथार्थता की दुहाई देंगे; किन्तु समाज पर इसका जो परिणाम होगा उस पर ध्यान न देंगे। कवि और लेखक को यह न भूलना चाहिये कि उनकी कृति समाज की संस्कारक ही नहीं होती, बल्कि

का सार सुतरां रहस्यमय तथा वर्णनातीत है। यह केवल अपने परिणाम रूप में ही जानी जाती है।"

संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने कहा है कि 'कविता बड़ी दुर्लभ वस्तु है और शक्ति तो और भी दुर्लभ है[1]।' इस शक्ति को किसी-किसी ने प्रतिभा कहा[2] है, किसी-किसी ने कवित्व का बीज कहा है,[3] किसी-किसी ने काव्य घटना के अनुकूल शब्दार्थोपस्थिति कहा है, और किसी-किसी ने संस्कार विशेष कहा है। इस शक्ति में कल्पना भी छिपी है। इसीसे कहा जाता है कि कल्पना दैवी उत्पादन शक्ति की प्रतिमूर्त्ति है।

कवि के मन और दुनियाँ के बीच आँखों का माध्यम होता है। बाहरी संसार की जो छवि आँखों के लेंस से कवि के मन के प्लेट पर पड़ती है; अगर वही काव्य के रूप में पुनर्बार बाहर होती तो काव्य और फोटोग्राफ में अन्तर नहीं होता; लेकिन कवि का मन जो ग्रहण करता है उसमें से बहुत भाग को बाद देकर बहुत कुछ जोड़कर भाव रूप में विषय को पूर्ण बनाकर संसार को देता है, यही कवि कर्म कल्पना द्वारा साधित होता है। सर्व साधारण और कवि की दृष्टि में कल्पना की ही दूरी है। इसी से काव्य सृष्टि के सहायक उपादानों में कल्पना का स्थान सर्वोपरि है।

काव्य में कल्पना का योग एक निश्चित मापदण्ड के अनुसार ही होना चाहिये। काव्य कोरी कल्पना नहीं, उसमें जीवनमय स्पन्दन भी चाहिये। कोई यदि ऐसा सोचते हैं कि कवि को सृष्टि का प्रत्यक्ष जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं तो सचमुच भूल करते हैं। काव्य के रूप में जो भाव व्यक्त करने की प्रेरणा कवि के हृदय में प्रबल रूप धारण करती है उसको प्रत्यक्ष जीवन से संबंध होता है। कल्पना की एक विशेषता यह है कि वह कुछ ऐसे सत्यों का स्वरूप भी निरूपित करती है जो प्रत्यक्ष नहीं, अपितु संभावित है। कल्पना असत्य आधार पर नहीं होती। इसीलिये यथार्थ जगत् से भाव

---

१ कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा। —अग्निपुरान

२ प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति। —रुद्रट

३ शक्तिः कवित्वबीजरूपःसंस्कारविशेषःकश्चित् यां विना काव्यं न प्रसरेत्-प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्। —काव्यप्रकाश

जगत् का महत्त्व बढ़ जाता है। यथार्थ जगत् में जो प्रत्यक्ष है उतना ही सब कुछ है। पर कल्पना प्रसूत भाव जगत् में वह भी है जो हो सकता है। जिसके होने की संभावना है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक घटनाओं और वस्तुओं की वास्तविकता आदि के विषय में कवि की कल्पना पर कोई प्रतिबंध लगाना ठीक नहीं; क्योंकि कवि को वस्तुओं के सुन्दर तथा मनोरम बनाना पड़ता है। अतः कवि अपनी रचना के लिए स्वतन्त्र है।

"विलायती क्षेत्र में कल्पना-कल्पना की पुकार बहुत बढ़ जाने पर प्रकृति की सच्ची अभिव्यक्ति से विमुख करनेवाले कई प्रकार के प्रवाद प्रचलित हुए। कल्पना के विधायक व्यापार पर ही पूरा जोर देकर यह कहा जाने लगा कि उत्कृष्ट कविता वही है जिसमें कवि अपनी कल्पना का वैचित्र्य पूर्ण आरोप करके प्रकृति के रूपों और व्यापारों को कुछ और ही रमणीयता प्रदान करे या प्रकृति रूप योजना की कुछ भी परवा न करके अपनी अन्तर्वृत्ति से रूप चमत्कार निकाल-निकाल कर बाहर रखा करे। पहली बात के सम्बन्ध में हमें केवल यही कहना है कि कल्पना की यह कार्रवाई वहीं तक उचित और कवि कर्म के भीतर होगी जहाँ तक वह भाव प्रेरित होगी और उसके आच्छादन से प्रस्तुत दृश्य पर से हमारे भाव का लक्ष्य हटने न पावेगा। दूसरी के सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य यह है कि न तो सच्ची कल्पना तमाशा खड़ा करने के लिए है और न काव्य कोई अजायबघर है। कविता में कल्पना को हम साधन मानते हैं, साध्य नहीं।"[1]

जिस प्रकार कवि कल्पना से काव्यार्थ व्यक्त करता है उसी प्रकार पाठक भी कल्पना से ही उसे ग्रहण करता है। व्यक्तीकरण और ग्रहण करने की शक्ति समानरूप से कल्पना पर निर्भर करती है। कवि की जो अनुभूतियाँ प्रत्यक्ष जगत् के आधार पर बनती है उन्हें पाठक प्रत्यक्ष जगत् के आधार से ही ग्रहण भी करते हैं। इसीलिये भारतीय साहित्य शास्त्र में पाठक की सहृदयता को बड़ा महत्त्व दिया गया है सहृदय ही सामाजिक हो सकते हैं।

---

१ काव्य में रहस्यवाद

इंग्लैंड के एडिसन साहब भी, जिन्होंने कल्पना का खूब प्रचार किया और काव्यानन्द को कल्पनानन्द ही मान लिया, कल्पना के विधायक और ग्राहक के नाम से दो भेद करते हैं। एक का सम्बन्ध कवि से और दूसरे का पाठक से बताते हैं। उनके मत से प्राकृतिक पदार्थों को पूर्णता प्रदान करके कल्पना को तृप्त करना कवि कर्तव्य है। पर मुरेहरी साहब ऐसे भेद रुचि के ही किये हैं। एक कवि के कार्य में और दूसरी काव्य परखने में सहायक होती है। ये साहब कल्पना को ही नूतनता और विलक्षणता को उत्पादक मानते हैं जो काव्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

कवियों की कल्पना का अंत नहीं। कवियों ने कल्पना के बल ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है जो जन समाज के हृदय में घर किये हुए हैं और अनन्त काल तक किये रहेंगे। कवि कल्पना ने जागतिक वस्तुओं के विषय में जो जो भाव प्रकट किये हैं उनकी गणना हो नहीं सकती। अंत में कहना यह है कि कल्पना हीन कवि कवि कहलाने का अधिकारी नहीं।

तीसरी किरण

काव्य और कला

पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार अब हमारे यहाँ भी कविता कला के अन्तर्गत गिनी जाने लगी है। भारतीय दृष्टिकोण से काव्य और कला दो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। भारतीय काव्य-विवेचना के अनुसार काव्य विद्या है, कला उपविद्या। प्राचीन काल में यहाँ काव्यकार का परीक्षा-केन्द्र उज्जयिनी और शास्त्रकार का पाटलिपुत्र था। इससे हम स्पष्टतया इस निष्कर्ष पर आते हैं कि यहाँ काव्य में भावयोग की ही प्रधानता मानी जाती थी।

मूलतः काव्य के दो अंग होते हैं—हृदय का भाव, शरीर या शब्द, छंद, शैली। हृदय या प्राण का आधार शरीर है। अतः काव्य में शब्द, छंद आदि की आवश्यकता और महत्त्व है। छंद आदि का स्वरूप-निर्णय आदि विज्ञान अथवा शास्त्र का विषय है। संभवतः

इसीलिये कामसूत्र में चौसठ कलाओं के अन्तर्गत समस्यापूरण भी एक कला माना गया है। उस युग में समस्यापूर्त्ति का कोई व्यापक उद्देश्य नहीं था, वह सिर्फ कौतुक और वाद-विवाद के कौशल के लिए होती थी। समस्यापूरण में छन्द-शास्त्र के नियमों से विशेष काम लिया जाता था, इसलिये वह कला में गिना गया।

हमें यह मानना होगा कि भारतीय मीमांसा से काव्य में कलापक्ष है; किन्तु काव्य कला नहीं है। कला का वर्गीकरण यहाँ यहाँ भिन्न रूप से हुआ है। कला शब्द यहाँ साधारणतया दो अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, संगीत और शिल्प। और काव्य न तो संगीत के अन्तर्गत है न शिल्प के, इसलिये यह कला नहीं। भामह ने कला को भी काव्य का एक विषय माना है। उनके मतानुसार काव्य की विस्तृति के लिए कला संबंधी विषय भी उपयोगी हो सकते हैं। साहित्यालोचक ने नृत्य-गीत आदि कलाओं को कामाश्रय कलाओं में गिना है और कामशास्त्र तथा तंत्रों की तरह वे भी कलाओं की संख्या चौंसठ बताते हैं। अभिनव गुप्त ने भी नृत्य गीतादि को कलाओं की आख्या दी है। अतएव सब प्रकार से हम देखते हैं कि काव्य और कला सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं।

भारत में वर्तमान समय में यहाँ जो काव्य को कला के अन्तर्गत माना जाने लगा है यह संपूर्णतया पश्चिमी प्रभाव के कारण। ग्रीस की विचारधारा और सौंदर्य-तत्त्व की आलोचना से जर्मन दार्शनिक शैली का विकास हुआ और दार्शनिक हेगेल के वर्गीकरण के अनुसार संभवतः हम भी काव्य कला का समन्वय करने लगे। इस युग में देश-विदेश के भाव विनिमय की सुविधा है और फल स्वरूप सिद्धांतों में भी पारस्परिक प्रभाव विद्यमान है। वर्त्तमान काल की भारतीय विवेचन शैली पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित है और उसकी स्पष्ट प्रतिक्रिया व्यापक रूप में हमारे सामने है। विभिन्न आदर्शों के सम्मिश्रण से नवीन शैली का जो एक मिश्रित स्वरूप निर्मित हुआ है, वह भारतीय विवेचन शैली से एकदम अलग है।

पश्चिम के समीक्षकों ने कला के रूप में काव्य को मान लिया है। उनके मतानुसार कला के दो मुख्य भेद हैं, उपयोगी कला और ललित कला (Fine Arts)। जिस कला का उपयोग हमारे जीवन की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए होता है वह

उपयोगी कला या शिल्प है। इस कोटि की कला का मूल्य उसकी उपयोगिता है। उसके रूपरंग की विशेषता का महत्त्व नहीं होता; बल्कि उनकी व्यवहार क्षमता ही मुख्य विषय है। इस श्रेणी की कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, चमार आदि का शिल्प आता है। इसको अंग्रेजी में (Crafit) कहते हैं। जीवन में इनकी उपयोगिता का ही महत्त्व है, सौंदर्य का नहीं। लेकिन ललित कला में उपयोगिता की प्रधानता नहीं, वहाँ सौंदर्य और आनंद ही मुख्य वस्तु हैं। उपयोगी कला हमारी जीवन यात्रा को सुगम बनाती है या हमारी स्थूल आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है इस प्रकार ललित कला वैसी नहीं करती। वह हमारे जीवन की समस्याओं के उपयोग में नहीं आती। उपयोगिता वहाँ गौण रूप से रहती है। इसलिये इस कोटि की कला का संबंध स्थूल शरीर से नहीं मन से है। जैसा कि कहा गया है 'ललित कला मानसिक दृष्टि से सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण है।' ललित कला की साधना से हमारा जीवन अन्य दृष्टियों से सुगम चाहे नहीं होता हो, पर मानसिक तृप्ति के लिए वह अत्यंत आवश्यक है।

ललित कला के साधारणतया पाँच भेद हैं—वस्तुकला या भवन निर्माण कला, मूर्त्तिकला या भास्कर्य, चित्रकला, संगीत कला और काव्य कला। कोई-कोई अभिनय कला को इसी में गिनते हैं और इस तरह ललित कला के छः भेद हो जाते हैं। पाश्चात्य विचारकों के मत से उत्कृष्ट कला वही है, जिसका आधार सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति हो। जिस कला में सौंदर्यानुभूति उत्पन्न करने के लिए जितने ही स्थूल आधार का आश्रय लिया जाता है, वह कला उतनी ही निकृष्ट मानी जाती है। अतएव काव्य को कलाओं में सर्वोच्च स्थान मिलता है। सबसे निकृष्ट वास्तु कला होती है क्योंकि इसके आधार अत्यधिक स्थूल होते हैं। मूर्तिकला में आधार अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। चित्रकला मूर्ति कला से ऊँची है। इसलिये कि इसके मूर्त आधार में वास्तु कला या मूर्ति कला के आधार की तरह चौड़ाई और मोटाई दोनों नहीं होती, केवल चौड़ाई होती है। संगीत कला और कविता ये दोनों अमूर्त कलायें हैं। ग्रीस के दार्शनिक प्लेटो ने कविता को संगीत के अन्तर्गत माना है। यदि सच पूछा जाय तो संगीत ही सबसे अधिक अमूर्त है; क्योंकि वह नादात्मक या

ध्वन्यात्मक है; किन्तु कविता को लोग आमतौर से उससे उच्च कोटि की कला मानते हैं। अगर तर्क की शरण ली जाय तो काव्य को मूर्त भी माना जा सकता है। कविता के अमूर्त भाव वर्ण या शब्दों से रूप पाते हैं। मूर्त वही है जो चाक्षुष हो, प्रत्यक्ष हो। इस प्रकार काव्य कला वर्णमालाओं में प्रत्यक्ष है। वर्णमाला के इतिहास से हमें ज्ञात होगा कि लिपियों का आरंभ चित्रलिपि से होता है। इस तरह लिपि में चित्रकला के समान मोटाई रहित मूर्त आधार का अस्तित्व है। किन्तु काव्य को कलाओं में श्रेष्ठता देनेवाले इसका कारण और ही बताते हैं; कला दो तरह से हमें आनंद-दान देती है। नेत्र द्वारा और श्रवण द्वारा। वास्तु कला, मूर्तिकला या चित्रकला हमें नेत्र द्वारा आनंद देती हैं। संगीत शुद्ध रूप से सुनकर आनंद प्राप्त करने की कला है; किन्तु काव्य का आनंद दोनों प्रकार का है। उसे हम पढ़कर आनंद लाभ कर सकते हैं, सुनकर भी। संगीत की सुचारुता और प्रभावोत्पादकता के लिए संगीतज्ञ के गले का माधुर्य अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, साथ-साथ कुछ वाद्य यंत्र भी चाहिये; परंतु संगीत की इन आवश्यकताओं से कविता परे है। इसीलिये हमारे यहाँ आचार्यों ने काव्य के दो भेद किये हैं—श्रव्य और दृश्य। कविता में संगीत का संयोग सोने में सुहागे का काम देता है।

चौथी किरण

काव्य और सौन्दर्य

सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अंग है। पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने मानसिक दृष्टि से सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण को ही ललित कला माना है जिसमें एक काव्य भी है। इस प्रकार उनकी दृष्टि से सौंदर्य काव्य का उपकरण है। भारतीय काव्य दृष्टि से सौन्दर्य को इस रूप में अवश्य नहीं देखा जाता; किन्तु काव्य की सीमा में इसका स्थान अपरिहार्य है।

सौन्दर्य के विषय में लोगों को साधारणतया इसी युक्ति की शरण लेनी पड़ती है। सौन्दर्य क्या है? सौंदर्य वस्तु का वह विशेष गुण है जो आकर्षण और मनोमुग्धकारिता रखता हो अर्थात् जो भा जाय, जो मन को बरवश खींच ले वही सुन्दर है!

ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरे सी निकाई।

जनम-जनम हम रूप निहारिनु तबहूँ न तिरपत भेल।

कहा जाता है सौन्दर्य एक मानसिक अवस्था है; क्योंकि कोई एक ही वस्तु सबके लिए समान सुन्दर नहीं होती। किसी को कुछ अच्छा लगता है तो किसी को कुछ। सभी वस्तुओं के लिए सुन्दरता पर कोई निश्चित मापदंड नहीं। यों तो सुन्दरता और असुन्दता सापेक्षिक भावों के परिचायक हैं। देश विशेष या भिन्न-भिन्न सभ्यता और संस्कृति के अनुसार सौंदर्य का आदर्श भी भिन्न-भिन्न निश्चित है। जैसे कहीं भूरे और सुनहले बाल सौन्दर्य के अंग माने जाते हैं तो कहीं बड़ी-बड़ी आँखें और घने काले बाल। कहीं सौन्दर्य के लिये लोहे के जूते पहनाकर पाँव छोटे कर दिये जाते हैं, कहीं सुडौल पाँव को सुन्दर माना जाता है। इस प्रकार हम सौन्दर्य के विषय में व्यक्तिगत और रुचिगत वैचित्र पाते हैं। कुछ जंगली और असभ्य जातियाँ हैं जिनमें सुन्दरता की रुची अभी भी बहुत अविकसित है। रवि बाबू के शब्दों में "यह बात देखी जाती है कि बर्बर जाति जिसे सुन्दर समझ कर आदर देती है, उसे सभ्य जाति दूर कर देती है। इसका कारण यही है कि बर्बरों का मन जिस क्षेत्र में रहता है उस क्षेत्र में सभ्यों का मन नहीं रहता। भीतर और बाहर देश और काल में सभ्य जाति का जगत् ही बड़ा है और उसके अंग प्रत्यंगी ही अत्यंत विचित्र हैं। इसी से बर्बरों के संसार और सभ्यों के संसार में वस्तुओं का एक सा मूल्य नहीं आँका जा सकता।"

निःसंदेह सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या नहीं। रुचि में भी विभिन्नता स्पष्ट है; किन्तु सब कुछ होते हुए भी लोक रुचि में एक समानता है। उदाहरण है—एक पेड़ के कई फूल या एक वर्ग के कई मनुष्यों को ध्यान से देखने पर उनमें परस्पर भिन्नता अवश्य दिखायी देगी; किन्तु रूपरंग और जाति या गुण की एकता का भी उनमें अभाव नहीं होगा। इसी प्रकार इस स्थावर जंगमात्मक

विश्व की विविध विभूतियों—एक जातिय पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों, लता-गुल्मों में भिन्नता रहते भी एकता स्पष्ट लक्षित होती है। इस सत्य को हमें सब प्रकार से स्वीकार करना होगा कि सभी वर्ग और सभी श्रेणियों में एक स्पष्ट भिन्नता होते हुए भी उनमें एकता है।

ठीक यही बात मनुष्य के अन्तर्जगत के लिये है। भाव और विचार में एक मनुष्य दूसरे से भिन्न होते हुए भी बहुत कुछ समता रखता है। मनुष्य की जो मूल प्रवृतियाँ हैं वे ही इस समता के कारण हैं। प्रेम क्षमा, क्रोध, करुणा आदि स्वभाव का रूप सभी देश और सभी वर्ग के मनुष्यों में प्राय: एक-सा है। वाह्यत: या वस्तुगत उस का प्रकाश भिन्न हो सकता है। यही कारण है कि साहित्य देश और काल की परिधि से बाहर है। एक देश का सृष्ट साहित्य अनेक देशों में आदृत होता है, इसी एकता के कारण। साहित्य की सामग्री है सार्वभौम जीवन और धरातल है सर्व-सामान्य भूमि। इस धरातल पर आकर पाठक और स्रष्टा दोनों ही अपनी-अपनी सत्ता भूल जाते हैं। फलत: साहित्य में जो सुन्दर रूप आता है; उसमें रुचिगत विषमता नहीं होती; क्योंकि वह सर्वसामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। काव्य में व्यक्तिगत सौन्दर्योपभोग का कोई मूल्य नहीं। इसीसे रविबाबू का कहना है कि "केवल स्थूल दृष्टि ही नहीं चाहिये। उसके साथ यदि मनोदृष्टि का संयोग हो तो सौन्दर्य का विशेषरूप से साक्षात्कार हो सकता है। यह मनोदृष्टि विशेष शिक्षा से ही उपलब्ध हो सकती है। इस मन के भी कई स्तर हैं। बुद्धि-विचार से जितना हम देख सकते हैं उससे कहीं अधिक देख सकते हैं, यदि उसके साथ हृदय भाव को सम्मिलित कर लें। उसके साथ धर्मबुद्धि को मिला लें तो हमारी दूरदर्शिता अधिक बढ़ जायगी। यदि उसके साथ आध्यात्म-दृष्टि खुल जाय तो फिर दृष्टि-क्षेत्र की कोई सीमा ही नहीं रह जायगी।"

पाँचवीं किरण

काव्य का सौन्दर्य

शिगेल का कहना है—"सौंदर्य की सृष्टि करना एवं उसे आँख और कान के विषयीभूत कर देना ही काव्य का धर्म है"। किन्तु, सोचने की बात यह है कि यह सौंदर्य है क्या ? एक फूल भी सुन्दर है और मनुष्य-मुख भी। यद्यपि हम मुख की उपमा बहुत समय फूलों से देते हैं। परन्तु फूल से मुख के सौंदर्य की श्रेष्ठता में हमें आपत्ति नहीं होती। कहना नहीं होगा कि यह श्रेष्ठता हम मुख को इसलिये देते हैं कि इसमें चेतना की दीप्ति होती है। फूल अपने सीमित रूप में आवद्ध है। वह जो है वही है। मुख में वह सजीवता है जो समयानुकूल अपना रूप बदलता भी है। इसलिये काव्य का विषय वाह्य वस्तुगत सौंदर्य ही नहीं, अन्तर्जगत का भी सौंदर्य है। एक फ्रांसीसी समालोचक की राय है—"भीतरी सत्य की अभिव्यक्ति ही काव्य का सौन्दर्य है। बाहरी वस्तुयें केवल आभ्यंतरीण सत्य को रूप देने के आधार मात्र हैं।"

काव्य की परिभाषा रसमय वाक्य है। रसमय वाक्य मनोहारी है और मनोहारिता सौंदर्य का गुण है। मनोहारिता के लिए काव्य का सौंदर्य ही एक मात्र शरण स्थल है। साहित्य का लक्ष्य सत्य है। किन्तु साहित्य सत्य का सौंदर्य में, रूप में प्रत्यक्ष कर लेता है। सत्य की यथार्थ उपलब्धि ही आनंद है वही चरम सौंदर्य है।

रसानुभूति के लिए प्रत्यक्षता अनिवार्य है। बिना प्रत्यक्ष की सहायता से हृदय में रसानुभूति नहीं जागृत होती। जब हम परोक्ष से भी सहानुभूति लाभ करते हैं, तो भी उस परोक्ष को हम मन में प्रत्यक्ष कर लेते हैं। निराकार ईश्वर की उपासना के लिए भी हम उसके एक रूप को चिन्ता राज्य में साकार कर लेते हैं। क्योंकि इस प्रत्यक्षता के अभाव में चंचल चित्तवृत्तियाँ एकाग्र नहीं हो सकतीं। ऐसा कहा जाता है कि इसीलिये एकमात्र सत्य स्वरूप ने 'एकोहं बहुस्याम" अनेकों रूपों में अपनी सत्ता को प्रतिष्ठित किया। फलतः तत्त्व या सत्य को रस रूप बनाने के लिए उसे रूप देना एकान्त प्रयोजनीय हो जाता है। हमारे भावावेश का भी यही हाल है। वस्तु

के बाहरी प्रत्यक्षानुभूति से हममें रस का आवेश कदापि नहीं होता, होता है मानसिक प्रत्यक्षानुभूति से।

क्रोसे का सिद्धान्त है, यथार्थ वस्तु या काव्य की विषय-वस्तु में सौंदर्य नहीं होता। सौंदर्य उसकी अभिव्यंजना में उसके उक्ति वैचित्र्य में—प्रकट करने में होता है। लेकिन इसके विपरीत एक अन्य सिद्धान्त है कि सौंदर्य वास्तव में हृदय की संस्कार जन्म वृत्ति नहीं, वस्तु का ही धर्म है। सच्ची बात यह है कि संस्कार प्रभाव से हम जिन वस्तुओं को सुंदर या असुंदर समझते हैं, वही सब समय सुन्दर-असुन्दर नहीं होता। बहुत बार ऐसा होता है कि हम जिस वस्तु को सुन्दर मानते रहे हैं, वह असुंदर प्रतीत होती है और जिसे कुत्सित जानते रहे हैं उसमें भी अवर्णनीय सौंदर्य दिखाई देता है। काव्य-दृष्टि की विशेषता इसी संदिग्ध काल में काम आती है। काव्य यह दिखाता है कि पंक में जिस प्रकार पद्म खिलता है। उसी तरह कुत्सित में भी सौंदर्य है। पशु जैसा जीवन बिताने वाले मनुष्य के जीवन में भी कोई क्षण ऐसा आता है, जब वह देवत्व पर उन्नीत हो जाता है। काव्य इसी अनुपम सौंदर्य को अपनी सीमा में अमर कर देता है।

सौंदर्य और काव्य के सौंदर्य में आकाश-पाताल का अंतर है। जिस भिखमंगे को देख कर वीभत्सता भी लजाती है काव्य उसे भी अमर कर सकता है। काव्य की सीमा में पाप, क्रोध, कुरूपता, दुख, वेदना, आंसू, निराशा, सब सुंदर हैं; क्यों कि यह सौंदर्य वस्तुगत नहीं, भावगत होता है। जो लक्ष्मण भ्रातृ भक्ति के वशीभूत वन गमन करता है उसका त्याग भी सुन्दर है, जो कुरूप, जो दीन अपने मन के किसी एक कोने का रूप एक मुहुर्त्त के लिए चमका देता है, वह भी सुन्दर है और जो परशुराम पिता की आज्ञा से माँ को काट देता है, वह भी सुंदर है। काव्य का सौंदर्य स्थूल नहीं सूक्ष्म है। इसीलिये शोपेनहोर ने कहा है—"सौंदर्यानुभव से बढ़कर जीवन में और कुछ नहीं। सारा संसार दुखमय है। सौन्दर्य ही एक ऐसा है, जिसमें इच्छा पर, जो संसार का कारण है, हम विजय पा सकते हैं। अशान्ति और विग्रह का इसी में अंत हो जाता है।"

छठी किरण

काव्य और प्रकृति

सभ्यता के क्रमिक विकास के साथ ही मानव जीवन का संबंध प्रकृति से छूटता गया; किन्तु मानवी सृष्टि काव्य से प्रकृति का संबंध किसी न किसी रूपमें अविच्छिन्न बना रहा। ऐसे भी सिद्धान्त काव्य के क्षेत्र में आये कि प्रकृति जीवन की पृष्ठ-भूमि नहीं। यह आवाज़ फ्रांसीसी राजक्रांति के अनंतर उठी थी। पर काव्य प्राकृतिक वर्णन को बाद देना संभव न हो सका। क्योंकि प्रकृति और जीवन का संबंध घनिष्ठ है। प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन एवं काव्यपाठ से अनिवार्य रूपेण मनुष्य का हृदय उत्फुल्ल हो उठता है। इसलिये कि प्राकृतिक दृश्यों के प्रति प्रेम वासना होकोर उसके अन्तःकरण में निहित है।

अमरीकी कवि वाल्ट व्हिटमैन ने लिखा है—'अपनी खिड़की पर प्रातः कालीन शोभा मुझे ग्रन्थों के तत्त्व से अधिक संतोष देती है। वस्तुतः काव्यगत भावनाओं के विकास में प्रकृति का बहुत बड़ा हाथ है बहुत समय हम प्राकृतिक विषयों से जीवन के बहुत अंगों की उपमा देते हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि मुख्य की उपमा गौण से क्यों दी जाती है। जैसे फूल की तरह या चन्द्रमा की तरह मुख। यहाँ गौण द्वारा मुख्य वस्तु के सुंदर स्वरूप की प्रतिष्ठा से हमारा मतलब होता है। हमारी इस वृत्ति में प्रकृति-प्रेम का वही स्वाभाविक रूप है जो संस्कारजन्य वासना बन कर हृदय में है। प्रकृति से मनुष्य का युग-युग का संबंध है। अपने स्वतंत्र रूप आने के पहले मानव प्रकृति में अंतर्हित था और अपने रूप में आकर भी वह प्रकृति के घने संघर्ष में रहा है।

अनेक रूपोंमें प्राकृतिक पदार्थों से प्रत्यक्ष होता है। कहीं ये सुन्दर हैं तो कहीं भयंकर, कहीं विशाल तो कहीं विकराल, कहीं अनूप तो कहीं विरूप, कहीं बेडौल तो कहीं सुडौल। सारांश यह कि प्रकृति

के अनंत रूप हैं। इनमें जो समान भाव से रमता है वही सहृदय है। वही भावुक है।

सच्चा कवि वर्णनीय पदार्थों का अर्थ ग्रहण नहीं करता वह बिम्ब ग्रहण करता है। अरुणोदय को 'वह प्रातःकाल हो गया' इस प्रकार के अर्थ ग्रहण कर ही संतोष नहीं कर लेगा। वह कहेगा—

निराकार तम मानों सहसा
ज्योतिपुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धरकर नाम रूप नाना
सिहर उठे पुलकित हो द्रुमदल
सुप्त समीरण हुआ अधीर
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का सा दाना
खुले पलक फैली सुवर्ण छवि
खिली सुरभि, डोले मधुबाल
स्पन्दन, कम्पन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना —पंत

"उषा देवि, और दिन जब बालार्ककिरीटनी होकर तुषार घूँघट से ढकी हुई मेरी खिड़की पर आकर झाँक-झूक जाती थी, मेरे ललाट और लोचनों पर नव आशा नवजीवन के अमृत को छिड़कती थी, अहा! हिल्लोल, किस उल्लास से उठकर मैं तेरे शुभागमन को बधाई देता था। तू अपने अंचल से धीरे-धीरे हवा करती अपने कर कमल को मेरी आँखों पर रख देती थी। मैं खिड़की खोलकर किस चाव से गले मिलने के लिये आगे बढ़ता था। तू चमक कर सारी कोठरी में खिल उठती थी"— राधिकारमण प्रसाद सिंह

जब तक कोई पुंखानुपुंख रूप से किसी वस्तु की आकृति, प्रकृति परिस्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण में रम नहीं जाता तब तक वह विम्बग्रहण नहीं कर सकता। कवि को रागात्मक तत्त्व के आश्रय से हृदय को कोमल बनाकर सृष्टि के सत्तामात्र से एकता स्थापित करनी चाहिए।

नागरिक वैभव और सुख समृद्धि के चकाचौंध में पड़ जाने वाले कवियों द्वारा कुछ काल के लिए काव्य से प्राकृतिक दृश्यों का स्वतः

बहिष्कार हो गया। कारण की ज्यों-ज्यों मनुष्य जीवन के प्रति अनुरक्त होता गया, प्रकृति उससे दूर हटती गयी। प्राचीन संस्कृति के कवियों वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण आदि तक तो काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभाविक सौंदर्य और महत्ता बनी रही; किन्तु श्री हर्ष के समय में प्राकृतिक योजना में उस आत्मदृष्टि का ह्रास हो गया। अब भी काव्य में प्राकृतिक दृश्यों की योजना होती थी, लेकिन इस रूप में कि यह योजना परम्परागत थी। कवि की आत्मा से मानों उसका विशेष संबंध नहीं था। हिन्दी के कवियों में भी यही बात देखी गयी। राजाश्रय में पलने वाले कवि के चारों ओर नागरिक ऐश्वर्यों का साम्राज्य था। वैभव, सुख, और समृद्धि थी। अतः उनके रचे काव्य में प्राकृतिक सौंदर्य की निष्प्राणता परिलक्षित होती है। तुलसी आदि इने-गिने दो एक कवियों को छोड़ प्राकृतिक विभूतियों का सजीव वर्णन नहीं मिलता। सब के सब विलास के वर्णन में लग गये थे और उसी के अनुरुप प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग उद्दीपन के रूप में ही यदा-कदा करते रहे। नागरिक सभ्यता के मोहक आवरण में पाश्चात्य काव्य क्षेत्र में भी प्रकृति प्रेम का गला घुट रहा था। रानी एलजाबेथ के बाद वहाँ भी प्रकृति के मूक आमंत्रण की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ तथा प्रकृति की ओर लौटने का आंदोलन सा खड़ा हुआ। आज की हिन्दी कविता में भी 'चलो कवि वन फूलों की ओर' का शोर मच गया है।

चाहे संसारी हो चाहे वीतरागी, प्राकृतिक विभूतियों पर मुग्ध न होता हो, ऐसा आदमी नहीं देखा गया। काव्य में प्रकृति के आलंबन से मनः स्थिति रसमय हो जाती है। रीति ग्रन्थों के अनुसार प्राकृतिक दृश्य शृंगार के उद्दीपन मान लिये गये हैं; किन्तु इस प्रकार नियमों द्वारा विस्तृत को बाँधकर मनुष्य ने अपने आनन्द के अंश को ही छोटा कर लिया है। श्रीरामचन्द्र शुक्ल का कहना है—"बुद्धि की व्याप्ति के लिए मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार भावों की व्याप्ति के लिये भी। अब यदि आलस या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा तो उसका आनन्द पशुओं के आनन्द से विशाल किसी प्रकार नहीं कहा जा सकेगा।"

प्रस्तुत और अप्रस्तुत, काव्य में प्रकृति के यही दो रूप देखने में आते हैं। जहाँ प्राकृतिक छवि आलंबन के लिए प्रयुक्त होती है वहाँ भी उसीके दो रूप होते हैं। एक स्वत: भावोत्पादकरूप, दूसरा व्यक्ति या घटना के विकास के लिए पृष्ठभूमि की तरह प्रयुक्तरूप। जीवन की पृष्ठभूमि के रूप में साहित्य के लिए प्रकृति ही सबसे बड़ा आधार है। केवल काव्य ही नहीं कथा-साहित्य के लिये भी यह अनिवार्य है।

हिन्दी की नवीन काव्य-धारा में प्रकृति प्रयोग अब परम्परागत नियम का निर्वाह भर नहीं रहा, न काव्य में इने-गिने दो-चार पेड़-पौधे और दो-चार गिने-गिनाये पक्षी ही रहे। काव्य में प्रकृति भावना का सुन्दर रूप विकसित हो रहा है। अब कुछ कवियों ने प्रकृति में सजीवता देखी है। फलत: उनके अंकित चित्रों में कृत्रिमता जन्य निष्प्राणता नहीं। छायावादी कवियों ने जीवन के आरोप से आत्मानुभूति से अनुरंजित कर काव्य में प्रकृति को जीवन दिया है।

काव्य जगत् में प्राकृतिक पदार्थ हमारे परिवार वर्ग से हैं। प्रकृति में जीवन है, संगीत है, सौन्दर्य है। वह कविता को रसवती ही नहीं बना देती है, हमारे जीवन में भी जीवन भर देती है; सरसता का संचार कर देती है। पारिवारिक व्यक्ति के से प्राकृतिक पदार्थों के इस प्रेम दर्शन को प्रत्यक्ष करने के लिए कवि पंत की कुछ पंक्तियाँ पढ़िये—

ये नाप रहे निज घर का मग, कुछ श्रमजीवी डगमग डग,
भारी है जीवन भारी है पग !
आ गा-गा शत-शत सहृदय खग, संध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग,
औ गंध पवन मृदु मन्द व्यजन,
भर रहे नया इनमें जीवन
ढीली है जिनकी रग-रग।

सातवीं किरण

काव्य और जीवन तथा लोक जीवन

यद्यपि काव्य और जीवन में गहरा संबंध है तथापि दोनों में काफी अन्तर है। जीवन के स्पर्श के बिना काव्य निर्जीव है; किन्तु काव्य में केवल मानव जीवन का ही स्थान नहीं। मानव मन की वे अनन्त कामनायें भी होती हैं, जिन्हें जीवन के अन्त तक मानव पूरा नहीं कर पाता। इसी से काव्य में सम्पूर्णता होती है, जिस सम्पूर्णता की झाँकी संसार में अन्यत्र नहीं मिल सकती। काव्य जीवन से महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि जीवन में पूर्णता नहीं।

काव्य में जीवन का स्वरूप कैसा हो, इस विवेचन में सामयिक परिवर्त्तन होते रहे। युग-जीवन, जीवन का यथार्थरूप, सामयिक समस्याओं में उलझा हुआ जीवन, काव्य के आधार के लिए समय-समय पर मान्य होता रहा; परन्तु किसी भी काल में काव्यगत जीवन का यथार्थ से मेल नहीं रहा। सामयिक जीवन से साहित्य अपना सम्बन्ध विच्छेद तो नहीं कर सकता; किन्तु इस सम्बन्ध का महत्त्व कवि के लिए उतने ही अंश में है, जितने में कि वह उनके सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना में सहायक होता है। सामयिक जीवन में ही साहित्य को बाँध देना उसे पंगु कर देना है। जीवन और काव्य का जो स्वाभाविक संबंध है वह सब प्रकार से मंगलमय है, वह अपार विस्तृत और व्यापक है।

आज की एक आम शिकायत है कि काव्य जीवन से विच्छिन्न है। फलतः काव्य और जीवन के सम्बन्ध की दृढ़ प्रतिष्ठा के लिये जोरदार माँग हो रही है। काव्य में जीवन की प्रतिष्ठा की माँग सबसे पहले फ्राँसीसी राज्यक्रान्ति के अनन्तर हुई थी। और विक्टर ह्यूगो आदि कलाकारों ने इस सिद्धान्त को रूप देने की कोशिश भी की थी। अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ ने भी इस विचार-शैली का प्रतिपादन किया था; किन्तु उस समय काव्य में जीवन को जिस रूप में लाया गया, उसमें प्रकृति प्रेम और सरल जीवन की ही झाँकी थी। धीरे-धीरे रूसी समाजवाद के प्रभाव से साहित्य को क्रमशः राजनीति और राष्ट्रीयता की तरफ घसीटा गया।

आज भारत में भी विचार के रेकर्ड पर विदेशी भावना बोल रही है। लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिये कि काव्य को, साहित्य को राजनीति के प्रचार का साधन नहीं बनाना चाहिये। साहित्य की क्रियात्मकता, साहित्य का संसार किसी सीमित क्षेत्र में आबद्ध नहीं। साहित्य में जीवन का शाश्वत स्वरूप है। हम जिस युग में रहते हैं, जिस हवा में साँस लेते हैं, हमारे सृष्ट साहित्य में उसका प्रभाव तो अवश्य पड़ेगा ; किन्तु चूँकि वह सार्वभौम धरातल की वस्तु है, इस लिये वह देश, काल और जीवन की क्षुद्र परिधि से परे है। काव्य सभी देश सभी काल और एवं अनन्तजीवन का रूप-स्रष्टा है। हमारा वर्तमान ही सब कुछ नहीं, भूत और भविष्यत् की भी हमें स्मृतियाँ और कल्पना होती हैं। इन सब के समन्वय से साहित्य में यथार्थ जगत् से भिन्न एक पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति होती है।

जीवन और लोक जीवन दोनों की पृथक् सत्ता दीख पड़ती है, इससे हमें लोक जीवन को लक्ष्य में रखना आवश्यक है ; क्योंकि दोनों ही हमारे काव्य साहित्य के आलंबन हैं।

आलोचक मेथ्यू आर्नल्ड ने जब साहित्य की नयी परिभाषा दी कि 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' तो लोगों ने काव्य में लोक पक्ष को महत्त्व देना शुरू किया। यद्यपि तत्कालीन कला शास्त्री वाल्टर पेटर ने सौंदर्य पर ही अधिक जोर दिया, तथापि आर्नल्ड के समर्थक अनेक साहित्यकार तैयार हो गये, जिन्होंने इस सत्य को प्रयुक्त भी किया कि काव्य का प्रकृत जीवन से घनिष्ठ संबंध है। साहित्य के राज्य में किसी वर्ग विशेष की प्रधानता नहीं, उसे सामान्य जीवन से भी संबंध बनाये चलना पड़ता है। यूरोप में श्रेणी संघर्ष की समस्या ने साहित्य पर अपना प्रभूत आधिपत्य विस्तार किया। वहाँ इसके लिये साहित्य द्वारा नये-नये आंदोलन खड़े किये जाने लगे। फलतः यह सिद्धान्त-सा हो गया कि साहित्य

गद्य में तो यहाँ भी दीन-दुखियों का दुखड़ा एक अर्से से रोया जाता रहा है।' जीवन को, समाज से विताड़ित, तिरस्कृत और सताये हुए लोगों की समस्यायें प्रचारित होती रही हैं; किन्तु आज अब काव्य में भी इस भावना ने जोर पकड़ा है। यहाँ भी पश्चिमीय देशों की तरह साहित्य विशिष्ट वर्गों को लेकर चलने का उपक्रम कर रहा है जो अनुचित है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि साहित्य का जीवन से अविच्छिन्न संबंध है। अगर यह जीवन के कूलों को छोड़कर बहने लगे, तो इसमें वेग और गति रह ही नहीं सकती, अतः जीवन ही तो, चाहे वह विशिष्ट वर्ग का हो चाहे किसान और मजदूर वर्ग का, साहित्य का प्राण है। इसमें जीवन के दोनों पहलुओं—सत्-असत् उच्च-नीच, इच्छित अनिच्छित सभी का चित्रण होना चाहिये; किन्तु जब साहित्य पर यह बंधन डाल दिया जाता है कि वह मजदूरों के लिए ही हो, किसानों ही के लिए ही हो अथवा पीड़ित या शोषितों ही के लिए हो, तो साहित्य के साथ अविचार होता है। साहित्य स्रोत में युग और जीवन की हर लहर का स्थान है, उसके लक्ष्य को किसी विशेष वर्ग में बाँध देना कदापि उचित नहीं। साहित्य का विषय पूर्ण जीवन है, जीवन का खंड या वर्ग विशेष नहीं।

किसी भी देश का साहित्य किसी भी देश के लिए आनंदप्रद होता है। इसका एक कारण है कि उसकी स्थापना सर्वमान्य भूमि पर होती है। यों तो आचार-विचारगत विषमता सभी देशों में पायी जाती है; किन्तु चूँकि साहित्य में जीवन की बाहरी विशेषतायें ही प्रधान नहीं, प्रधान हैं भाव की विशेषतायें, जहाँ सभी देशों में एक ऐक्य है। जैसे कि बड़ों का समादर, महात्माओं की पूजा, नेताओं का सम्मान, देश भक्ति, स्वार्थ-त्याग आदि ये सब बातें सर्वत्र एक सी हैं।

साहित्य की सामग्री ऐसा ही सार्वभौम जीवन है। इसमें लोक की भिन्न-भिन्न विचार धारायें समान रूप से समादृत हो जाती हैं। साहित्य में लोक जीवन का ऐसा ही उदार प्रश्रय होना चाहिये।

आठवीं किरण

काव्य और लोक पक्ष

काव्य के लोकपक्ष में लोक-हित और सदाचार दोनों सम्मिलित हैं।

काव्य के तीन आवश्यक गुण हैं, सत्य, सुंदर और शिव। ये तीनों बातें उपनिषदों में उक्त हैं। जैसे "ज्योतिर्मय आवरण से सत्य का मुँह ढँका हुआ है। हे जगत् के पोषक! सत्य धर्म को प्रकट करने के लिए उस आवरण को हटाइये। हे जगत् के पोषक, हे मुख्य ज्ञान रूप, हे अर्यमन्, हे ज्योति स्वरूप, हे प्रजापति अपनी किरणों को समेटिये, अपने तेज को रोकिये जिसमें मैं आपकी कृपा से आपके अति कल्याणमय सुन्दर रूप को देख सकूँ।"[1] जैसा कि कीट्स ने भी लिखा है—"सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौंदर्य यही सब कुछ है जिसे हम पृथ्वी पर जानते हैं और यही मुझे जानना चाहिये।"[2] जानसन भी कहता है कि "सौंदर्य की वस्तु सदा आनंद दायक होती है।"[3] काव्य में इन तीन गुणों का आरोप सर्वप्रथम महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने किया। उसके अनंतर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनके अनुयायियों के प्रयोग से सभी समीक्षकों द्वारा तीनों गुणों का अभिन्नत्व मान्य हो गया। फिर हिन्दी में भी प्रवाद वाक्य के ऐसा यह सिद्धान्त प्रचलित हो गया।

सत्य और सौंदर्य ये दो गुण तो काव्य के पाश्चात्य समीक्षकों द्वारा शुरू से ही मान्य हैं; किन्तु काव्य का शिवत्व अभी विवाद-ग्रस्त विषय है। शिवत्व से तात्पर्य है लोक-कल्याण या लोक-हित। आधुनिक योरप और उसकी देखादेखी आज के कुछ भारतीय

---

१ हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु, सत्यधर्मायदृष्टये।
पूषन्नेकर्षेयमसूर्य प्राजापत्य व्यूहन् रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ने रूपं कल्याणतमं तत्र पश्यामि।

2 Beauty is truth, truth is beauty-that is all ye know on earth, and ye need to know. Keats

3 A thing of beauty is a joy for ever; guhnson

विद्वानों ने भी काव्य विवेचन से लोकहित को वहिष्कृत-सा कर दिया है। ऐसे लोग काव्य की सीमा में इस विषय की चर्चा को भी बुरा समझते हैं। किन्तु,कुछ मार्मिक प्रवृत्ति के लोग भी हैं, जो काव्य क लोकहित पक्ष को ही एक मात्र उद्देश्य मानते हैं, बाकी गुणों का मूल्य उनके आगे नहीं के बराबर है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर हमें पता चलता है कि यूरोप की आरंभिक काल की कला में सौंदर्य के विकास का क्षेत्र सीमित रहा, क्योंकि तब कला सामग्री न तो विशेष थी और न उन असभ्य मनुष्यों की भावना ही विशेष विकसित हो पायी थी। यूरोप के मध्यकाल को कला का स्वर्ण-युग कहा जाता है। इस काल की कला में सौंदर्य और स्वाभाविकता का सुन्दर निर्वाह हुआ है। उनसे मन में उदात्त भावनायें जगती हैं। यहाँ तक कि ईसाई लोग तत्कालीन मूर्तियों को धार्मिक दृष्टि से देखते हैं। यही हाल भारत की बौद्धकाल, तंत्रकाल एवं गुप्तकाल की कला मूर्तियों का है। उनमें धर्म, समाज और सदाचार की स्पष्ट छाप है। फलतः ऐतिहासिक दृष्टि से कला और सामाजिक आचार का कार्यकारण संबंध सिद्ध होता है।

मनोविश्लेषण के आचार्य फ्रायड ने यह सिद्ध किया कि सामाजिक बन्धनों से मनुष्य जिन इच्छाओं और भावनाओं को यथार्थ जीवन में रूप नहीं दे पाता, कला के मूल में उनकी ये ही भावनायें काम करती हैं। लेकिन, यह सिद्धान्त सर्वमान्य नहीं हो सका। क्योंकि सत्य निष्ठा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। सत्य की प्रेरणा अन्तःकरण की प्रवृत्ति है। मनुष्य दुराचारी भी हो, पर वह सत्य का मूल्य समझता है। सब को सत्य, सदाचार और सद्धर्म के प्रति अनुराग और इनके विपरीत गुणों से घृणा होती है। इसलिये मनुष्यों की पिपासा सत् प्रवृति से ही शांत हो सकती है। इस तरह काव्य जो मानव अन्तःकरण का सच्चा प्रतिबिम्ब है, लोक-हित को बाद नहीं दे सकता। उसमें स्वयं शिवत्व की प्रतिष्ठा होगी।

काव्य के लोक-पक्ष से किसी को इन्कार नहीं हो सकता। संसार के अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार धार्मिक और उच्च विचार के महापुरुष हो गये हैं। सच तो यह है कि काव्य या कला का अंतिम उद्देश्य आत्मा का परमात्मा में मिल जाना है। इस मिलन के बीच

रास्ते हैं—सत्य या ज्ञान का मार्ग, सौंदर्य या प्रेमभक्ति का मार्ग और शिव या लोकहित का मार्ग। ये तीनों ही श्रेष्ठ मार्ग हैं और काव्य ज्ञान उपासना और कल्याण का समन्वय है। लेकिन लोकहित का यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि काव्य में उपदेशों का पहाड़ खड़ा कर दिया जाय। लोकहित के साथ समुचित सत्य और सौन्दर्य के विकास का भी ध्यान रखना चाहिये। बिना सौन्दर्य और सत्य के काव्य में शिवत्व की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। केवल उपदेश से साहित्य आचार-शास्त्र बन जायगा। कम-से-कम जब से काव्य की गणना कला में होने लगी है तब से कलावादियों ने काव्य को विशुद्ध मनोरंजन का सामान माना है। वे कला का मूल उत्स आनंद मानते हैं जो प्रयोजनातीत है। जैसे, सुन्दर फूल देखने से हमें आनंद मिलता है; किन्तु यह आनंद प्रयोजन की सिद्धि का आनंद नहीं। इस तरह के आनंद से न कोई सांसारिक लाभ होता है और न किसी तरह जीवन के प्रति उपदेश मिलता है। यह लौकिक व्यवहार से सर्वथा दूर है।

इतना हम अवश्य मानते हैं कि काव्य नीति-शास्त्र नहीं; किन्तु सदाचार से उसका नित्य शाश्वत संबंध है। काव्य में वे प्रेरक शक्तियाँ विद्यमान हैं जो जीवन को अनायास उद्बुद्ध कर सकती हैं। काव्य की यह आचार-शक्ति सर्ववादि संमत है; किन्तु सावधानता और संयम की एकान्त आवश्यकता है। जब का कवि नीति और आदर्श को ही प्रधान मान लेता है और काव्य की अन्य आवश्यक दिशाओं को ध्यान में नहीं लाता तो सचमुच ही काव्य, काव्य नहीं रह जाता। उसे नीति ग्रन्थ कहा जा सकता है।

हमारे साहित्यकारों ने श्लीलता को ही प्रधानता दी है। अश्लील एक बड़ा भारी दोष माना गया है। रस जहाँ अनुचित रूप में प्रतीत होता है उसकी रस में गणना नहीं होती है। उसे रसाभास कहते हैं। जहाँ सदाचार विरुद्ध हुआ कि वहाँ अपने पद से गिरा। यदि ऐसी बात नहीं होती तो हमारे काव्य-ग्रंथों में आदर्श-चरित्रों का कभी चित्रण ही नहीं होता।

दुराचरण के रूप साधारणतया हमारे लिए कुरुचि के कारण होते हैं। जहाँ सुरुचि है वहाँ सदाचार है। जब कवि सत्य, सौन्दर्य और शिव तीनों का सम्मिलित चित्र उपस्थित करता है तो वह एक पूर्ण आदर्श को अनायास ही, अनजानते प्रतिष्ठित कर देता है, जो लोक के लिए कल्याणकारक हो जाता है और उससे सदाचार की सुरभि सर्वत्र फैल जाती है।

नवीं किरण

काव्य में अस्पष्टता

काव्य में अस्पष्टता के लिए दो परस्पर विरोधी मत प्रचलित हैं। कुछ लोग सरलता को ही काव्य का सौष्ठव मानते हैं। जैसा कि मिल्टन का कहना है—कविता सरल, ऐंद्रिय तथा भावपूर्ण होनी चाहिये। जो कविता प्रसाद गुण सम्पन्न नहीं होती उसे वे दोषपूर्ण मानते हैं। कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अस्पष्टता में माधुर्य का अनुभव करते हैं। कालरिज ने लिखा है कि 'कविता का पूरा-पूरा आस्वादन तभी मिलता है जब वह भली-भाँति समझ में न आ सके।' अवश्य इस अस्पष्टता से उनका आशय जटिलता का कदापि नहीं होगा। कविता उस कुलवधू के समान है जिसके उत्फुल्ल चन्द्रानन पर सामान्य घूँघट हो। पूर्णिमा की दूध-सी धोयी चाँदनी में पर्याप्त आनन्द है; किन्तु चन्द्रमा पर बादल का अगर झीना पर्दा पड़ जाता है, तो उसकी लुकाछिपी की वह श्री शोभा हमें अधिक मोहक, आकर्षक और चित्तोन्मादकारिणी लगती है। इसलिये जिस कविता की स्पष्टता कला के आकर्षक आवरण के रूप में होती है, वह लोकोपयोगी न होते हुए भी भावुकों के लिए महत्त्वपूर्ण होती है; किन्तु बाह्य आडम्बर की अधिकता में जिसका भाव पिस जाता है, वह कविता भाव-दुरूह नहीं होती, बल्कि नष्ट हो जाती है। फलतः अस्पष्टता दोष भी है, गुण भी।

वर्त्तमान काल में छायावाद आदि के प्रचार से कुछ लोगों ने

इसी बहाने कविता का दुरुपयोग भी किया है। जो कविता आत्मानुभूति और मर्मस्पर्शिता से भरी होती है, वह अस्पष्ट होते हुए भी हमारे हृदय को छू लेती है। अस्पष्टता की ढाल सामने रख कर जो लोग अनधिकार चेष्टा करते हैं, उनकी कविता गणित हो जाती है। यदि ऐसी बात न होती तो द्विवेदी जी को ऐसा लिखना न पड़ता कि "आजकल जो हिन्दी कवितायें निकलती हैं उन्हें मैं स्पृश्य समझ कर दूर से ही छोड़ देता हूँ। पहले कुछ पढ़ी पर चित्त में दुख हुआ। तब से उन्हें देखना ही बन्द कर दिया।"

उच्चकोटि की कविताओं में अस्पष्टता बहुत समय तो स्वाभाविक रूप से आ जाती है; क्योंकि साहित्य का काम मानव के अन्तर्निहित सत्य को भाषा के आधार से बाहर प्रतिष्ठित करना है। मानव-हृदय और मानव-चरित्र साहित्य का विषय है। प्रकृति और अज्ञेय मानव-चरित्र, मानव-हृदय में जो रूप और ध्वनि उत्पन्न करते है। साहित्य उसे ही चित्र और गीत में आकार देता है। जीवन, हृदय और प्रकृति के रहस्य अनन्त हैं, दुर्ज्ञेय हैं। मानव की अपूर्ण भाषा में यह क्षमता नहीं कि उन्हें बाँध सके। भाषा की शृँखला में भाषातीत की प्रतिष्ठा कठिन कार्य है। हमारे अन्तस्तल में अभी इतने भाव हैं कि भाषा उन्हें व्यक्त करने में अपनी अपूर्णता के कारण असमर्थ है। इसी अपूर्णता ने साहित्य को भी प्रकृति की तरह अनन्त और चिरकालीन बना दिया है। यदि यह संभव होता कि किसी एक युग में ही हम अन्तर्जगत् के सत्य को प्रकृति के रहस्य को रूप दे सकते तो साहित्य का स्रोत शांत हो जाता; किन्तु साहित्य सदा गतिशील है। अपनी अपूर्णता लिए वह प्रतिनियत जीवन ही की तरह पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहा है। जब तक सृष्टि रहेगी, साहित्य भी सृजित होता रहेगा।

चूँकि मानव जीवन और प्रकृति स्वयं चिर गूढ़ पहेली है, इसलिये उस पर प्रकाश डालनेवाली कविता भी बहुत समय दुर्बोध हो जाती है। प्रत्यक्ष जगत् हमारी आँखों के सामने होता है। उसे समझाने में हमें कठिनाई नहीं होती। यही सुगमता हम भावों के विषय में भी नहीं पा सकते। काला को काला सब कोई मान सकता है; किन्तु अच्छे को अच्छा बता देना आसान नहीं। भावों से बननेवाले मानस जगत् को अभिव्यक्त करने में इसके लिए

सावधान होना पड़ता है कि वह सुस्पष्ट हो उठे, इसीके लिए साहित्य को उपयुक्त शब्द अलंकार, इंगित आदि अनेक सामग्रियों की सहायता लेनी पड़ती है। यही कविता का कला-पक्ष या रचना कौशल है। रचना शक्ति की निपुणता भी काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। कविता की दुरूहता का एक यह भी कारण है। रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"...इन्हीं कड़े नियमों से परे विचित्र मानव चरित्र है। साहित्य इसी को अन्तर्लोक से बाहर ला कर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है, उसके अनेक अंश और अनेक तहें हैं, उसके बाहर-भीतर बे रोक-टोक गमनागमन करना सुगम नहीं। इसके अतिरिक्त उसकी लीला इतनी सूक्ष्म है इतनी अभावनीय है, इतनी आकस्मिक है कि उसे पूर्ण रूप से हृदयंगम करा देना असाधारण शक्ति का ही कार्य है। व्यास, बाल्मीकि, कालिदास आदि यही कार्य तो करते आये हैं।"

रवि बाबू के सम्बन्ध मे यह बात कही जाती है कि बहुत बार उनसे जब उनकी किसी कविता का अर्थ पूछा गया तो वे मौन हो गये और बताया उसका अर्थ वही है। टेनीसन से भी एक कविता का अर्थ पूछे जाने पर उत्तर दिया था कि 'जब मैंने यह कविता रची थी तो इसका मर्म जाननेवाला एक मैं था, दूसरा ईश्वर। दुर्भाग्य से मैं तो भूल गया, हो सकता है ईश्वर को याद हो!' जो कवि इन कविपुंगवों की इन उक्तियों की आड़ में अस्पष्ट कविता करते हैं, यह ठीक नहीं। इस सम्बन्ध में श्यामसुन्दर दास जी ने लिखा है कि "छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है और वे जहाँ कुछ गुनगुनाने लगे कि चट दो-चार पदों को जोड़ कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविताओं का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है। कविता लिखने के अनन्तर बेचारा कवि भी उसके अर्थ को भूल जाता है और उसके भाव तक को समझने में असमर्थ हो जाता है। पूज्य रवीन्द्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिन्दी में हो रहा है। इस कवि श्रेष्ठ की विद्याबुद्धि की समता करने में असमर्थ होते हुए भी कुछ ऐसी बातें कह जाना जिनका कोई अर्थ ही न समझ सके, ये कवि अपने कवित्व की पराकाष्ठा समझने लगते हैं।"

उपर्युक्त दोनों कवियों की बातें हैं तो एक व्यंग्य के रूप में; किन्तु

बहुत अंशों में कवि के साथ यह दीनता होती है। मन फिर चंचल है। प्राकृतिक प्रभाव परिवर्तनशील है। कब कौन-सी बात कवि की चित्त-वंशी में कौन सा सुर बजा जाती है, यह नहीं कहा जा सकता। भावावेश में कवि जिस अवस्था में होता है, उसके बाद उसकी वही अवस्था नहीं रहती। आदमी और जगत् के सच्चे संबंध की जानकारी वस्तुतः रहस्यमय अवस्था में ही हो सकती है; किन्तु यदि पाठक कवि की उस विशेष अवस्था के अनुकूल अपने चित्त को बनायें तो उनके लिए ऐसी गूढ़ कविता भी गूढ़ नहीं रहती। कवि के हृदय के साथ अपने हृदय को एक रस करने से हम काव्य के मर्म-स्थल तक पहुँच सकते हैं और बहुत समय कवि की अनुभूति जब तादात्म्य लाभ नहीं करती, तो अभिव्यक्ति की शृंखला टूट जाती है। भावों के साथ हृदय का योग न होना अथवा उपयुक्त शब्दों का चुनाव न कर पाना भी अस्पष्टता का एक कारण है।

काव्य की अस्पष्टता के अन्य अनेक कारण हैं जो कविता आत्मा की सूक्ष्म अनुभूतियों से ओत-प्रोत और सूक्ष्म कल्पना के योग से अनुप्राणित होती है, उसमें अस्पष्टता होती है; किन्तु चूँकि उसमें आत्मा का स्वर होता है, इसलिये वह हृदय पर चोट जरूर करती है। हमें उन कविताओं के मर्मस्थल तक जाने के लिए भावुकता की आवश्यकता है, जो रचना काल में कवि की थी। हाँ, उच्च कलात्मक कविता के लिए अस्पष्टता अपेक्षित है; किन्तु उस अस्पष्टता को को विशृंखल और निरर्थक प्रलाप नहीं होना चाहिये। ऐसी कविता को कुलवधू की तरह प्रसन्न, लज्जानत और प्रतिक्षण नवीनतामयी होना चाहिये। जो केवल आडम्बर और निरर्थक अलंकारों में गति-हीन है, जिसमें अनुभूति और स्पर्श शक्ति न हो, ऐसी स्पष्ट कविता को हम उच्छृंखलता ही कहेंगे।

दसवीं किरण

काव्य और संगीत

काव्य और वस्तु है, संगीत और ; किन्तु दोनों का पारस्परिक संबंध एकान्त घनिष्ठ है। बहुत अंशों में संगीत इस विषय में स्वतंत्र है कि वह वर्णों को सहायता के बिना भी आत्मप्रकाश करे। निःशब्द संगीत से भी भावनाजन्य आनंद की प्राप्ति हो सकती है। जैसे, गवैये लोग तिल्लाना गाते हुए अर्थ शून्य नाद ही करते हैं। यह और बात है कि ललित सार्थक शब्दों से संगीत की मधुरता और बढ़ जाय ; किन्तु, काव्य इस विषय में दीन है। क्योंकि संगीत के बिना उसका काम एक पल को भी नहीं चल सकता। काव्य की कल्पना और संगीत का राग दोनों अभिन्न हैं। जिस काम को भाव-जगत् में कल्पना करती है, उसी काम को शब्द-जगत् में राग करता है। इसीलिये एक अँग्रेज विद्वान् ने लिखा है, कविता शब्दों के रूप में संगीत है और संगीत स्वर रूप में कविता है।[1]

संगीत भावात्मक या ध्वन्यात्मक है और कविता वर्णात्मक। ध्वनि और भाव का संबंध ऐसा अविच्छेद्य है कि उसके बीच कोई सीमारेखा खड़ी ही नहीं की जा सकती। साधारणतया छान-बीन के अनंतर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पहले भावात्मक ध्वनि की रचना हुई, शब्दों का वर्णात्मक रूप बाद में आया। भावोद्रेक से पहले नाद की ही सृष्टि होती है, उसके बाद सार्थक शब्द आता है। अर्थ की रमणीयता का चमत्कार काव्य की विशेषता है; किन्तु ध्वनि की मार्मिकता तो उसके प्राण हैं। इसलिये, यह विवाद उठाना ही वृथा है कि संगीत श्रेष्ठ है या काव्य अथवा इन दोनों में से पहले किसकी सृष्टि हुई। मोटामोटी इतना कहा जा सकता है कि दोनों में बहुत बड़ी समता, बहुत बड़ा संबंध है। एक के बिना दूसरे के स्वरूप या अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। एक दूसरे के लिये समान उपकारक और उपयोगी है। दोनों में ध्वनि अपना प्रधान स्थान रखती है।

---

1 Poetry is music in words and music is poetry in Sound.

उपनिषदों के उत्क्रान्ति तत्त्व के अनुसार प्राणियों के पाँच भेद माने गये हैं। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आन्नदमय कोश। इसी मनोमय कोश की अवस्था में मनुष्य मनुष्य बनता है। यहाँ वह प्राकृतिक दासता की उन्ही आवश्यकताओं से पीड़ित नहीं होता, जिनसे कि पशु भी पीड़ित होते हैं। यहाँ ब्रह्म और उसके बीच में केवल मन का आवरण रह जाता है। यहाँ उसे शारीरिक स्वस्थता की ही चिन्ता नहीं होती, मानसिक भूख की निवृति की भी चेष्टा होती है। साहित्य और संगीत का जन्म इसी अवस्था से होता है और मनुष्य क्रम से विज्ञानमय कोश, आनंदमय कोश से पूर्ण ब्रह्म का, जो सत्, चित् और आनंद है, अनुभव करता है।

उपनिषदों में 'उद्गीथ' के ही सब रसों का मूल माना गया है। उद्गीथ से तात्पर्य उसका है, जो उच्च स्वर से गाया जाय। छांदोग्य उपनिषद् में दिखाया गया है कि सृष्टि में ओंकार ही एक मुख्य स्वर-गान है। सृष्टि के आदि में उस 'कवि' ने ओ-ओ-ओम् के ही काव्य-संगीत का गान किया, जिससे आज तक के सब काव्य-छंद उत्पन्न हुए। उस ब्रह्म को ही 'कवि' माना गया है। इस कवि शब्द को गायक के समानार्थक रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। कोई-कोई 'कवि' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'कु' धातु से बताते हैं, जिसका अर्थ 'गायन करना' होता है। इसीसे हमारे यहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि ईश्वरीय गान को सर्वप्रथम ऋषियों ने सुना और फिर उसे गाकर शिष्यों को सुनाया, फल-स्वरूप उसका नाम श्रुति पड़ा।

जो भी हो, भाषा के अंदर रूपातीत को प्रतिष्ठित करने के लिए काव्य में संगीत के समावेश की एकांत आवश्यकता है। काव्य का काम भाव को रमणीय बनाकर संचारित कर देना है। ऐसी अवस्था में काव्य जब असहाय हो जाता है, अर्थात् जब उसे अवस्था के सम्मुखीन होना पड़ता है कि बात किसी भी रूप से प्रकाशित नहीं की जाती तो उसे संगीत का आश्रय लेना ही पड़ता है। क्योंकि संगीत के बिना भाव को प्रसार पाने की शक्ति नहीं मिल सकती। संगीत भाव की गति है। अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए काव्य को छंद-अलंकार आदि नाना इंगित-आभासों का सहारा लेना पड़ता है।

इनमें चित्र और संगीत मुख्य हैं। संगीत काव्य का रस है, चित्र रूप। ध्वनि प्राण है, चित्र शरीर। इस तरह दृश्य द्वारा काव्य हमें चित्रकला की तरफ ले जाता है, छंद द्वारा संगीत के निकट।

कारलायल के अनुसार 'संगीतमय विचार ही कविता है। संगीत का तत्त्व, विचार, शब्द यानी उसकी सारी योजनायें संगीतमय होनी चाहिये। जो इसका मर्म समझता है, वास्तव में वही कवि है। मनुष्य का अंतस्तल, सारी सृष्टि ही संगीतमय है।' वास्तव में कविता की भाषा का प्राण राग है। राग का दूसरा नाम आकर्षण शक्ति है। कविता में राग के द्वारा ही वह शक्ति निहित है, जो हमें खींचकर शब्दों की आत्मा में लीन करती है। राग की गति अबाध और उन्मुक्त है। उसी में लयमान होकर कविता सांत और अनंत का संगम निर्माण करती है। कविता आत्मा का संगीत है, चराचर प्रकृति की साँस है। हमारे जीवन की परिपूर्णता, हमारे अंतजगत् का आकाश संगीतमय है। जब हमारा जीवन परिपूर्ण क्षण की छाया में साँस लेता है तो वह छंदों में ही प्रवाहित हो पड़ता है। छंद ही काव्य का संगीत है। काव्य में जो संयम ताल से आता है, वही संयम कविता में छंद से आता है। इस विराट् सृष्टि के अणु-परमाणु में संगीत है, विश्व-वीणा के तारों में झंकृत होने वाला प्रत्येक सुर हमारे हृदयाकाश में गुंजित होता है। इसलिये, कविता के रूप में प्रकट होनेवाला प्रत्येक शब्द इस विश्वव्यापी संगीत की झंकार है। संसार की प्रत्येक वस्तु ध्वनि का चित्र है। यहाँ की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का क्रम एक अनंत संगीत में ही होता है।

कविता इस विश्व-संगीत की लय है, उसकी मार्मिक प्रतिध्वनि है। संगीत के बिना कविता, कविता नहीं हो सकती। राजकवि अल्फ्रेड आस्टिन ने इसीलिये कहा है, 'कविता में अन्य गुण चाहे जितने हों लेकिन उसमें संगीत और अर्थ की सुन्दरता नहीं हो, तो वह कविता नहीं कही जा सकती।' काव्य का अंतिम ध्येय चिर-सत्य में आत्म-निलय है और उस चिर सत्य, सच्चिदानंद को 'नाद ब्रह्म' भी कहते हैं। उस आदि कवि की ध्वनि से ही छंद रूप वाणी का विकास हुआ है। फलतः कविता में संगीत अनिवार्य है।

किसी-किसी अंश में कवि संगीत की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। जो भाव हम ताल, लय, स्वर से यथार्थ रूप में व्यक्त नहीं कर सकते; उन्हें शब्दों की सहायता से स्पष्ट रूप से प्रकट कर सकते हैं। कवि के लिए रौद्र, वीर, भयानक आदि रस वैसे ही हैं जैसे शृंगार, करुण आदि। किन्तु पूर्वोक्त रसों को समर्थ बनाने के लिए संगीत असमर्थ है। तथापि काव्य को सुन्दर और मधुर बनाने के लिए संगीत का साहाय्य अत्यन्त आवश्यक है। इसका यह आशय नहीं कि कविता संगीत मात्र ही रह जाय और उसमें भाव का अभाव हो जाय।

ग्यारहवीं किरण

काव्य और विज्ञान

कोलरिज ने कहा है, 'काव्य का उलटा गद्य नहीं, विज्ञान है।' वास्तव में कवि और वैज्ञानिक दोनों ही युग के मानव प्रतिनिधि हैं, और दोनों का लक्ष्य विश्व-जीवन का समाधान है; किन्तु एक केवल युक्ति-तर्कों द्वारा सत्य का विश्लेषण करता है, और दूसरा भाव के राज्य में सत्य की प्रतिष्ठा करता है। काव्य और विज्ञान दोनों का एक ही ध्येय है, सत्य-निर्णय। किन्तु इस निर्णय में ही थोड़ा-सा अन्तर है। विज्ञान मात्र सत्य के स्वरूप का निर्णायक है। काव्य सत्य सुन्दर का प्रतिष्ठाता। वह सत्य को सुन्दर की कसौटी पर कसता है। फिर भी वैज्ञानिकों के मतों का उपयोग कवि अपने ढग पर करता है। यदि ऐसी बात न होती तो कालिदास "धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क मेघः; संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः" जैसी विज्ञान साहित्यमयी सूक्तियाँ कभी न लिख जाते। क्योंकि जगत् का विश्व-मानव का कल्याण उसका लक्ष्य है।

काव्य हृदय का चरम विकास है, विकास मस्तिष्क का परम उत्कर्ष। मानव-हृदय के दो पक्ष हैं, एक मानव-मन, दूसरा मानव-मस्तिष्क। मूलतः काव्य और विज्ञान की जड़ एक ही धरातल पर है, उसके फल-फूल भिन्न-भिन्न दिशाओं में लगते हैं। विज्ञान का

उत्कर्ष मरण को निकटतर कर सकता है; किन्तु काव्य के उत्कर्ष से जो अक्षय अमृत भंडार संचित होता है, वह मनुष्य को निरन्तर नव-नव जीवन से संजीवित करता है। विज्ञान में लोक-निर्माण की वह शक्ति, वह जादू नहीं, जो काव्य में है, गोकि विज्ञान का जो स्थूल सत्य वस्तु-जगत् का है, वही सत्य सूक्ष्म रूप से कवि के भाव-जगत् में है। वैज्ञानिक की दृष्टि विश्व में, प्रकृति में, निबद्ध है और कवि भी अखिल विश्व को प्यार करता है। वैज्ञानिक विश्व को अणु-अणु में विभाजित करके देखता है, विचार करता है और सृष्टि के सम्बन्ध में कानून बनाता है। कवि मूलतः स्रष्टा है, वह सौन्दर्य और रस की सृष्टि करता है।

विज्ञान मनुष्य की सारी क्रियाशीलता को यंत्रस्थ कर उसे मुक्ति देने का प्रयासी है। काव्य उसे विश्व की अक्षय प्राण-धारा में दुख-सुख की लहरियों में डूब कर उसे उपभोग करने को उत्सुक बनाता है। विज्ञान को यदि हम पुरुष कहें तो काव्य एक साथ ही प्रकृति और पुरुष है। इसीलिये परिश्रांत विज्ञान को अपने विरक्ति के क्षणों में जीवन-रस आहरण के लिए काव्य की शरण में आना पड़ता है। ऐसा कहा जाता है कि प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री अल्फ्रेड नोबुल भी श्रांत-क्लांत होकर काव्य पाठ में अपनी पीड़ा को भूलने का प्रयास करते थे। विज्ञान आदमी की नित नयी आवश्यकताओं की सृष्टि कर गुलामी से जीवन तो जर्जर कर देता है। आज की मानवता विज्ञान के दिये हुए दानों को ढोने से लाचार हो रही है। इसलिये संतप्त मानवता की शांति, पीड़ित जीवन के उत्थान के लिए काव्य ही एक मात्र संजीवनी है। पशु सभ्यता की जड़ता, अवसाद आदि काव्य द्वारा ही दूर होने पर जगत् नव-नव जीवनमय हो सकता है।

इसके समन्वय के सम्बन्ध में साहित्यालोचन में लिखा है—"वैज्ञानिक वर्तमान युग बताते हैं और कवि उनके भूत-भविष्य की आलोचना करते हैं। किन्तु वे तभी ऐसा कर सकते हैं जब सजग होकर जीवन की सभी दिशाओं का निरीक्षण करें। ऐसा करते हुए विज्ञान और उसके प्रभावों पर भी कवि की दृष्टि अवश्य जायगी। वह उसकी अवहेलना किसी प्रकार नहीं कर सकेगा। इससे विज्ञान और कविता का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने लिखा है—"शुद्ध भाव से एकमात्र अपने आनन्द के लिए ही लिखने को साहित्य नहीं कहते। कई लोग कविता लिखकर कहते हैं कि जैसे पक्षी अपने आनन्द के उल्लास में गाता है, उसी प्रकार लेखक की रचना का उच्छ्वास भी अपने लिये ही होता है—मानो पाठक उसे छुपकर सुना करते हैं। पक्षी के गान में पक्षी समाज के प्रति कुछ भी लक्ष्य नहीं होता, इस बात को जोर देकर नहीं कहा जा सकता। नहीं होता तो नहीं सही, उसको लेकर तर्क करना व्यर्थ है—किन्तु लेखक की रचना का प्रधान लक्ष्य पाठक समाज होता है।"

विचारने की बात है, हम कुछ लिखकर उसके व्यापक प्रचार अथवा लोगों में उसकी प्रतिष्ठा की इच्छा क्यों रखते हैं? अपने आनन्द के लिए पक्षी की तरह गा लेना ही क्या प्रयास नहीं? भवभूति ने तो यहाँ तक कह कर संतोष किया था,—'उत्पत्स्यते सपदि कोऽपि समानधर्मा, कालोह्य निरवधि विपुला च पृथ्वी।' संसार अनन्त है, काल अनन्त हैं, आज नहीं तो और कभी गुण-ग्राहक मिलेंगे ही। जहाँ पाठकों में अपनी आत्म-प्रतिष्ठा की कामना होती है, वहाँ पाठकों की रुचि का एक स्वाभाविक खयाल हमें हो जाता है। हो सकता है, वह हमारे सामने स्पष्ट न हो इस तरह काव्य में व्यक्ति का महत्त्व कम तो हर्गिज नहीं होता; किन्तु व्यक्ति की प्रचेष्टा जाति की ओर जाती है। अर्थात् कवि पाठक को व्यक्ति से जाति की ओर ले जाता है। इस जाति से हमारा तात्पर्य राष्ट्रीय भावना की ही संकीर्णता से नहीं। काव्य का उद्देश्य तो और भी महत् है। उसमें तो विश्व-मानव के कल्याण का सत्य निहित है। जर्मन महाकवि गेटे से लोगों ने शिकायत की थी कि उनकी कविता राजनीतिक विषयों से सर्वथा अलग है। इस पर उन्होंने बड़ा ही मार्मिक उत्तर दिया था कि "जर्मनी मुझे प्राणों से अधिक प्यारी है। मुझे प्रायः इस बात पर दुःख होता है कि व्यक्तिगत रूप से जर्मन लोग इतने उन्नत होते हुए भी समष्टि के विचार से इतने पीछे हैं। दूसरी जातियों से इनकी तुलना करने पर बड़ी वेदना होती है और इस वेदना के भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान में मैं इस व्यथा

से मुक्ति पाता हूँ क्योंकि इनका सम्बन्ध समग्र विश्व से है। इनके आगे राष्ट्रीयता की संकीर्ण सीमा तिरोहित हो जाती है।"

कई लोगों ने 'स्वांत: सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' के अनुसार रामायण की रचना को कवि के 'स्वांत: सुखाय' स्वमनोरंजन की सामग्री मान लिया है; किन्तु जिन्होंने रामायण को ध्यान से पढ़ा है, उनसे अविदित नहीं कि रामायण की रचना से तुलसीदास का उद्देश्य कितना महान् था। काव्य का बीज तो अंकुरित होता है कवि के अन्तस्तल में; किन्तु उसके फल-फूल पाठकों की दुनिया में लगते हैं। तुलसीदास ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है—

"तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं।
उपजहि अनत, अनत छवि लहही।"

शुद्धि-पत्र

प्रकाशन की शीघ्रता, असावधानता तथा मुद्रण दोष से अनेक अशुद्धियाँ हो गयी हैं। उनका शुद्धि-पत्र दिया जा रहा है।

रेफ और अनुस्वार तथा ब और व की अशुद्धियाँ प्रायः छोड़ी गयी हैं। अधिकतर अशुद्धियाँ टाइप और ऊपरी भाग के टूटने के कारण हुई हैं। वे सहज ही प्रतीत हो जायेंगी।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१०	स्वस्थकर	स्वास्थ्यकर
१६	१६	असमान्य	असामान्य
१६	१८	पदार्थ	अपदार्थ
२१	५	विवेचनों	विवेचकों
२५	१३	इस	(नहीं रहेगा)
२५	१४	आदर्श	इस आदर्श
२६	२६	एकान्त:	एकान्तत:
२७	३०	till	tell
३५	६	देना	देता
३५	२०	उद्बुध	उद्बुद्ध
३८	३८	tbe	the
४०	३०	विशेष	निर्विशेष
४३	२६	रविन्द्र	रवीन्द्र
४४	१६	हुए	हुए
४४	२३	उनके	उल्के
४५	१७	वैयकि	वैयक्तिक
४७	२३	की फूलों	के फूलों
४८	१६	प्रतीमा	प्रतिमा
५२	१३	मैं	में
५३	१	और	के
५५	१	प्रतीमा	प्रतिभा
५५	२१	स्वकित्वमेव	स्पर्द्धित्वमेव
५६	२८	sovnds	sounds
५६	१६	relenant	relevant
५७	३	मधुरकुमारी	मधुरकुमारि
५७	२६	सहितयो:	सहितयो: शब्दार्थयो: तत्र प्रयोगात्
,,	२७	रुयक	रूय्यक
५८	८	दोनों	दोनों की
,,	११	mannar	manner
५८	१३	व्याप्यातिव्याप्ति	व्याप्यति व्याप्ति
६०	११	यहि	यही
६१	२२	भावो	भावे
६२	१६	नवोवेष	नवोन्मेष
६३	२४	तिल	तिक्त
६३	३०	काव्यवेव	काव्यादेव
६४	१	तिलौषधि	तिक्तौषधि
६४	२८	दर्पन	दर्पण
,,	३१	शूरमादिनाम्	शूरमानिनाम्
,,	२६	ननिष्यति	भविष्यति
६६	१६	या	(नहीं रहेगा)
६६	२२	पुष्टि	तुष्टि
६८	६	तथा	(नहीं रहेगा)
७०	२६	सुधाभीता:	सुधाभीता
७०	३०	फल स्वादं	फलस्वादम्
७०	३०	अतिकम्य	अतिक्रम्य
७६	६	dubions	dubious
,,	११	Poert	Poet
८०	१२	अविच्छन	अविच्छिन्न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८०	२८	पंत (नहीं रहेगा)	
८२	१४	बिलती	मिलती
८२	२४	करुण	करुणा
८३	२८	निराला	वियोगी
८४	१३	हारी	हाड़ी
८६	२६	अलंकरा:	अलंकारा:
८७	२६	इति दोषौ	इतिदोषौ
८८	२१	विशेषकृतम	विशेषकृत
८८	२६	धे	बंधे
९०	२३	तस्यात्र	तस्मात्तत्र
९१	२१	गुणावत्वे	गुणत्रत्वे
९१	२८	वर्णन निपुण	वर्णना निपुण
९३	२३	काव्यात्म यो	काव्यात्मा यो
९६	१२	कोषोभयात्मक	कोषत्रयात्मक
१००	११	छल	बल
१०१	११	तत्कालिक	तात्कालिक
१०४	१७	है (नहीं रहेगा)	
१०४	२३	पुणाली	प्रणाली
१०५	१२	हो	ही
१०५	१५	शरद	शारद
१०९	३१	पौरस्य	पौरस्त्य
१११	६	बलवन्तर	बलवत्तर
१११	१४	अभाग्रस्त	अभावग्रस्त
११२	२४	स्वादतारभन्ते	
११६	२६	प्रतिमाकारणान्नस्य	प्रतिभाकारणस्तस्य
११६	३२	अमन्दश्चाभ्मयोग	अमन्दश्चाभियोग
११७	३१	तदस्ततदैरानिशं	तदस्ततन्द्रैरनिशं
,,	३१	श्रमश्रुयास्या	श्रमादुपास्या
११७	३१	कीर्तिभिप्सुभि:	कीर्तिमिप्सुभि:
११७	३२	कृतश्रुमा:	कृतश्रमा:
११९	३	बिन्दू	विन्दु
१२४	७	परिवर्त्त त	परिवर्त्तित
१२५	३	न (नहीं रहेगा)	
१२६	३२	मुस्करान	मुस्कान
१२७	१	सूर्यरश्मियां की रंगीनियों	सूर्यरश्मियों की रंगीनियाँ
१२७	६	इयता	इयत्ता
१२७	२१	प्रेमें मथपेड़े	प्रेम में थपेड़े
१२८	२६	और (नहीं रहेगा)	
१३४	२८	पंक्तियों	पंक्तियाँ
१३५	२३	चोटक	त्रोटक
१३६	११	ध्यनि	ध्वनि
१३७	२६	का (नहीं रहेगा)	
१४०	२६	प्रतिध्वनि	प्रतिध्वनित
१४२	३२	कवि का	कवि का मन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१५७	२०	स्पष्टत	स्पष्टत:
१६१	२२	द्वारा	द्वारा दो
१६७	२५	ब्रह्माणि	ब्रह्माग्नि
१६८	८	जाननेयाले	जाननेवाले
१६८	२०	अचिकिश्चाकि	अचिकित्वाश्चिकिं
१६८	२३	यान्यतश्र्यस्तगतं	यान्यपर्यस्तानि
१६९	२३	काव्यास्यात्मा	काव्यस्यात्मा
,,	२५	श्लोकात्	श्लोकान्
,,	२७	बा इन्	वा इन्
१७०	२५	त्चेत:	त्थेत:
,,	२६	eys	eyes
,,	,,	frenrzy	frenzy
१७१	२४	यथास्ते	यथास्मे
,,	,,	तथेयं	तयेदं
,,	२६	दर्शनम्	दर्शनात्
,,	३२	वर्णननचाथ	वर्णनचाथ
,,	२६	भट्टलोलट्ट	भट्टतोत
१७२	६	सुकुम	कुसुम
१७२	३०	अमिधेरस्य	अभिधेयस्य
१७३	१२	व्यकि	व्यक्त
१७३	२३	यथा	तथा
,,	,,	देहि	देही
,,	२८	Soddest	Saddest
,,	३०	path	hath
७३	३२	dreem	dream
१७४	१४	भयी	भयो
,,	२१	स्वतन्त्रता	स्वतंत्रता
१७६	२७	परिणाम	परिधान
१७७	१५	के	की
,,	३०	चलाकर	चलकर
१७९	१५	अरुणचल	अरुणाचल
,,	३०	घहने	बहने
१८०	५	समय प्रति- विधि	समय का प्रतिनिधि
१८१	२४	केधल	केवल
१८४	२	सुप्रकासित	सुप्रकाशित
,,	१०	दूखते	देखते
,,	३१	निकलता है	निकलते हैं
१८६	१६	मनोवृत्तियाँ	मनोवृत्तियों
१८७	१६	सूचि भेद्य	सूचीभेद्य
,,	२२	लगने की	लगने का
१८७	२७	निबन्धने	निबन्धेन
१८८	५	अरूण	अरुण
,,	२४	चन्द्रमा सदा	चन्द्रमा-का सदा
,,	२७	ओर	और
१८९	६	स्थापित	स्थापन
१९१	१६	दूसरों का दोष दिखलाना	(नहीं रहेगा)
१९१	१२	कविता-कविता से राजाओं का	
१९४	१९	सोहन तैसी	सोहत तैसी
१९५	२२	भारतेन्दु	भारतेन्दु ने
१९६	२३	निकली	निकाली
,,	३१	msker	maker
१९९	१५	कभी नहीं	(नहीं रहेगा)
२००	२१	तदास्वाद्दो	तदास्वादो
२०२	२६	वाक्मिधेय	वक्राभिधेय
२०३	२०	कविता	कविना
,,	२१	वागीशमोहिताम्	वागीशमहिताम्
,,	२४	शोभाकरन्	शोभाकरान्
,,	२५	ध्वनिवामे	ध्वनिनाम्
,,	२६	धर्माभिदित:	धर्मोभिहित:

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२७	प्राभृतौ	प्रभृतौ
,,	२८	ममृत	मतम्
२०३	६	सौन्दर्ा-धायक	सौन्दर्या-धायक
,,	१०-१६	पर कारक	पकारक
२०४	१७	वरणों	वर्णों
,,	२५	गुणाविशिष्ट	गुण-विशिष्ट
२०५	२३	उचितस्यत्र	उचितस्यात्र
,,	२६	कुरूतेऽधुना	कुरुतेऽधुना
२०६	२७	अनीचित्याद्दते	अनौचि-त्याद्दते
,,	२०	संकरात्	संकरान्
२०६	२	अतपातत:	आपातत:
,,	८	रसाङ्ग	रसभंग
२०७	६	सक्यौ	सूक्यौ
२०७	१८	विशे	विशेष
२०८	६	का	वा
२०८	२२	अनुमिति	अनुमितो
,,	,,	यात्रार्थो	यत्रार्थो
,,	२३	द्रुतश्चित्	कुतश्चित्
,,	२५	अतेभाव	अन्तेर्भावं
,,	२७	ध्वने	ध्वने:
,,	,,	व्यक्ता अनुमानैक	व्यक्तौ अनुमैक
२१०	२	मुक्तिवाद	भुक्तिवाद
२१०	१६	का	इसका
२१०	२४	शंकक	शंकुक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	,,	त्रिंशदन्नक्ष-णान्विता:	त्रिंशल्लक्ष-णान्विता:
,,	२६	ह्यमितया	ह्यभिनया
,,	३१	दर्शितस्यष्ट	दर्शितस्याष्ट
२१३	२८	माध्यन्ति	माद्यन्ति
,,	२६	रसमर्थ	रसमर्थें
,,	२६	निषिञ्चरि	निषिञ्चति
	३१	रसेनयुक्ताम्	रसैर्युक्ताम्
२१४	२३	रसास्थिति:	रसस्थिति:
,,	३०	कविवां	कविनां
,,	,,	कथामत्रयाम	कथामात्र-माश्रिता
,,	३१	रूपेन	रूपस्य
२१५	२५	ध्वनौतो	ध्वनौ
,,	,,	परम रस-णीयता	परम रम-णीयता
२१६	१०	स्मरणीय	रमणीय
२१६	१८	ध्यनि	ध्वनि
२.६	३०	यन्तत्	यत्तत्
,,	३१	ह्यर्थम्	तमर्थम्
,,	३२	सूरभि:	सूरिभि:
२.७	२८	निवेशिता	निवेशिना
२१८	१५	सुनकर	सुनकर क्रौंची
२१८	२७	शब्द क्रियो	शक्य क्रियो
२१६	१८	धरा	धर
२११	२०	का (नहीं रहेगा)	
२२१	२४	अतिशयोक्ति को	अतिशयोक्ति का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२७	१	विवक्षितार्थकवाचक	विवक्षितार्थकवाचक
२२७	२२	कोशलपूर्ण	कौशलपूर्ण
२२७	२५	वरूप	स्वरूप
२२८	३	वाह्यार्थनिरुपक	वाह्यार्थनिरूपक
२२६	१	मिलाने	मिटाने
२२६	५	शब्दार्थ के	शब्दार्थ का
२३३	२५	लत्तण	लक्षणा
२३४	२३	Unerrig	Unerring
,,	२४	Notural	Natural
२३५	१	स्वाहित्य	साहित्य
२३५	८	आमन्दमय	आनन्दमय
२३६	१६	ज्जोति	ज्योति
२३६	२१	प्रलोचन	प्रयोजन
२४१	६	कृत्तियों	वृत्तियाँ
२४१	८	वह पशु बन जाता है	(नहीं रहेगा)
२४१	११	झमड़े	झगड़े
२४६	१५	न	(नहीं रहेगा)
२४८	१३	अश्रुकरण	अश्रुकण
२४८	३०	मैहिं	तुम्हें
२५०	८	जन्ममृत्यु के	जन्ममृत्यु की
२५३	१८	दानता	दीनता
२५४	६	शन्य	शून्य
२५६	२	निराशादाद	निराशावाद
२५६	१३	इसलिए	इसलिए कवि
२६०	२	Expxess	Express
,,	३	Os	Of
२६५	२१	परि	परी
२६७	३०	अनुटापन	अनूठापन
२६७	३०	उसका	उसकी
२६६	१६	कलाप्रिनता	कलाप्रियता
२७१	५	स्वप्नलोक	स्वप्नलोक में
,,	२१	कुछ	कुछ-कुछ
,,	३०	भी है	भी प्रेमी है
२७४	१६	कुलों	कूलों
२७६	६	महता	महत्ता
२८०	२५	यही	यदि
२८०	१६	किंवदन्ति	किंवदन्ती
२८३	२०	भावोत्तेजना	भावोत्तेजन
,,	२६	सादस्य	सादृश्य
२८४	१४	कमी	कभी
२८५	३	सम्लन्ध	सम्बन्ध,
,,	१०	स्वर	विरह
,,	१४	सादर्श	आदर्श
,,	२१	है	हों
,,	२३	प्रतीको उद्भावन	प्रतीकोद्भावन
२८८	२४	अभिव्यञ्जनावाद	अभिव्यञ्जनावाद
२८६	३	आरोहन	आरोपन
,,	११	संचित्त	संचित
२६३	६	अन्तर्जगतरूप	अन्तर्जगत के रूप
,,	१५	विकृत	विवृत
,,	१६	समत्व	ममत्व
२६६	२८	यही यही	यही
२६७	५	वाना	बाना
,,	१२	रतना	इतना
,,	१३	जायँ	जायेँ
२६६	११	आहिंसा	अहिंसा